क ´ बक
और
मुक्ति की क्रिया

प्रथम संस्करण– १९८३
प्रतियाँ– १०००
मूल्य– २२)

लेखक व प्रकाशक–
चन्दनराज मेहता
६२, मेडतिया सिलावटों का बास,
जोधपुर-३४२००१

मुद्रक
गंगाराम प्रजापति
न्यू नारायण प्रिण्टर्स
घोडों का चौक, जोधपुर
27337

* अ *

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाण

णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाण

णमो लोए सव्वसाहूण

ऐसो पच णमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मगलाण च सव्वेसि, पढम हवइ मगल ।।

चत्तारि मगल, अरहता मगल, सिद्धा मगल ।
साहू मगल, केवली पण्णत्तो धम्मो मगल ।।

चत्तारि लोगुत्तमा अरहता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा ।
साहू लोगुत्तमा, केवली पण्णतो धम्मो लोगुत्तमो ।।

चत्तारि सरण पवज्जामि अरहते सरण पवज्जामि ।
सिद्धे सरण पवज्जामि, केवली पण्णत धम्म सरण पवज्जामि ।।

अर्हंतो भगवन्त इन्द्र महिता सिद्धाश्च सिद्धि स्थिता ।
आचार्या जिन शासनोन्नत्तिकरा पूज्या उपाध्यायिका ।।
श्री सिद्धान्त सुपाठिका मुनिवरा रत्नत्रयाराधिका ।
पञ्चैते परमेष्ठिन प्रतिदिन कुर्वन्तुनो मगलम् ।।
वीर पार्श्व नमि सुपार्श्व सुविधि, श्रेयास मल्लि शशि ।
नेमि नाभिज वासुपूज्य विमलो पदम प्रभु शीतल ।।
कुथु शान्त्यभिनदना अरमुनि धर्मोऽजिते सभवा- ।
नत श्री सुमतिश्च तीर्थंपतप कुर्वंतु मे मगलम् ।।

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहन्ते कित्तइस्स, चउव्वीसपि केवली ॥ १ ॥

उसभमजिय च वन्दे, सभवमभिनन्दरण च सुमइ च ।
पउमप्पह सुपास, जिरण च चन्दप्पह वन्दे ॥ २ ॥

सुविहिं च पुप्फदन्त, सीयल मिज्जमवासुपुज्ज च ।
विमल मरणत च जिरण, धम्म सन्ति च वन्दामि ॥ ३ ॥

कु थु अर च मल्लि, वन्दे मुरिणसुव्वय नमि-जिरण च ।
वन्दामि रिठ्ठनेमि, पास तह वद्धमारण च ॥ ४ ॥

एव मए अभिथुया, विहूयरयमला पहीरण जर मरणा ।
चउव्वीसपि जिरणवरा, तित्थयरा मे पसीयन्तु ॥ ५ ॥

कित्तिय-वन्दिय-महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्ग बोहिलाभ, समाहिवर मुत्तम दिन्तु ॥ ६ ॥

चन्देसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहिय पयासयरा ।
सागरवर गम्भीरा, सिद्धा सिद्धि मम दिसन्तु ॥ ७ ॥

अहो! अहो!! श्री सद्गुरु, करुणा सिन्धु अपार।
आ पामार पर प्रभु कर्यो, अहो! अहो!! उपकार॥

जे स्वरूप समझ्या विना, पाम्यो दुःख अनन्त।
समझाव्यो ते पद नमू, श्री सद्गुरु भगवन्त॥

परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुखधाम।
जेहने आप्यू भान निज, तेहने सदा प्रणाम॥

देह छता जेहनी दशा, वर्ते देहातीत।
ते ज्ञानीना चरण मा, हो वन्दन अगणीत॥

जिसने रागद्वेष–कामादि ओऽऽ, जीते सब जग जान लिया।
सब जीवो को मोक्ष मार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया॥

बुद्ध वीर जिन हरिहर ब्रह्माऽऽ या पैगम्बर हो अवतार।
सब के चरण कमल मे मेरा, वन्दन होवे बार-बार॥

स्व-क

भारतीय दर्शन का मुख्य रूप तत्त्व-दर्शन या मोक्ष दर्शन रहा है। धर्म का आधार है जीवन और दर्शन का आधार है साहित्य। शरीर, मन और चित्त-तीनो का परस्पर सम्बन्ध है। शरीर और मन पौद्गलिक है और चित्त अपौद्गलिक। फिर भी एक सूत्र मे बन्धे होने के कारण ये परस्पर एक दूसरे से प्रभावित होते रहते है। हर समझदार व्यक्ति अपना रूपान्तरण चाहता है, व्यक्तित्व को बदलना चाहता है। अच्छे व्यक्तित्व या अच्छे जीवन की पहली शर्त है आत्म-नियन्त्रण। टालस्टाय ने कहा– आत्म-नियन्त्रण की पहली शर्त है उपवास। हमे आत्म-नियन्त्रण उपवास से शुरू करना चाहिये। भगवान महावीर ने भी यही कहा "आत्म-नियन्त्रण का प्रारम्भ तपस्या से करो, अनशन से करो।" दोनो के कथन मे पूर्ण साम्य है। हमे स्वभाव को बदलना है, कषाय को कम करना है। स्वभाव बदला जा सकता है, कषाय कम हो सकता है। उसके कई मार्ग हो सकते हैं परन्तु एक मार्ग है 'प्रेक्षा ध्यान"। प्रेक्षा का मतलब है– केवल देखना, केवल जानना। "प्रेक्षा ध्यान" की विशिष्ट भूमिका मानव को सहज अन्तर्मुखी बनाने वाली है।

इतिहास कहता है कि जैन परम्परा मे ध्यान की कोई स्वतत्र शाखा नही रही, इसलिए उसके ध्यान–सूत्रो की अभ्यास–पद्धति विच्छिन्न हो गई। वि० स० २०३२ मे आचार्य श्री तुलसी के जयपुर चातुर्मास मे जैन परम्परागत ध्यान का अभ्यास-क्रम निश्चित हुआ। यही से "प्रेक्षा ध्यान" की अभ्यास विधि शुरू हुई। आचार्य श्री तुलसी के तत्वाधान मे अनेक शिविर लगे, जहा

सैकडो नर नारियो ने युवाचार्य महाप्रज्ञ द्वारा सम्पादित प्रशिक्षण से लाभ उठाया। उन प्रशिक्षार्थियो मे मे मैं भी एक था। मेरी इस ओर रुचि वढी और "ध्यान" के अभ्यास को चालू रखते हुए सम्वन्धित साहित्य अध्ययन करने हेतु अग्रसर हुआ। युवाचार्य महाप्रज्ञ ने एक जगह लिखा है कि 'प्रेक्षा ध्यान" एक प्रकार का आध्यात्मिक सोपान है जिस पर चलने के लिए निरन्तर अभ्यास को जरूरत है। "प्रेक्षा ध्यान" के निरन्तर अभ्यास के विना आध्यात्मिक विकास के सूक्ष्म रहस्यो को नही समझा जा सकता एव इन सूक्ष्म रहस्यो को समझे विना आध्यात्मिक चेतना के अ तरग पथ को नही पकडा जा सकता। "प्रेक्षा ध्यान" आत्मा को कर्मो से मुक्त करने का सही मार्ग है इसलिए कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन कर तत्त्व को गहराइयो मे जाकर इसके रहस्य को पकडना आवश्यक है ऐसा उन्होने सकेत दिया। इस कथन से मेरे विचारो को पुष्टि मिली और सम्वन्धित साहित्य का पठन कर उसे समझने का प्रयास किया और कुछ अ शो को लिपिबद्ध भी किया। यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मैने कोई मूल आगम शास्त्र या सूत्रो का अध्ययन नही किया है, केवल उन विद्वान व अनुभवी लेखको द्वारा लिखी गई पुस्तको व लेखो को पढा है जो शास्त्रो, आगमो व स्वय के अनुभव के आधार पर लिखे जाने के कारण प्रामाणिक है। विशिष्ट व्यक्तियो के अनुभव, उनकी सग्रहात्मक निधि साहित्य और उसका आधार भाषा– ये तीनो चीजे दुनिया के सामने तत्त्व रखा करती है। सूरज, वायु और आकाश की तरह ये तीनो चीजे सब के लिए समान हैं। यह एक ऐसी भूमिका है जहा पर साम्प्रदायिक, सामाजिक, जातीय व इसी प्रकार के दूसरे भेद मिट जाते है।

प्रस्तुत पुस्तक मे जैन सिद्धांत तत्त्व का विवेचन है, विद्वान

स्व-क

भारतीय दर्शन का मुख्य रूप तत्त्व-दर्शन या मोक्ष दर्शन रहा है। धर्म का आधार है जीवन और दर्शन का आधार है साहित्य। शरीर, मन और चित्त-तीनो का परस्पर सम्बन्ध है। शरीर और मन पौद्गलिक है और चित्त अपोद्गलिक। फिर भी एक सूत्र मे बन्धे होने के कारण ये परस्पर एक दूसरे से प्रभावित होते रहते है। हर समझदार व्यक्ति अपना रूपान्तरण चाहता है, व्यक्तित्व को बदलना चाहता है। अच्छे व्यक्तित्व या अच्छे जीवन की पहली शर्त है आत्म-नियन्त्रण। टालस्टाय ने कहा– आत्म–नियन्त्रण की पहली शर्त है उपवास। हमे आत्म-नियन्त्रण उपवास से शुरू करना चाहिये। भगवान महावीर ने भी यही कहा "आत्म-नियन्त्रण का प्रारम्भ तपस्या से करो, अनशन से करो।" दोनो के कथन मे पूर्ण साम्य है। हमे स्वभाव को बदलना है, कषाय को कम करना है। स्वभाव बदला जा सकता है, कषाय कम हो सकता है। उसके कई मार्ग हो सकते हैं परन्तु एक मार्ग है 'प्रेक्षा ध्यान"। प्रेक्षा का मतलब है– केवल देखना, केवल जानना। "प्रेक्षा ध्यान" की विशिष्ट भूमिका मानव को सहज अन्तर्मुखी बनाने वाली है।

इतिहास कहता है कि जैन परम्परा मे ध्यान की कोई स्वतत्र शाखा नही रही, इसलिए उसके ध्यान–सूत्रो की अभ्यास–पद्धति विच्छिन्न हो गई। वि० स० २०३२ मे आचार्य श्री तुलसी के जयपुर चातुर्मास मे जैन परम्परागत ध्यान का अभ्यास-क्रम निश्चित हुआ। यही से "प्रेक्षा ध्यान" की अभ्यास विधि शुरू हुई। आचार्य श्री तुलसी के तत्वाधान मे अनेक शिविर लगे, जहा

सैकडो नर नारियो ने युवाचार्य महाप्रज्ञ द्वारा सम्पादित प्रशिक्षण से लाभ उठाया। उन प्रशिक्षार्थियो मे मे मैं भी एक था। मेरी इस ओर रुचि बढी और "ध्यान" के अभ्यास को चालू रखते हुए सम्बन्धित साहित्य अध्ययन करने हेतु अग्रसर हुआ। युवाचार्य महाप्रज्ञ ने एक जगह लिखा है कि 'प्रेक्षा ध्यान" एक प्रकार का आध्यात्मिक सोपान है जिस पर चलने के लिए निरन्तर अभ्यास को जरूरत है। "प्रेक्षा ध्यान" के निरन्तर अभ्यास के बिना आध्यात्मिक विकास के सूक्ष्म रहस्यो को नही समभा जा सकता एव इन सूक्ष्म रहस्यो को समझे बिना आध्यात्मिक चेतना के अ तरग पथ को नही पकडा जा सकता। "प्रेक्षा ध्यान" आत्मा को कर्मों से मुक्त करने का सही मार्ग है इसलिए कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन कर तत्त्व की गहराइयो मे जाकर इसके रहस्य को पकडना आवश्यक है ऐसा उन्होने सकेत दिया। इस कथन से मेरे विचारो को पुष्टि मिली और सम्बन्धित साहित्य का पठन कर उसे समझने का प्रयास किया और कुछ अ शो को लिपिबद्ध भी किया। यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मैंने कोई मूल आगम, शास्त्र या सूत्रो का अध्ययन नही किया है, केवल उन विद्वान व अनुभवी लेखको द्वारा लिखी गई पुस्तको व लेखो को पढा है जो शास्त्रो, आगमो व स्वय के अनुभव के आधार पर लिखे जाने के कारण प्रामाणिक है। विशिष्ट व्यक्तियो के अनुभव, उनकी सग्रहात्मक निधि साहित्य और उसका आधार भाषा- ये तीनो चीजे दुनिया के सामने तत्त्व रखा करती है। सूरज, वायु और आकाश की तरह ये तीनो चीजे सब के लिए समान हैं। यह एक ऐसी भूमिका है जहा पर साम्प्रदायिक, सामाजिक, जातीय व इसी प्रकार के दूसरे भेद मिट जाते है।

प्रस्तुत पुस्तक मे जैन सिद्धात तत्त्व का विवेचन है, विद्वान

व अनुभवी लेखकों के आगमिक कथन भी है और निजी विचार भी है। यह भी एक सत्य है कि जहा धर्म का सैद्धान्तिक पक्ष समझाया जाता है वहाँ धर्म का व्यावहारिक पक्ष भी उजागर होता है। धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष की बात धर्म को व्यावहारिकता को पुष्ट करने के लिए कही जाती है। जैन धर्म अगर सिद्धान्त तक ही सीमित रह जाय तो ऐसा सैद्धातिक पक्ष हमारे काम का नही। शास्त्रों से प्रेरणा मिलती है, मार्ग दर्शन मिल सकता है और अधिक कुछ नही। लाभ व्यवहार से ही होता है। इसलिए धर्म का व्यावहारिक पक्ष कैसे निभाया जा सकता है इसको ध्यान मे रखना आवश्यक हैं। आचार्य श्री तुलसी द्वारा रचित एक गीतिका मे इस विचार की पुष्टि इस प्रकार की गई है —

शास्त्रो से आलोक पाए, हम न केवल गीत गाए।
पैठ कर गहरे समदर, आत्म-अनुसधान हो अब ॥
शोध होती आत्म—व्रत से, सबक ले पश्चिम जगत से।
भूलकर अस्तित्व अपना, हम स्वय भगवान हो अब ॥
साधना के उच्च शिखरो पर, विजय अभियान हो अब।
प्राप्त करने साधना को, ये प्राण भी बलिदान हो अब ॥

इसी तरह का कथन "विपश्यना" मे भी आया है — "व्यावहारिक पक्ष शील व सदाचार हैं। समाधि– मन को वश मे करना हैं, प्रज्ञा है– चित्त को राग विहीन बनाने का, निर्मल बनाने का। उसे मैत्री, करुणा आदि सद्‌गुणो से भरने का काम है। शील, समाधि और प्रज्ञा का मानव मे होना यही धर्म का सार है। "धर्म" का व्यावहारिक पहलू उजागर हो जाय इसलिये इन कथनो का उद्धरण किया गया है।

तेरापथ धर्म-सघ के विशिष्ट व कर्मठ श्रावक स्व० सम्पत मलजी साहब भण्डारी का प्रसग देना यहा मैं अत्यावश्यक समझता हूँ क्योकि वे अपने बाल्यकाल से ही मानवता मे, कर्त्तव्य-निष्ठ होने मे, ईमानदारी व प्रामाणिकता मे विश्वास करते थे और राज्य सेवा मे उच्च प्रशासनिक अधिकारी होते हुए भी उन्होने अपने सिद्धान्तो को निभाते हुए प्रामाणिक व धार्मिक जीवन जीया। राज्य सेवा से निवृत होकर उन्होने जैन श्वेताम्बर मानव शिक्षण सस्था, राणावास, तेरापथी सभा व श्री ओसवाल सिह सभा, जोधपुर के अध्यक्ष के रूप मे उसी कर्त्तव्यनिष्ठा व लगन से कार्य किया। उनकी प्रशस्ति व उनके गुणो का अकन करना मेरे लिए सम्भव नही है। जैन दशन का उन्हे ठोस अध्ययन था, साथ ही साथ अपने गुरु के प्रति उनकी गहरी आस्था एव श्रद्धा थी। श्री सम्पतमलजी साहब से युवा अवस्था मे ही मेरे पूज्य पिताजी स्व श्री भैरूराजजी साहब मेहता का सम्पर्क हुआ था और वह सम्पर्क तेरापथ सम्प्रदाय के साधु-साध्वियो के उनकी हवेली मे निरन्तर विराजने के कारण और भी प्रगाढ हो गया। परिणाम स्वरूप मेरे पिता श्री को इस वातावरण मे यथार्थ तत्त्व ज्ञान की जानकारी हुई और वे अपनी पूर्व परम्परा को छोडकर तेरापथ धर्म सघ के अनुयायी बन गये। जोधपुर मे तेरापथी सभा स्थापित करने मे उनका भारी योगदान रहा। मेरे पिताजी तो सन १९४२ मे अल्पायु मे ही दिवगत हो गये परन्तु उनके स्वर्ग-वास के बाद मेरा स्व० सम्पतमलजी साहब से सम्पर्क अधिक प्रबल होता गया और वही निकटतम सम्बन्ध उनसे शेष जीवन तक बना रहा। उनके सम्पर्क मे आने से मेरे स्व० पिताजी का तो आध्यात्मिकता की ओर रुचि जागृत हुई ही थी पर मेरी भी रुचि इस ओर बढती गई।

पुस्तक लिखने के प्रथम प्रयास मे मेरे भतीज श्री देवेन्द्र मेहता एव डा० ऋषभ भसाली और अपने जीवन के अन्त तक स्व० श्री जबरसिहजी सदावत का बहुत सहयोग रहा। मै इनका बहुत आभारी हू। पाडु लिपी को अन्तिम रूप देने, भाषा व तथ्य सम्बन्धी सुझाव देने व मुद्रण व प्रकाशन सम्बन्धी कार्यो मे निरन्तर सहयोग जो श्री राजेन्द्र मेहता ने दिया है, वह कर्त्तव्य-निष्ठा का एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। उनकी प्रशस्ति करना मेरे लिए उचित नही। इस पुस्तक के मुख्य पृष्ठ की डिजाइन का स्वरूप श्री सजीव मेहता ने दिया है, उनकी यह उपज सराहनीय हैं। पुस्तक मे जिन लेखो एव पुस्तको के विचारो का समावेश किया गया है उनके विद्वान लेखको और सम्बन्धित पत्रिकाओ के सम्पादको/प्रकाशको का भी मैं आभार व्यक्त करता हू।

इस प्रकार छप कर तैयार हुई यह पुस्तक स्व० श्री सम्पत-मलजी साहब भण्डारी की पुण्य स्मृति मे आज मैं परम श्रद्धेय आचार्य श्री तुलसी व युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ के चरण कमलो मे समर्पित करता हू।

इस पुस्तक मे किसी सुविज्ञ पाठक को यदि मुद्रण अथवा तथ्य सम्बन्धी कोई त्रुटि मिले तो मुझे क्षमा तो करेंगे ही परन्तु साथ ही साथ उन त्रुटियो से मुझे भी अवगत करायेंगे और भविष्य के लिए उपयुक्त सुझाव भी देगे ऐसी मैं आशा करता हू।

६३ सिलावटो का बास, सोजती गेट के अन्दर, जोधपुर (राज)

१५-८-८३

चन्दनराज मेहता

अभिमत

चाँदमल लोढा

भूतपूर्व मुख्य न्यायाधिपति राजस्थान हाईकोर्ट व गौहाटी हाईकोर्ट,

अध्यक्ष, ओसवाल सिंहसभा, जोधपुर

श्री चन्दनराजजी मेहता द्वारा प्रस्तुत जैन धर्म के सिद्धान्तो का यह विवेचन विश्वसनीय प्रमाणो पर आधारित है और अपने आप मे एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। "कर्म-बन्धन व मुक्ति की प्रक्रिया", पुस्तक मे पुद्गल की व्याख्या व गुण कर्म की चर्चा, आत्मा क्या है और उसकी वैभाविक क्रिया व बन्धन, मुक्ति, जैन दर्शन व कर्मवाद जैसे गूढ विषयो पर लेखक ने सरल भाषा मे प्रकाश डाला है। लेखक अपने दृष्टिकोण से चला है और परम्पराओ से उन्मुक्त होकर भी। यह एक सराहनीय व साहसिक कदम है। आशा है जैन व अजैन भाई इस पुस्तक का गहरे पैठ कर अध्ययन करेंगे।

चाँदमल लोढा

डा महावीरराज गेलडा
प्राचार्य, डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर

जीवन का लक्षण उपयोग है। उपयोग से वह जानता है, देखता है। लेकिन सासारिक जीव समस्त को नही जानता है और नही देखता है। जैन दर्शन के अनुसार जीव के साथ बन्धे हुए कर्म जीव के शुद्ध अस्तित्व ज्ञान, दर्शन और वीर्य के व्यवहार मे बाधा डालते है। कर्म पुद्गल है। जैन मत मे कर्मो की धारणा अन्य दर्शनो से बिल्कुल भिन्न है। कर्म द्वारा निर्मित कार्मण शरीर जीव को प्रभावित करता रहता है। इस प्रभावित जीव की अवस्था का नाम अध्यवसाय है। ये अध्यवसाय न तो शुभ होते है और न अशुभ, लेकिन कर्मो से प्रेरित होने के कारण औपचारिक रूप से शुभ-अशुभ कहे जाते है। शुभ-अशुभ की समस्त धारणा जीव और कर्म के परस्पर प्रभाव से उत्पन्न हुई है। जीव को कर्म से मुक्त करने वाले अध्यवसाय शुभ है और इन दोनो को प्रगाढ करने वाले अशुभ है। अध्यवसायो मे समय सापेक्ष जो परिवर्तन आता है उसे परिणाम कहा है। साख्य मत मे, प्रकृति मे साम्य तथा वैषम्य के बीच बनते-बिगडते सतुलन को परिणाम कहा है। कर्मो का विषद वर्णन जितना जैन साहित्य मे उपलब्ध है, अन्य दर्शनो मे नही है। विद्वानो द्वारा इसका गहरा अध्ययन होना आवश्यक है। स्व० डा० ए एन उपाध्ये को जब मूडविन्दी (दक्षिण भारत) के जैन भण्डार मे कुछ पाण्डुलिपिया मिली जिसमे विस्तार से कर्म-विवेचना थी तो उन्होने इसे भ्रम से लुप्त बारहवां आगम दृष्टिवाद मान लिया और अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी मे उस पर एक लेख का वाचन कर दिया। पाश्चात्य विद्वान डा आल्सडोर्फ ने इसका निराकरण करते हुए एक दूसरे लेख मे स्पष्ट किया कि डा उपाध्ये ने जैन श्वेताम्बर साहित्य मे वर्णित

कर्म विवेचना नही देखी है अत उन्हे उन पाण्डुलिपियो को दृष्टिवाद मान लेने का भ्रम हुआ है। वास्तव मे वह दृष्टिवाद का साहित्य नही था।

कर्म वर्गणाओ की तरगीय प्रकृति का अध्ययन आधुनिक वैज्ञानिको का आकर्षक विषय हो सकता है। आगमो मे वर्णन है कि कर्म अत्यन्त सूक्ष्म है और जीव के साथ तीव्र गति करे तो एक समय मे ही लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाते है। विचित्रता यह है कि ये ही वर्गणाऐ अगर धीमी गति करे तो एक आकाश प्रदेश से केवल दूसरे आकाश प्रदेश तक जाने मे भी एक समय ले लेती हैं। इससे आभास होता है कि ये सूक्ष्म कर्म पुद्गल, आकाश निरपेक्ष गति करते है। साख्य मत ने भी सत, रज, तम, इन तीन गुणो के वर्णन मे रज गुण को एनर्जी (Energy) कहा है और इस गुण का व्यवहार, जैन मत मे सूक्ष्म पुद्गल के प्राय समान ही है।

जैन दर्शन मे जहा कर्म बन्ध के कारण को आस्रव कहा है वहा सवर और निर्जरा के द्वारा कर्म–मुक्ति के उपाय भी बताये है। कर्मो के बन्ध-मुक्ति की प्रक्रिया मे लेश्या के रग प्रधान पुद्गलो की आवश्यकता को समझाया है। जर्मन विद्वानो ने यद्यपि लेश्या को आजीवको का विषय माना है लेकिन जैन साहित्य मे लेश्या पर जितना वर्णन हुआ है उतना आजीवक साहित्य मे नही है। अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या और योग का जो क्रमिक वर्णन, जैन परम्परा मे चर्चित है उतना आजीवक साहित्य मे नही है। आजीवक साहित्य मे तो प्राणियो के विभेद करते हुए उन्हे छ भागो मे बाटा है। उन्हे छ लेश्याओ से समझाया हैं। जैन दर्शन ने जीव-कर्म के विषय को बन्ध और मुक्ति

डा महावीरराज गेलडा
प्राचार्य, डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर

जीवन का लक्षण उपयोग है। उपयोग से वह जानता है, देखता है। लेकिन सासारिक जीव समस्त को नही जानता है और नही देखता है। जैन दर्शन के अनुसार जीव के साथ बन्धे हुए कर्म जीव के शुद्ध अस्तित्व ज्ञान दर्शन और वीर्य के व्यवहार मे बाधा डालते है। कर्म पुद्गल है। जैन मत मे कर्मो की धारणा अन्य दर्शनो से बिल्कुल भिन्न है। कर्म द्वारा निर्मित कार्मण शरीर जीव को प्रभावित करता रहता है। इस प्रभावित जीव की अवस्था का नाम अध्यवसाय है। ये अध्यवसाय न तो शुभ होते है और न अशुभ, लेकिन कर्मो से प्रेरित होने के कारण औपचारिक रूप से शुभ–अशुभ कहे जाते है। शुभ–अशुभ की समस्त धारणा जीव और कर्म के परस्पर प्रभाव से उत्पन्न हुई है। जीव को कर्म से मुक्त करने वाले अध्यवसाय शुभ है और इन दोनो को प्रगाढ करने वाले अशुभ है। अध्यवसायो मे समय सापेक्ष जो परिवर्तन आता है उसे परिणाम कहा है। साख्य मत मे, प्रकृति मे साम्य तथा वैषम्य के बीच बनते–बिगडते सतुलन को परिणाम कहा है। कर्मो का विषद वर्णन जितना जैन साहित्य मे उपलब्ध है, अन्य दर्शनो मे नही है। विद्वानो द्वारा इनका गहरा अध्ययन होना आवश्यक है। स्व० डा० ए एन उपाध्ये को जब मूडविन्दी (दक्षिण भारत) के जैन भण्डार मे कुछ पाण्डुलिपिया मिली जिसमे विस्तार से कर्म–विवेचना थी तो उन्होने इसे भ्रम से लुप्त बारहवां आगम दृष्टिवाद मान लिया और अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी मे उस पर एक लेख का वाचन कर दिया। पाश्चात्य विद्वान डा आल्सडोर्फ ने इसका निराकरण करते हुए एक दूसरे लेख मे स्पष्ट किया कि डा उपाध्ये ने जैन श्वेताम्बर साहित्य मे वर्णित

कर्म विवेचना नही देखी है अत उन्हे उन पाण्डुलिपियो को दृष्टिवाद मान लेने का भ्रम हुआ है। वास्तव मे वह दृष्टिवाद का साहित्य नही था।

कर्म वर्गणाओ की तरगीय प्रकृति का अध्ययन आधुनिक वैज्ञानिको का आकर्षक विषय हो सकता है। आगमो मे वर्णन है कि कर्म अत्यन्त सूक्ष्म है और जीव के साथ तीव्र गति करे तो एक समय मे ही लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाते हैं। विचित्रता यह है कि ये ही वर्गणाऐ अगर धीमी गति करे तो एक आकाश प्रदेश से केवल दूसरे आकाश प्रदेश तक जाने मे भी एक समय ले लेती है। इससे आभास होता है कि ये सूक्ष्म कर्म पुद्गल, आकाश निरपेक्ष गति करते है। साख्य मत ने भी सत रज, तम, इन तीन गुणो के वर्णन मे रज गुण को एनर्जी (Energy) कहा है और इस गुण का व्यवहार, जैन मत मे सूक्ष्म पुद्गल के प्राय समान ही है।

जैन दर्शन मे जहा कर्म बन्ध के कारण को आस्रव कहा है वहा सवर और निर्जरा के द्वारा कर्म–मुक्ति के उपाय भी बताये है। कर्मो के बन्ध-मुक्ति की प्रक्रिया मे लेश्या के रग प्रधान पुद्गलो की आवश्यकता को समझाया है। जर्मन विद्वानो ने यद्यपि लेश्या को आजीवको का विषय माना है लेकिन जैन साहित्य मे लेश्या पर जितना वर्णन हुआ है उतना आजीवक साहित्य मे नही है। अध्यवसाय, परिणाम, लेश्या और योग का जो क्रमिक वर्णन, जैन परम्परा मे चर्चित है उतना आजीवक साहित्य मे नही है। आजीवक साहित्य मे तो प्राणियो के विभेद करते हुए उन्हें छ भागो मे बाटा है। उन्हे छ लेश्याओ से समझाया है। जैन दर्शन ने जीव-कर्म के विषय को बन्ध और मुक्ति

के उपायो द्वारा निर्देशित कर इसे पूर्ण वैज्ञानिक बना दिया है।

श्री चन्दनराजजी मेहता ने जैन तत्व-चिन्तन के महत्त्वपूर्ण विषयो का इस पुस्तक मे विवेचन किया है। आत्मा कर्म पुनर्जन्म, पुण्य, पाप मोक्ष आदि नाम समाज मे बहुत प्रचलित है, हर साधारण व्यक्ति इन नामो को जानता है लेकिन इनकी वास्तविकता को बहुत कम जानते हैं। श्री मेहताजी ने अपने उज्ज्वल नैतिक जीवन के साथ साथ जैन तत्व पर चिन्तन मनन किया है, उसी का परिणाम है यह पुस्तक हमारे हाथो आई है। साधु सन्तो के प्रवचनो, विद्वानो के साहित्य मे जो मिला उसे सवार कर अपनी आस्था के साथ, यह श्रम किया है। सूत्रो की बाते कठिन होती है लेकिन इनको श्री मेहताजी ने सरल भाषा मे लिख कर इसे सरस बना दिया है। आशा है, जैन धर्मावलबियो के अतिरिक्त भी भारतीय धर्मो मे आस्था रखने वाले सभी पाठको को यह पुस्तक लाभान्वित करेगी।

महावीरराज गेलडा

डा अमृतलाल गांधी
(प्राध्यापक, जोधपुर विश्व विद्यालय)
मन्त्री, महावीर इन्टरनेशनल, जोधपुर

जैन दर्शन परमात्मावादी न होकर आत्मावादी है। वह सृष्टि के रचयिता के रूप मे ईश्वर जैसी किसी शक्ति को नही मानता। इसके अनुसार यह सृष्टि प्राकृतिक रूप से अनादि व अनन्त है। इसमे अनेको आत्माए कर्म-बन्धन के कारण परिभ्रमण करती रहती हैं परन्तु जो आत्मा अपने कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाती है, वह मोक्ष प्राप्ति कर स्वय परमात्मा बन जाती है। उत्तराध्यायन सूत्र की गाथा 20/37 मे लिखा है कि "अप्पा कत्ता विकत्ताय, दुहाण य सुहाण य। अप्पा मितममित्तम च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिय।।" अर्थात् अपनी स्वय की आत्मा ही सुख-दु ख लाने वाली है, उसके फल भोगने वाली है एव उनसे मुक्ति पाने वाली है। जब तक आत्मा पर शुभ–अशुभ कर्मो का आवरण है वह मनुष्य, पशु, देव और नारकी की चार गतियो की चौरासी लक्ष योनियो मे बार बार भ्रमण करती है, परन्तु सभी प्रकार के कर्म-बन्धनो से मुक्त होने पर आत्मा मोक्ष के अनन्त सुख को प्राप्त करती है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा पर लगे आठो प्रकार के कर्मो का क्षय हो जाना ही मोक्ष प्राप्ति है और 'सवर और निर्जरा' रूप मोक्ष के साधन हैं। 'सवर' का अर्थ है 'कर्म आने के द्वार रोकना' और 'निजरा' का अर्थ है 'पहले से आत्मा के साथ बन्धे हुए कर्मों का क्षय करना।'

परमात्मावादी विचारधारा की मान्यता है कि परमात्मा का भक्त बनने मे ही आत्मा की कृतार्थता है तथा वह अपनी विशुद्ध भक्ति द्वारा मोक्ष तक को प्राप्त कर सकती है। परन्तु जैन दर्शन के अनुसार मुक्ति किसी दूसरे के हाथ की वस्तु नही है

अपितु, किसी भी आत्मा की मुक्ति उसी के हाथ मे है। जीवन के इसचरम लक्ष्य को साधक अपनी ही साधना द्वारा चौदह गुण स्थानो मे आत्मा के क्रमिक विकास द्वारा प्राप्त कर सकता है। निम्न श्लोक मे यह बात भली भाति स्पष्ट हो जाती हैं —

"स्वय कर्म करोत्यात्मा, स्वय तत्फलमश्नुते ।
स्वय भ्रमति ससारे, स्वय तस्माद विमुच्यते ॥"

जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष का अर्थ है, "समस्त कर्मो से मुक्ति" अर्थात् इसमे अच्छे और बुरे दोनो प्रकार के कर्म आते है क्योकि हथकडिया चाहे सोने की हो या लोहे को, दोनो ही मनुष्य को बन्धन युक्त रखती है। उसी प्रकार जीव को उसके शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के कर्म बन्धन मे रखते है।

जैन दर्शन के अनुसार जोव एक द्रव्य है और द्रव्य लोक के अग्रभाग मे स्वत पहुँच जाता है। दीपक की लौ का स्वभाव ऊपर जाना है, वैसे ही आत्मा का स्वभाव भी ऊपर जाना है। कर्म के कारण उसमे भारीपन आता है, परन्तु कर्म मुक्त होने पर स्वाभाविक रूप से ही आत्मा की ऊर्ध्वगति होती है। जब तक कर्म पूर्ण रूप से क्षय नही होते तब तक आत्मा का शुद्ध स्वभाव छिपा रहता है जैसे बादलो मे सूर्य। बादलो के हटते ही जैसे सूर्य पुन अपने प्रकाश के साथ चमकने लगता हैं वैसे ही आत्मा से कर्मो का आवरण हटते ही आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव मे चमकने लगती है। परन्तु सूर्य पर तो कदाचित् बादल पुन आ सकते है परन्तु आत्मा एक बार कर्म–मुक्त होने पर फिर कभी कर्मों से आवृत नही होती।

विद्वान लेखक एव चितक श्रीयुत् चन्दनराजजी मेहता ने अपनी पुस्तक "कर्म–बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया" मे उपरोक्त

सिद्धान्तो का विश्लेषण वैज्ञानिक एव तर्क पूर्ण रूप मे किया है। कर्म बन्धन एव कर्म का उदय किस प्रकार होता है? क्या कर्म पूर्णतया निरकुश है? क्या मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा अपने कर्म बन्धनो को काटकर अपना भाग्य वदल सकता है? क्या हमारे जीवन मे जो कुछ घटित होता है वह सब कुछ पूर्व कर्मो का ही फल है अथवा उस पर वर्तमान के व्यवहार एव आचरण का भी प्रभाव पडता है?

प्रस्तुत रचना मे लेखक ने ऐसे अनेक गभीर प्रश्नो का विवेचन सरल भाषा मे विषय को रोचक वनाते हुए किया है। प्रस्तुत रचना पर लेखक के दीर्घ कालीन अध्ययन, मनन एव चितन की छाप है। श्री मेहता का पुस्तक लेखन के क्षेत्र मे यह प्रथम प्रयास सर्वाङ्गीण रूप से प्रशसनीय है।

मेरा दृढ विश्वास है कि परमात्मावादो व आत्मावादी दोनो प्रकार की विचार धाराओ के जिज्ञासु पाठक इस पुस्तक का अध्ययन कर लाभान्वित होगे।

अमृतलाल गाधी

डा सुषमा गाग
प्राध्यापक सस्कृत विभाग
जोधपुर विश्व विद्यालय, जोधपुर

प्रस्तुत ग्रन्थ "कर्म-बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया" मे बन्ध की प्रक्रिया का वर्णन करने से पूर्व आत्मा व पुद्गल, दोनो का सम्यक् निरूपण किया गया है। पुद्गलादि के निरूपण प्रसग मे उठाये गये प्रश्न तथा जैन मान्यताओ को वैज्ञानिक कसौटी पर कसने का आपका प्रयास शोधार्थियो के लिए महत्वपूर्ण सामग्री

प्रस्तुत करता है। बन्ध की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए बन्ध क्या है? जीव कर्म-बन्ध कैसे करता है? बन्ध के कितने प्रकार है तथा कर्म कौन बाधता है? आदि प्रश्नो पर गहन विचार किया गया है। बन्ध की प्रक्रिया का समापन तथा मुक्ति की प्रक्रिया का प्रारम्भ करने के लिए सवर की आवश्यकता तथा निर्जरा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। कर्मो से मुक्ति प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ के सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। वस्तुत प्रस्तुतकृति के रचयिता श्रीमान् चन्दनराजजी मेहता के सतत अध्ययन एव गहन चिन्तन व मनन की स्पष्ट छाप इस ग्रन्थ मे दृष्टिगोचर होती है। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी तथा युवाचार्य महाप्रज्ञजी द्वारा समय समय पर प्राप्त अध्यात्मिक उद्बोधनो से प्रेरित होकर श्री मेहताजी ने जैन दर्शन के व्यवहार पक्ष को अपने जीवन मे उतारा हैं, एक सद् गृहस्थ श्रावक के रूप मे सचित अपने अनुभवो के आधार पर उनके द्वारा सृजित यह ग्रन्थ सम्पूर्ण जैन समाज के लिए पठनीय एव मननीय विषय-वस्तु प्रदान करता है। इसमे तेरापथ आद्याचार्य भिक्षु साहित्य, आचार्य तुलसी साहित्य महाप्रज्ञ साहित्य मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ, चरक सहिता, पातञ्जल योग दर्शन आदि अनेकानेक कृतियो तथा पत्र पत्रिकाओ के उल्लेखो, विज्ञान सम्मत लेखो, स्वय मेहताजी के "प्रेक्षा ध्यान" के अनुभवो का सकलन उपलब्ध है। श्री मेहताजी की शैली हृदय-स्पर्शी है और उन्होने जैन-दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तो को अत्यन्त सुगम एव सरस रूप मे प्रस्तुत किया है। इसका श्रेय आचार्य प्रवर तुलसी तथा युवाचार्य महाप्रज्ञजी के चिन्तन के प्रति समर्पित उनके सात्विक जीवन को है। मुझे विश्वास है कि जैन समाज इस परिश्रम साध्य उपयोगी ग्रन्थ द्वारा अवश्य लाभान्वित होगा।

सुषमा गाग

विषय सूची

पृष्ठ सख्या

प्रस्तुत करता है। बन्ध की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए बन्ध क्या है? जीव कम-बन्ध कैसे करता है? बन्ध के कितने प्रकार है तथा कर्म कौन बाधता है? आदि प्रश्नो पर गहन विचार किया गया है। बन्ध की प्रक्रिया का समापन तथा मुक्ति की प्रक्रिया का प्रारम्भ करने के लिए सवर की आवश्यकता तथा निर्जरा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। कर्मो से मुक्ति प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थं के सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। वस्तुत प्रस्तुतकृति के रचयिता श्रीमान् चन्दनराजजी मेहता के सतत अध्ययन एव गहन चिन्तन व मनन की स्पष्ट छाप इस ग्रन्थ मे दृष्टिगोचर होती है। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी तथा युवाचार्य महाप्रज्ञजी द्वारा समय समय पर प्राप्त अध्यात्मिक उद्बोधनो से प्रेरित होकर श्री मेहताजी ने जैन दर्शन के व्यवहार पक्ष को अपने जीवन मे उतारा है, एक सद् गृहस्थ श्रावक के रूप मे सचित अपने अनुभवो के आधार पर उनके द्वारा सृजित यह ग्रन्थ सम्पूर्ण जैन समाज के लिए पठनीय एव मननीय विषय-वस्तु प्रदान करता है। इसमे तेरापथ आद्याचार्य भिक्षु साहित्य, आचार्य तुलसी साहित्य महाप्रज्ञ साहित्य, मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रन्थ, चरक सहिता, पातञ्जल योग दर्शन आदि अनेकानेक कृतियो तथा पत्र पत्रिकाओ के उल्लेखो, विज्ञान सम्मत लेखो, स्वय मेहताजी के "प्रेक्षा ध्यान" के अनुभवो का सकलन उपलब्ध है। श्री मेहताजी की शैली हृदय-स्पर्शी है और उन्होने जैन-दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तो को अत्यन्त सुगम एव सरस रूप मे प्रस्तुत किया है। इसका श्रेय आचार्य प्रवर तुलसी तथा युवाचार्य महाप्रज्ञजी के चिन्तन के प्रति समर्पित उनके सात्विक जीवन को है। मुझे विश्वास है कि जैन समाज इस परिश्रम साध्य उपयोगी ग्रन्थ द्वारा अवश्य लाभान्वित होगा।

सुषमा गाग

पृष्ठ सख्या

पृष्ठ सख्या

पृष्ठ सख्या

पृष्ठ सख्या

परिशिष्ट–

दगल द्रव्य

पुद्‌गल द्रव्य का विश्लेषण करने के पहले यह अध्ययन करना आवश्यक है कि द्रव्य क्या है ? जैन सिद्धान्त विश्व (Universe) को छ द्रव्यो (Substances) से निर्मित मानता है। "गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्" गुण और पर्याय के आश्रय को द्रव्य कहते है। यानि द्रव्य वह वस्तु है जिसमे गुण और पर्याय के लक्षण पाये जाते हैं। लक्षण का अर्थ है पहचान। "उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत्" जिसमे पर्याय (Modification) की दृष्टि से उत्पाद--उत्पन्न होना (Manifestation) और व्यय--विनाश (Disappearance) प्रति समय होते रहते हैं और गुणो (Fundamental realities) की दृष्टि से प्रति समय ध्रौव्य--स्थायित्व (Continuity) रहता हो ये तीनो बाते युगपत एक साथ जिसमे घटित होती है वही सत् होता है। जो सत् (Existent) हो या जिसकी सत्ता (Existence) हो वही द्रव्य होता है। इसमे उत्पाद और विनाश परिवर्तनशीलता के सूचक है और ध्रौव्य नित्यता का सूचक है। परिवर्तनशीलता और नित्यता दोनो साथ रहकर ही सत (पदार्थ) को पूर्णता देते हैं। केवल उत्पाद, केवल व्यय या केवल ध्रौव्य सत् का लक्षण नही बनता। प्रश्न है कि पदार्थ मे एक साथ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की सगति कैसे बैठ सकती है जब कि ये तीनो विरोधी तत्व है। परन्तु यह प्रकृति का नियम है कि इसके बिना पदार्थ की सगति हो ही नही सकती। उदाहरण के लिए जैसे सोना, दूध, पानी आदि सब ध्रुव सत्य हैं। सोने से कडे, कगन, अगूठी आदि आभूषण बनाये जाते हैं। यह उत्पाद और विनाश की प्रक्रिया है। दूध से दही, खीर आदि बनाए जाते है यह भी उत्पाद और विनाश का क्रम है। इसी प्रकार पानी

से बर्फ, भाप बनती है। इन प्रतीको से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य साथ साथ रहते हैं। इसी बात को ध्यान मे रखकर भगवान महावीर ने त्रिपदी की प्ररूपना की। "उप्पण्णे इवा, विगये इवा, ध्रुवे इवा" पदार्थ उत्पन्न भी होता है, विनिष्ट भी होता है और स्थिर भी रहता है। पदार्थ का यही लक्षण बताया गया है। जो सत् है उसका उत्पाद, विनाश और स्थायित्व के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है।

अविच्छिन्न रूप से द्रव्य मे रहने वाला सहभावी धर्म, द्रव्य को त्यागकर अन्यत्र न जा सकने वाला जो स्वभाव है वह गुण कहलाता है। यद्यपि द्रव्य अपनी पूर्व अवस्थाओ को छोडता जाता है और अन्य अवस्थाओ को प्राप्त करता जाता है फिर भी वह अपना स्वरूप नही त्यागता। उदाहरणार्थ स्वर्णकार कभी सोने को अगूठी, कभी कगन तो कभी कडा बनाता है, फिर भी स्वर्ण तो स्वर्ण ही रहता है। परिवर्तन तो केवल उसकी आकृतियो का होता है गुण का नही। विज्ञान के अनुसार ब्रह्माड मे उपस्थित पदार्थ की मात्रा अपरिवर्तित रहती है। वैज्ञानिको के अनुसार किसी वस्तु को न तो नष्ट किया जा सकता है और न ही किसी नयी वस्तु को पैदा किया जा सकता है। किसी भी प्रक्रिया के घटने के पहले और बाद मे उपस्थित पदार्थ की मात्रा समान रहती है। केवल पदार्थ के स्वरूप मे परिवर्तन होता है। द्रव्य का दूसरा लक्षण पर्याय है। पर्याय का अर्थ है द्रव्य का पूर्व अवस्था का परित्याग कर नई अवस्था को स्वीकार करना। द्रव्य के पर्याय अनन्त होते है। द्रव्य छ हैं—

"धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवास्तिकाया द्रव्याणि एव कालश्च"

१ धर्मास्तिकाय (Medium of motion of souls, matter and energies) – जीव और पुद्गल की गति मे असाधारण सहयोग

करने वाला सावयव द्रव्य । यह विश्व की गतिशीलता व सक्रियता मे सहायक है । ससार मे जो कुछ हलन, चलन, कम्पन, सूक्ष्माति-सूक्ष्म स्पन्दन तक होता है वह सब इसी की सहायता से होता है ।

२ अधर्मास्तिकाय (Medium of rest of souls, matter and energies) – जीव और पुद्गल की स्थिति मे असाधारण सहयोग देने वाला सावयव द्रव्य । यह धर्मास्तिकाय का प्रतिपक्षी है । स्थिरता मे उसका उपकार है । दूसरे शब्दो मे हम इनमे से प्रथम को सक्रियता का सहायक एव दूसरे को निष्क्रियता का सहायक कह सकते है । यद्यपि सक्रियता एव निष्क्रियता वस्तुओ की निजी शक्ति का परिणाम है, तो भी इनके सहयोग के विना सक्रियता व निष्क्रियता नही हो सकती । वर्त्तमान विज्ञान विद्युत शक्ति के दो रूप मानता है– धन (Positive) और ऋण (Negative) । धर्म और अधर्म वही कार्य करते हैं ।

३ आकाशास्तिकाय (Medium of location of soul etc) – जीव और पुद्गल को अवकाश देने वाला सावयव द्रव्य । आश्रय देने के कारण उपकारी है । यह चराचर जगत उसी के आधार पर टिका हुआ है ।

४ पुद्गलास्तिकाय (Matter and energy) –प्रत्यक्ष रूप मे परिवर्तन-शील द्रव्य अथवा वह सावयव पदार्थ जिसमे अणुओ का मिलन और विघटन होता रहता है । श्वास निश्वास से लेकर खाने पीने, पहनने आदि सब कार्यों मे पौद्गलिक वस्तुएँ ही काम मे आती है । शरीर स्वय पौद्गलिक है । मन, वचन व काया की प्रवृति भी पुद्गलो की सहायता से होती है । आत्माएँ उनका उपयोग करने वाली हैं ।

५ जीवास्तिकाय (Soul, substance possessing consciousness) – यह चेतनामय सावयव द्रव्य है, असख्य प्रदेशी पिंड, अविभाज्य व

अमूर्त है ।

६ काल (Time) - यह काल्पनिक द्रव्य है । इसका गुण है वर्तना । यह जीव और पुद्गल सब पर वर्तता रहता है । जो समय बीत गया, वह सचित नही होता इसलिए इसे निरवयव द्रव्य कहते हैं । काल (समय) से ससार का सारा कार्यक्रम विधिवत् सचालित होता है । यह उसका स्पष्ट उपकार है । समय कभी पिण्डीभूत नही होता ।

इन सभी छ द्रव्यो के उपकारो को एकत्र करने से समूचे विश्व (Universe) का सस्थान हमारी आँखो के सामने आता है । छ द्रव्यो मे पाच तत्व अजीव है और छठा तत्व जीवास्तिकाय सजीव है ।

अचेतन और अमूर्त = धर्म, अधर्म, आकाश, और काल
अचेतन और मूर्त = पुद्गल
चेतन और अमूर्त = जीव

जैसा ऊपर कहा गया है पुद्गल भी एक द्रव्य है जिसको विस्तार से यहा चर्चा की गई है । पुद्गल शब्द के दो अवयव है "पुद्" और "गल" । "पुद्" का अर्थ है पूरा होना या मिलना (Combination) और "गल" का अर्थ है गलना या मिटना (Disintegration) । जो द्रव्य प्रति समय मिलता रहे, बनता - बिगडता रहे, टूटता - जुडता रहे वह पुद्गल है ।

"पूरण गलनधर्मत्वात पुदगल" जिसमे पूरण-एकीभाव और गलन-पृथकभाव होता है वह पुद्गल है । यह इसका शाब्दिक अर्थ है । यह भी कहा गया है, "स्पर्शरसगन्धवर्णवान पुद्गल" जो द्रव्य स्पर्श रस, गन्ध और वर्णयुक्त होता है वह पुदगल है । यह

पुद्गल का स्वरूप है। सरल शब्दो मे जो देखा जा सके, सूंघा जा सके, चखा जा सके और जिसका स्पर्श किया जा सके वह पुद्गल है। पुद्गल रूपी है इसलिये इन्द्रिय ग्राह्य है।

"शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतप्रभावाश्च"–
शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सस्थान, भेद, तप, छाया, आतप, उद्योत, प्रभा आदि भी पुद्गल के लक्षण है। पर ये ऐसे लक्षण नही हैं जिनके बिना पुद्गल को पहचाना नही जा सके परन्तु स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये पुद्गल के अपरिहार्य लक्षण है। जहाँ पुद्गल है वहा इन लक्षणो की विद्यमानता अवश्य ही होगी। शब्द, बन्ध आदि तत्व भी पुद्गल के लक्षण है पर जहा पुद्गल विद्यमान हो वहा इन लक्षणो का होना आवश्यक हो इस प्रकार की अपरिहार्यता नही है। पहचान के लिए जो हेतु है वे ही उसके लक्षण है।

पुद्गल एक आस्तिकाय है जिसका अर्थ है "आस्तिअभूत–भविष्यति इति आस्तिकाय" जो है, था और होगा वह त्रैकालिक सत्तावाला सावयव द्रव्य अर्थात् प्रदेशो का समूह और यह आस्ति–काय की महत्वपूर्ण इकाई है। इतना ही नही इस जगत मे प्रत्यक्ष रुप मे प्राणी के सम्पर्क मे आनेवाली दृश्य और श्रव्य यदि कोई चीज है तो वह पुद्गल ही है। वैज्ञानिक इसके लिए "मैटर" (Matter of energy) शब्द का प्रयोग करता है, जैनेत्तर दार्शनिक इसके लिए "भौतिक तत्व" कहता है एव जैन दर्शन मे इसके लिए पुद्गल शब्द का उपयोग किया गया है। इस ससार मे जीव और पुद्गल दो मुख्य द्रव्य हैं क्योकि उन्ही के मिलन से इस सृष्टि मे जीव का अस्तित्व देखने मे आता है। कोई भी जीव पुद्गल के सम्पर्क मे आए बिना ससार मे नही ठहर सकता। जीव को पुद्गल के सहवास से छुटकारा भी मिल सकता है परन्तु तब मिलता है जब

वह ससार के बन्धनो से छूट जाता है। पुद्गल की आकृति छोटी हो सकती है और बडी भी, वह हल्का हो सकता है और भारी भी। इस प्रकार हम देखते है कि छोटा-बडा, हल्का-भारी, लम्बा-चौडा, बन्ध-भेद, आकार-प्रकार, प्रकाश-अन्धकार, ताप-छाया आदि ये सब पुद्गल हाने के रूप माने जाते है। ऐसा व्यापक रूप से मानना जन तत्व-ज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। यह चेतन का प्रतिपक्षी तत्व है।

पुदगल की परिभापा इस तरह भी की गई है – "पूरणगल-नान्यर्थं सज्ञातवात् पुद्गल" जो भेद और सघात से मिलते और बिखरते हैं वे पुद्गल है। पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जो खण्डित भी होता है और पुन परस्पर सम्बद्ध भी। "पुमासोजीवा तँ शरीरा-हार विषयकारणोपकारिणादि भावेत् गिल्यन्त इति पुद्गला" जिसको शरीर, आहार, विषय, उपकरण आदि के रुप मे जीव ग्रहण करे, वही पुद्गल है। द्रव्य की दृष्टि मे पुद्गल अनन्त है। क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से देखा जाए तो प्रतीत होगा कि वह सम्पूर्ण लोक मे है। काल की अपेक्षा से वह आदि अन्त रहित है। पुद्गल अखण्ड द्रव्य नही है इसलिये सब से छोटा रूप एक अणु है और सब से बडा रूप है विश्व व्यापी अचित महास्कन्ध। अचित्त महास्कन्ध तब होता है जब केवली समुद्घात करते है। कई ऐसे पुद्गल है जिन्हे उत्पति-कारक माना गया है। जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है उसका विनाश भी होता है। इस कारण उनका विनाश भी होता है। सघात और भेद के कारण वे घटते बढते भी है। उत्पन्न और नष्ट होते हुए भी ये पुदगल अपना ध्रौव्यरूप का परित्याग नही करते। अन्य कुछ पुद्गल ऐसे भी हैं जिन्हे उत्पत्तिकारक नही माना गया है। उत्पत्ति-कारक न होने के कारण उनका विनाश भी नही होता। ऐसे पुद्गल तीनो काल मे शाश्वत है। वे न तो घटते है और न ही वे

बढते है। पुद्गल हमारे लिए बहुत उपयोगी है, पर बहुत मे पुद्गल ऐसे भी है जिनको सम्पर्क मे न आने से हम काम मे नही ले सकते। पुद्गल ही नही, ऐसे अनन्त अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी है जिनका हमारे लिए सीधा कोई उपयोग नही है।

जैसा पहले लिखा जा चुका है— स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चार पुद्गल के अपरिहार्य लक्षण है। इनका विवेचन यहा दिया जाता है —

स्पर्श – स्पर्श के आठ प्रकार बतलाए गए है – शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, गुरु, लघु, कर्कश और मृदु। इनमे प्रथम चार स्पर्शमूलक है, शेष चार स्पर्श सापेक्ष है। इन आठ स्पर्शो के चार युगल स्पर्श बनते हैं। जैसे शीत-उष्ण(ठडा-गरम), स्निग्ध-रुक्ष (चिकना-रुखा), लघु-गुरु(छोटा-बडा), मृदु-कर्कश(मीठा-कटु)।

पुद्गल के एक स्कन्ध (Molecule) मे एक साथ, स्निग्ध और रुक्ष मे से कोई एक, मृदु और कठोर मे से कोई एक, शीत और उष्ण मे से कोई एक, तथा लघु और गुरु मे से कोई एक, ऐसे कोई चार स्पर्श अवश्य पाये जाते है लेकिन अणु (Ultimate atom) मे स्निग्ध और रुक्ष मे से कोई एक तथा शीत और उष्ण मे से कोई एक, ऐसे दो स्पर्श ही पाये जाते हैं क्यो कि वह पुद्गल का सूक्ष्मतम अ श है अत उसके मृदु या कठोर और लघु या गुरु होने का प्रश्न ही नही उठता। चार स्पर्श जो सापेक्ष हैं वे कैसे बनते है उनका वर्णन यहा किया जाता है —

१ रुक्ष स्पर्श की बहुलता से लघु स्पर्श बनता है।
२ स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से गुरु स्पर्श बनता है।
३ शीत और स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से मृदु स्पर्श बनता है।

४ उष्ण और रुक्ष स्पर्श की बहुलता से कर्कश स्पर्श बनता है।

इस प्रकार चार सूक्ष्म स्पर्श की बहुलता मे अन्य चार स्थूल स्पर्श बनते है। यानि चार सूक्ष्म स्कन्ध बादर स्कन्ध बन जाते है। इस व्यवस्था को श्रीमद् जयाचार्य ने राजस्थानी भाषा मे प्रश्नोत्तर के रुप मे इस तरह व्यक्त किया है —

प्रश्न - शीत उष्ण निधे[1] रुक्ष रे सूक्ष्म ए चिहु सूलगा।
अन्य चिहू ककखड[2] प्रमुख रे ते किम बादर नीपजे ?
उत्तर - लूख[3] फर्श नी जाण रे बहुलताई करी हुए लघु।
निध तणी पहचानी रे, बहुलताई करी हुए गुरु ।।
शीत–स्निग्ध नी जोय रे, बहुलताई हुए मृदु।
उष्ण-रुक्ष होय रे, बहुलताई सु खरदरो ।।

मूल चार स्पर्श वाले स्कन्ध अगुरुलघु ही होते है जैसे उच्छ्वास, कार्मण(शरीर), मन और भाषा के पुद्गल स्कन्ध परन्तु अष्टस्पर्शी स्कन्ध गुरु लघु होते हैं। कार्मण शरीर जो अगुरुलघु ही होता है, उसे छोडकर शेष चार शरीरो के पुद्गल स्कन्ध गुरु–लघु होते है। व्यवहार दृष्टि से पदार्थ गुरु, लघु, गुरु-लघु, अगुरु–लघु, चार प्रकार के होते है। पत्थर गुरु है, दीप शिखा लघु है, हवा गुरु-लघु है, आकाश अगुरु-लघु है। परन्तु निश्चय दृष्टि से न तो कोई द्रव्य सर्वथा लघु है और न सर्वथा गुरु।

कई ग्रन्थो मे स्पर्श के लक्षण इस प्रकार बतलाए गए हैं —
उष्ण स्पर्श मृदुता व पाक करने वाला होता है।
शीत स्पर्श निर्मलता व स्तम्भित करने वाला होता है।

---

१ निधे-स्निग्ध। २ ककखड-कर्कश। ३ लूख-रुक्ष।
गुरु-बडा। लघु-छोटा।

स्निग्ध स्पर्श सयोग होने का कारण हे ।
रुक्ष स्पर्श सयोग नही होने का कारण है ।
लघु स्पर्श उर्ध्व गमन व तिर्यग गमन का कारण है ।
गुरु स्पर्श अधोगमन का कारण है । मृदु स्पर्श नमन का कारण है।
कर्कश स्पर्श अनमन का कारण है ।

रस — रस के पाँच प्रकार बतलाए गए है — तिक्त, कटु, कषायला, आम्ल और मधुर । सौठ का स्वाद तिक्त (तीखा चरपरा) और नीम का रस कटु होता है । हरड या आवला कषायला होता है इमली का रस आम्ल (खट्टा) और चीनी का स्वाद मधुर (मीठा) होता है। यद्यपि इन विभिन्न रसो के मिश्रणो से नये रसो की निष्पत्ति हो सकती है पर इनके गौण होने के कारण इन्हे ग्रहण नही किया गया। रसो का ग्रहण रसना (जिह्वा) करती है इसलिए इन्हे रसनेन्द्रिय विषय(भोग) के रुप मे स्वीकार किया गया है । ससार मे जितने प्राणी है, इनमे पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवो को छोडकर सब जीवो के रसनेन्द्रिय होती है । जैसे-जैसे प्राणी मे चेतना विकसित होती जाती है, इस बोध की क्षमता भी बढती जाती है ।

गध — गध दो प्रकार के बतलाए गए है— सुगन्ध व दुर्गन्ध । मनोज्ञ परिमल को सुगन्ध कहा जाता है और अमनोज्ञ परिमल को दुर्गन्ध । कौनसी गन्ध मनोज्ञ होती है और कौनसी अमनोज्ञ- इसके लिए कोई एक निश्चित मर्यादा नही है क्योकि एक ही गन्ध किसी के लिए मनोज्ञ हो सकती है और किसी के लिए अमनोज्ञ । एक चर्मकार रात-दिन चमडे के जूते बनाने के कारण चमडे की गन्ध के बीच मे रहता है परन्तु चमडे की गन्ध उसे दुर्गन्ध नही मालूम होती । हाँ,अन्य व्यक्ति को वह गन्ध असह्य हो जाती है क्योकि वह उसके लिए दुर्गन्ध है ।

वर्ण (रग) — इनके पाँच प्रकार हैं-कृष्ण नील, रक्त, पीत और श्वेत। इन रगो के सयोग से अनेक रग उत्पन्न हो सकते है। उन सयोग-जन्य रगो की सख्या का कोई निर्धारण नही है। ससार मे जितने दृश्य पदार्थ है, जिनको हम देख रहे है उन सब मे ये पाँचो वर्ण विद्यमान रहते है। फिर भी जिम पदार्थ मे जिस रग की प्रमुखता होती है, वह वैसा ही दिखाई देता है और उसके आधार पर हम उसे काला, नीला, लाल, पीला सफेद आदि कह देते है।

पुद्गल के ये २० लक्षण न्यूनाधिक रुप मे प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ मे उपलब्ध है क्योकि ये पुद्गल के अपरिहार्य लक्षण है। यहा तक कि इनकी न्यूननम उपलब्धि परमाणु, जो कि पुद्गल की सबसे छोटी इकाई है और दृश्य होने पर भी उसे इन चर्म चक्षुओ से देख नही सकते, उसमे भी होती है। वहा एक वर्ण, एक रस, एक गध और दो स्पर्श पाये जाते है। बीसो गुणो की एक साथ उपलब्धि अनन्त प्रदेशिक बादर स्कन्ध मे होती है। हर बादर स्कन्ध मे ये बीस लक्षण एक साथ हो यह अनिवार्य नही है पर ऐसा कोई परमाणु या स्कन्ध नही होगा जिसमे वर्ण, रस, गध और स्पर्श न हो।

उपरोक्त चार अपरिहार्य लक्षणो के सिवाय कुछ लक्षण ऐसे है जिनके लिए जहा पुद्गल हो वहाँ उनको होना ही पडे ऐसी अपरिहार्यता नही हैं जैसे शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य आदि का विवेचन उल्लेखनीय है। उनकी व्याख्या यहाँ दी जाती है —

शब्द — एक स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने से जो ध्वनि होती है वह शब्द है। शब्द के तीन प्रकार हैं — जीव शब्द, अजीव शब्द और मिश्र शब्द। हृदय, कण्ठ, सिर, जिह्वा मूल, दात, नासिका, होठ और तालू ये आठ स्थान है जहा से शब्द की

उत्पत्ति होती है। इन आठो स्थानो का सीधा सम्बन्ध जीव से है, इसलिए इनसे होने वाला जीव शब्द कहलाता है। पुद्गलो के सघर्षण से जो ध्वनि होती है वह अजीव शब्द है। वीणा, झालर, ताल, कास्य शब्द अजीव शब्द है। खटपट करना, चुटकी बजाना, पाव पटकना आदि क्रियाओ से जो शब्द होता है, वह भी अजीव शब्द है। उपर्युक्त आठ स्थानो और वाद्यो का योग होने पर जो शब्द निकलता है, वह मिश्र शब्द है। अब प्रश्न यह है कि शब्द का उपयोग क्या है ? शब्द साथक भी होते है और निरर्थक भी। निरथक शब्दो का कोई उपयोग नही होता। पर सार्थक शब्द फिर चाहे, वे शब्दात्मक हो या ध्वन्यात्मक, प्राणी जगत की भावना को अभिव्यक्त करते है। समूह चेतना मे एक दूसरे को समझने के लिए शब्द ही एक सशक्त माध्यम बनता है। शब्द इन्द्रिय द्वारा ग्रहीत होते है, इसलिये वे पुद्गल है। पुद्गलो के मिलने और बिछुडने से शब्द पैदा होते है। दो कपाट मिलते है या खुलते है तो शब्द होता है। वस्त्र को बनाते समय व फाडते समय भी शब्द होता है। किसी पात्र को जल या दूध से भरते समय या खाली करते समय भी शब्द होता है। वस्त्र पहनते समय भी शब्द होता है व उतारने समय भी इन सब उदाहरणो से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनि शब्द की उत्पत्ति मे पुद्गलो का भेद और सघात प्रमुख कारण है।

ध्वनि शब्द मे पौद्गलिकता का विद्यमान होना जरुरी है। यह जैन दर्शन को महत्वपूर्ण देन है जो विज्ञान सम्मत है। जब से रेडियो ने ध्वनि-तरगो को पकडना शुरु कर दिया, जैन दर्शन की शब्दावली मे भाषा-वर्गणा के पुद्गलो को पकडना शुरु कर दिया, तब से ध्वनि शब्द की पौद्गलिकता असदिग्ध रुप से प्रमाणित हो गई। जैन दर्शन का एक अभिमत यह भी है कि जब कोई व्यक्ति

तीव्र प्रयत्न मे बोलता है तो उसकी भाषा बर्गणा के पुद्गल सारे लोक मे व्याप्त हो जाते है। इन शब्दो की ध्वनि यन्त्र के सहारे हजारो मील की दूरी पर पकड ली जाती है। कुछ वैज्ञानिक तो यह भी दावा करते है कि हजारो वर्ष पहले बोले हुए शब्द भी आज इस वायुमण्डल मे उपस्थित है। ऐसी स्थिति मे जैन दर्शन मे ध्वनि शब्द के सम्बन्ध मे जो विश्लेषण प्राप्त होता है उसे युक्ति-युक्त और विज्ञान-सम्मत कहने मे कोई कठिनाई नही है।

बन्ध — सश्लेष अर्थात मिलने को, जुडने को, सयुक्त होने को बन्ध कहते है। दो या दो से अधिक परमाणुओ का भी बन्ध हो सकता है। इसी तरह एक या एक से अधिक परमाणुओ का एक या एक से अधिक स्कन्धो के साथ भी बन्ध होना है। पुद्गल परमाणुओ (कार्मण) का जीव द्रव्य के साथ भी बन्ध होना है। यह भी दो प्रकार का होता है। जब दो विभिन्न जाति के अणु मिलकर एक नयी वस्तु का निर्माण करते है उसे यौगिक कहते है। जैसे हाइड्रोजन के दो परमाणुओ और आक्सीजन के एक परमाणु से मिलकर जल का एक अणु बनता है ($H_2+O=$पानी)। तथा जो नई वस्तु का निर्माण नही करते वे मिश्रण कहलाते है जैसे बारुद।

सौक्ष्म्य —अन्तिम सूक्ष्म जैसे परमाणु। आपेक्षिक सूक्ष्म जैसे नारियल की अपेक्षा आम छोटा होता है।

स्थौल्य--अन्तिम स्थूल जैसे समूचे लोक मे व्याप्त होने वाला अचित महास्कन्ध। आपेक्षिक स्थूल जैसे आम की अपेक्षा नारियल बडा होता है।

सस्थान - सस्थान का अर्थ है आकार। जीव का कोई आकार नही होता। इसलिए इसमे कोई सस्थान नही होता। अजीव के पाच भेद है जिनमे धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार अरूपी

है। रूप के बिना आकार नही होता। केवल पुद्गल तत्व ही ऐसा बचता है जो रूपवान और आकारवान है। यह पुद्गल का गुण तो नही है केवल लक्षण है। पुद्गल के पाच सस्थान बतलाए गए है— वृत, परिमण्डल, त्रिकोण, चतुष्कोण और आयात। ये पाचो सस्थान पुद्गल के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ मे नही होते। इसलिये ये पुदगल के गुण तो नही किन्तु उसके लक्षण के रूप मे स्वीकृत हो सकते हैं। जैन शासन के लिये "सस्थान" शब्द काम मे लिया गया है। "जैन शासन एक सस्थान है, एक वस्तु है। उसमे प्रकाश और तापमान दोनो आवश्यक है। वह जीवित इसलिए है कि इसमे ये दोनो हैं"।

भेद – विश्लेष को भेद कहते हैं। वे पाच प्रकार के है— जैसे मूग की फली का टूटना, गेऊँ आदि का आटा, पत्थर के टुकडे, अभ्रक के दल, तालाब की दरारे आदि।

तम —पुद्गलो का सघन कृष्ण वर्ण के रूप मे जो परिणमन विशेष होता है, उसे तम (अन्धकार) कहते है।

छाया —पुद्गलो का प्रतिबिम्ब रूप परिणमन होता है, उसे छाया कहते हैं।

आतप —सूर्य आदि के उष्ण प्रकाश को आतप कहते है।

उद्योत —चन्द्रमा आदि के शीतल प्रकाश को उद्योत कहते है।

प्रभा —रत्न आदि की रश्मियो को प्रभा कहते हैं।

उपरोक्त पुद्गल के ग्यारह लक्षणो की व्याख्या दिये जाने के बाद पुद्गल के चार भेदो की व्याख्या की जाती है।

पुद्गल के चार भेद —स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु।

स्कन्ध (Molecule) परमाणुओ के एकीभाव होने को

स्कन्ध कहते है। जैसे दो परमाणुओ के मिलने से जो स्कन्ध बनता है उसे द्विप्रदेशी स्कन्ध कहते है। इसी प्रकार तीन प्रदेशी, दश प्रदेशी, सख्येय प्रदेशी (Countable) असख्लेय प्रदेशी (Uncountable) और अनन्त (Infinite in number) प्रदेशी स्कन्ध होते है। परमाणुओ के समूह आबद्ध होकर सख्यात्, असख्यात तथा अनन्त प्रदेशी स्कन्धो का निर्माण करते है।

भेद से होने वाले स्कन्ध —जैसे एक शिला, उसके टूटने मे अनेक स्कन्ध बनते है।

सघात से होने वाले स्कन्ध —जैसे एक जन्तु कई तन्तुओ के जुडने से एक स्कन्ध बनता है।

इस सम्बन्ध मे आचार्य उमा स्वामी ने कहा है —' भेदसघाताभ्या उत्पद्यन्ना भेदादणु" "भेदसघाताभ्या चाक्षुस ", "स्निग्ध रुक्षत्वाद बन्ध " ' न जघन्य गुणानाम "गुण साम्य सदृशानाम द्वयाधिकादिगुणानतु" अर्थात् स्कन्धो के भेदन (तोडने) से अणु तथा अणुओ को सहित करने (जोडने) से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। यह क्रिया स्निग्ध और शक्त्यशो के निमित्त से ही होती है लेकिन जघन्य शक्त्यशो से नही। जसे तेल मे पानी नही मिलता। वैसे सामान शक्त्यशो से भी बन्ध नही होता। जैसे माना कि दो आटा के अणु है वे तब तक नही मिलेगे जब तक कि दो कम शक्त्यशवाली अन्य वस्तु न मिले। यदि उनके बीच मे मात्रानुसार पानी मिला दिया जाय तो उनका बन्ध हो जाएगा। यही कारण है कि आटा गूधते समय आटा से आधे या उससे भी कम भाग पानी की जरूरत होती है। यही अर्थ 'द्वयधिकादि' सूत्र से स्पष्ट होता है। यदि समान भाग पानी मिला दिया जाए तो पिण्डीभूत नही होगा। दोनो पृथक पृथक आटो के परमाणु समान गुण होने से किसी कम मात्रा

वाले माध्यम के बिना नही बध सकते। यह अर्थ है 'गुण साम्ये सदृशानाम्" का। आज की भाषा मे इन शक्त्यशो को हम इलेक्ट्रॉन कह सकते है। क्योकि आज वैज्ञानिक भी यही तथ्य बतलाते है कि जिस परमाणु के कक्ष मे कम इलेक्ट्रॉन होगा किंवा समान होगे तो एक परमाणु के इलेक्ट्रॉन दूसरे परमाणु के इलेक्ट्रॉन के कक्ष मे चले जाए गे और आपस में बन्ध जाए गे।

आणविक बल का प्रभाव समझाने के लिए वैज्ञानिक कहते है कि जब पदार्थो मे आणविक दूरी कम होती है तो आणविक बल अधिक रहता है। इसलिए हम ऐसी वस्तु को तोडना चाहे तो हमे अधिक बल का प्रयोग करना पडता है। लोहे का एक ठोस पिण्ड हमारे अत्याधिक बल लगाने पर ही टूटता है क्योकि उसमे आणविक बल अधिक रहता है। इसके विपरीत जब पदार्थो मे आणविक दूरी अधिक होती है तो उसे तोडने मे अधिक बल का प्रयोग नही करना पडता। इसका उदाहरण एक लकडी को तोडना है।

देश—वस्तु के काल्पनिक भाग को देश कहते है।

प्रदेश—वस्तु के सलग्न परमाणु जितने भाग को प्रदेश कहते है।

परमाणु—स्कन्ध से पृथक निरश तत्व को परमाणु कहते है। परम+अणु=परमाणु। पुद्गल द्रव्य की इकाई परमाणु है। परमाणु सर्व सूक्ष्म होता है। इसलिए अविभाज्य है। स्वतन्त्र परमाणु को नग्न आखो से नही देखा जा सकता, लेकिन पुद्गल समूह को देखा जा सकता है। प्रत्येक परमाणु मे अनन्त गुण धर्म होते है। इनमे दो विशिष्ट गुण होते है, जिन्हे शक्त्यश कहते है। ये गुण है रुक्षता एव स्निग्धता। ये दोनो गुण सापेक्ष होते हैं।

परमाणु और प्रदेश मे इतना ही अन्तर है कि प्रदेश (परमाणु के आकार जितना होने पर भी) वस्तु से सलग्न रहता है और परमाणु स्वतन्त्र रहता है। परमाणु पृथक-पृथक हो सकते है और समुहित होकर पुन स्कन्ध रूप मे परिणत भी हो सकते हैं।

परमाणु अकेला ही होता है और निरश होता है इसलिए उसमे प्रदेश नही होता। परमाणु लोक के एक प्रदेश मे रहता है। पुद्गल स्कन्ध अनेक प्रकार के है जैसे द्विप्रदेशी, सख्यात प्रदेशी, असख्यात प्रदेशी, यावत अनन्त प्रदेशी तक के यथोचित रूप से एक प्रदेश से लेकर समूचे लोक तक व्याप्त है। सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति के कारण परमाणु और स्कन्ध सभी सूक्ष्म रूप मे परिणत हो जाते है और इस प्रकार एक ही आकाश प्रदेश मे अनन्त पुद्गल रह सकते है। इसका एक मात्र कारण है कि पुद्गल मे सकोच और विस्तार की अपूव शक्ति है। जैसे जितने क्षेत्र मे एक दीपक का प्रकाश पर्याप्त होता है, उतने क्षेत्र मे अनेक दीपको का प्रकाश समा जाता है। पुद्गल की तरह जीव ऐसा नही कर सकना। प्रत्येक जीव स्वाभाविकतया कम से कम लोकाकाश के असख्यातवे भाग को अवगाह कर रहता है। वह असख्यातवा भाग भी असख्य प्रदेश वाला होता है। जीवो मे उससे अधिक सकुन्चित होने का स्वभाव नही है अत वे पुद्गल की तरह एक प्रदेश परि-माण वाले क्षेत्र मे यावन सख्यात प्रदेशात्मक क्षेत्र मे भी नही रह सकते।

पुद्गल मे अनन्त शक्ति (Enegry) होती है। एक परमाणु यदि तीव्र गति से गमन करे तो काल के सबसे छोटे अ श अर्थात एक समय (Time point) मे लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुच सकता है। यहा बैठे बैठे हम अमेरिका, रूस आदि

विदेशो के समाचार सुन लेते है, इसका कारण ध्वनि (शब्द) के पुद्गलो की गति है। यन्त्र तो मात्र ध्वनि के पुद्गलो को व्यवस्थित रूप से पकडने का काम करते है। जीव व पुद्गल मे गति व स्थिति के रहस्य को समझने के लिए धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय की कल्पना की गई है। जीव और पुद्गलो की गति मे हलन-चलन आदि मे जो सहायक होता है उसे धर्मास्तिकाय कहते है। जैसे मछलो की गति मे पानी सहायक होता है। उसके विपरीत स्थिर रहने मे जो सहायक होता है उसे अधर्मास्तिकाय कहते है। दोनो अनन्त-प्रदेशी हैं, त्रिकाल स्थायी है, सकल लोक व्यापी है, ध्रुव है नित्य है, शाश्वत हैं और अरूपी है। धर्म और अधर्म दोनो विश्व को क्रमश गति शील और स्थिर रखते है और उसे अव्यवस्था मे गिरने से बचाये रखते है। विश्व मे परिवर्तन होते रहते है। परिवर्तन का आधार काल है। काल काल्पनिक द्रव्य है। काल का सूक्ष्म भाग समय है। काल का आया हुआ समय चला जाता है, नष्ट हो जाता है अत काल के प्रदेश भी नही होते।

भौतिक पदार्थ जितने भी है उनमे जो परिवर्तन हम देख रहे है वह सब पुद्गलो के मिलने-बिछुडने के ही कारण है। जैसे रुई के पुद्गलो से तार बनते है। वे वस्त्र जीर्ण शीर्ण होने पर कडा-करकट के रूप मे परिणत हो जाते है और खाद बनकर खेतो मे पुन डाले जाते है। कालान्तर मे वे ही पुद्गल खेत मे अनुकूल बीज, हवा, पानी पाकर कपास, अनाज, फल व सब्जी आदि के रूप मे दुनिया के सामने आते है। पुद्गल अशब्द होते हुए भी इसके द्वारा शब्द की उत्पत्ति होती है। हम अपने चारो और जो भी जड वस्तुएँ जसे काठ की मेज लोहे की कुर्सी पीतल के बर्तन, प्लास्टिक का सामान, गत्ते की फाइले आदि देखते है वे सभी चीजे पुद्गल निर्मित है यहा तक कि हमारा निजी शरीर भी पौदगलिक है।

अन्य जीवो के साथ भी पुद्गल का घनिष्ट सम्बन्ध है क्योकि वह अनेक प्रकार से उनके प्रयोग मे आता है। 'द्रव्यनिमित्त हि ससारिणा वीर्यमुपजायते', अर्थात् ससारी जीवो का जितना भी वीर्य-पराक्रम है वह सब पुद्गलो की सहायता से निर्मित है।

पुद्गल किस प्रकार ससारी जीवो के व्यवहारिक रूप से प्रयोग मे आते है, उसे समझने के लिए भिन्न २ वर्गणाओ को जान लेना जरूरी है। जो पुद्गल हमारे काम आते हैं उनकी पहचान यहा वर्गणा शब्द से कराई गई है। वर्गणा का अर्थ है विभिन्न प्रकार के वर्ग या श्रेणिया। यह विभाजन उनके द्वारा होने वाले स्थूल पदार्थों के आधार पर किया गया है।

वर्गणायें यह हैं —

१ औदारिक वर्गणा—स्थूल शरीर के रूप मे परिणत होने वाले परमाणु। जैन दर्शन के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पतियो मे भी जीव है। इनके रूप मे प्रतीत होने वाले स्थूल पदार्थ उन जीवो के शरीर है। यह शरीर कही सजीव दिखाई देता है और कही निर्जीव। इसे औदारिक शरीर माना गया है। इसी प्रकार पशु-पक्षी तथा मनुष्यो का शरीर भी औदारिक है।

२ वैक्रियक वर्गणा—देवता तथा नारकीय जीवो के शरीर के रुप मे परिणत होने वाले परमाणु। योगी अपनी योग-शक्ति के द्वारा जिस शरीर की रचना करते है वह भी इन परमाणुओ से बनता है।

3 आहारक वर्गणा—विचारो का सक्रमण करने वाले शरीर के रुप मे परिणत होने वाले परमाणु।

४ भाषा वर्गणा—वाणी के रुप मे परिणत होने हाले परमाणु।

५ मनो वर्गणा—मनोभावो के रुप मे परिणत होने वाले परमाणु।

६ श्वासोच्छवास वर्गणा—प्राण वायु के रुप मे परिणत होने वाले परमाणु।

७ तैजस वर्गणा—तैजस नामक सूक्ष्म शरीर के रुप मे परिणत होने वाले पुदगल परमाणु।

८ कार्माण वर्गणा—कार्माण या लिग शरीर के रुप मे परिणत होने वाले परमाणु। कार्मण शरीर का अर्थ है आत्मा के साथ लगे हुये कर पुद्‌गल। ये हो जीव को विविध योनियो मे ले जाकर स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध जोडते है और सुख दुख का भोग कराते है। साख्य दर्शन मे जो स्थान लिग शरीर का है वही जैन दर्शन मे कार्माण शरीर का है।

आठ वर्गणाओ मे से वैक्रियक और आहारक का देवता, नरकी या योगियो के साथ सम्बन्ध है। शेष छः हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करती है। इन वर्गणाओ मे सब से स्थूल वर्गणा औदारिक है और सब से सूक्ष्म कार्माण है। सख्या की दृष्टि से सूक्ष्म वर्गणा मे स्थूल वर्गणा से अधिक परमाणु होते हैं। सर्व वर्गणाएँ अनन्त प्रदेशी स्कन्ध हैं। इनमे श्वासाच्छ्वास, मन, वचन और कर्म (कार्माण) वर्गणा के अतिरिक्त शेष सब वर्गणाए अष्ट स्पर्शी है। ये वर्गणाएँ पूरे लोक मे व्याप्त है किन्तु इनका प्रयोग तभी सम्भव हो सकता है जब ये जीव द्वारा ग्रहीत हो जाए। ससार का कोई प्राणी इन वर्गणाओ मे से अपने योग्य वर्गणाओ के योग के विना अपना काम सम्पादन नही कर सकता। वह हर क्षण नई वर्गणा का या तो स्वीकार करता है या परिणमन या विसर्जन करता है।

हरेक पुद्गल मे दो पहलू होते है–एक पक्ष का और दूसरा पतिपक्ष का होता है। उदाहरणार्थ सफेद का काला, मीठा का कडवा, सुगन्ध का दुर्गन्ध, शीत का उष्ण आदि। पुद्गल मे इस प्रकार के दो विरोधी तत्वो को देखकर कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए कहा –

इय विरुद्ध भगवान । तव नान्यस्य कस्याचित ।
निग्रन्थता परा य च, वा चोत्त्यैश्च चक्रवर्तिता ॥

भगवन्! तुम्हारे जीवन मे दो विरोधी बाते मिलती है। प्रभो! दो विरोधी युगल आपमे दृष्टिगोचर होते है-उत्कृष्ट निग्रन्थता और उत्कृष्ट चक्रवर्तित्व। यह विशेषता आपके सिवाय कही भी दृष्टिगोचर नही होती। एक ओर आप उत्कृष्ट निग्रन्थ व दूसरी ओर आप उत्कृष्ट चक्रवर्ती। कितना विचित्र वैषम्य है। अपने जीवन मे आपने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि सच्चा चक्रवर्ती अकिंचन है। सम्राट बनना, धन-वैभव सम्पन्न बनना भगवान को पसन्द नही था। उन्हे पसन्द था निग्रन्थता स्वीकार कर अकिंचन बनना।

भगवान महावीर ने दो परस्पर विरोधी तत्वो को आत्मसात कर विश्व के सामने एक आश्चर्यपूर्ण आदर्श प्रस्तुत कर दिया। इस प्रकार वैज्ञानिको की भी विश्व को देन है दो विरोधी तत्वो को खोजकर एक नया तत्व निकालना। वह है इलेक्ट्रॉन जो एक ऋणावेशी कण है। दूसरा है इसके विपरीत प्रोटॉन् (प्रति-इलेक्ट्रॉन) जो एक धनावेशी कण है। इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन कणो का एक जोडा-प्रतिकण! प्रतिद्रव्य! इन्ही की देन है।

इस तरह यह समूचा दृश्य जगत पौद्गलिक है। जीव की

समस्त सासारिक अवस्थाए पुद्गल निमित्तक है। प्राणी का आहार, शरीर, इन्द्रिया, श्वासोच्छ्वास और भाषा ये सब पौद्गलिक है। मानसिक चिन्तन भी पुद्गल सहायापेक्ष है क्योकि चिन्तक चिन्तन के पूर्व क्षण मे भाषा वर्गणा के स्कन्धो को ग्रहण करता है।

परमाणु पर विशेष चर्चा—

अचेतन द्रव्यो मे पुद्गल ही ऐसा द्रव्य है जिसमे मिलन तथा पृथक होने की प्रक्रिया होती है। धर्म व अधर्म लोक मे अवस्थित है और उनमे मिलन गलन की कोई प्रक्रिया नही है। यही स्थिति आकाश की है यद्यपि वह आलोक मे भी विस्तृत है। काल की इकाई समय है और वह वर्तमान, अतीत और अनागत के साथ पुद्गल की भाति आबद्ध नही होता।

पुद्गल की गलन-मिलन की परिभाषा अन्य द्रव्यो से भिन्नता का बोध तो कराती है लेकिन स्वय के स्वरुप का यथार्थ वर्णन नही कर पाती। पुद्गल का प्रथम स्वरूप परमाणु है।

सदर्भ सूत्र—

१ जीव अजीव जैन दर्शन मनन और मीमासा लेखक युवाचार्य महाप्रज्ञ।
२ जैन सिद्धान्त दीपिका, दर्शन के परिपार्श्व मे ३८ ९३
लेखक आचार्य श्री तुलसी।
३ द्रव्य एक अनुचिन्तन-लेखक श्री राजेन्द्रकुमार जैन, आयुर्वेदाचार्य।
४ जैन दर्शन मे मानववादी चिन्तन—लेखक श्री रतन कायड।
५ दर्शन और विज्ञान के आलोक मे पुद्गल और द्रव्य—
लेखक श्री गोपीलाल अमर—(मुनि श्री हजारीमल ग्रन्थ)।

परमाणु मे मिलन की प्रक्रिया तो होती है और स्कन्ध भी बनते हैं परन्तु इसमे गलन नही होता। परमाणु अविभाज्य है। स्कन्ध मे गलन मिलन की परिभाषा पूर्णतया फलित होती है। छोटे-छोटे स्कन्ध एकीभाव से बडे स्कन्ध बनते हैं तथा टूटकर वापस स्कन्धो मे परिवर्तित हो जाते है। पुद्गल की गलन--मिलन की परिभाषा पुद्गलास्तिकाय द्रव्य को तो समझा पाती है क्योकि आस्तिकाय का अभिप्राय बहुप्रदेश से है अर्थात् स्कन्धो से है। धर्म, अधर्म तथा आकाश बहु प्रदेशी, अविभागी तथा अखड है। उनका कोई एक प्रदेश, पुद्गल के एक परमाणु की भाँति स्वत्रन्त नही है। अत॰ परमाणु की तुलना अन्य अचेतन पदार्थो की सूक्ष्मतम इकाई से नही हो सकती। ऐसा लगता है कि पुद्गल द्रव्य अपने प्रथम स्वरूप परमाणु को ही अपनी परिभाषा (मिलन--गलन) मे नही समेट रहा है।

शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल सस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत, प्रभा आदि भी पुद्गलास्तिकाय मे ही होते है। ये अवस्थाएँ भी स्कन्ध की ही प्रतीत होती है और ये पुद्गल के लक्षण भी है क्यो कि १) शब्द पुद्गल स्कन्धो के सघात और भेद से उत्पन्न होता है न कि परमाणु के द्वारा। २) सूक्ष्म और स्थूल भी अपेक्षिक है और स्कन्धो मे ही सम्भव है। परमाणु न तो सूक्ष्म है और न स्थूल। ३) पाँच सस्थान (वृत परिमडल, त्रिकोण, चतुष्कोण और आयत) का जो वर्णन है वह भी स्कन्ध का ही है। परमाणु का कोई सस्थान नही है।

केवल बन्ध ही एक ऐसी अवस्था है जो स्कन्ध और परमाणु दोनो पर लागू होती है। सन्देह होना सहज है कि कही परमाणु परस्पर मे बन्ध ही न करते हो। अगर यह सही है तो यह अधिक स्पष्ट हो जाएगा कि परमाणु का न तो सयोग होता है और न

वियोग । फलस्वरूप मिलन-गलन की परिभाषा केवल पुद्गलास्ति-काय की रह जायगी और परमाणु इस परिभाषा से मुक्त हो जाएगा ।

यह स्पष्ट है कि जो द्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णयुक्त होता है वह पुद्गल है । ये पुद्गल के चार अपरिहार्य लक्षण है यानि जहा पुद्गल हैं वहा उनको होना ही पडेगा । पुद्गल आस्ति काय है, मूर्त है, क्रियावान है, गलन-मिलन कारी है । इन सब गुणो व लक्षणो से भी परमाणु की गलन-मिलन की समस्या नही सुलझती । कठिनाई यह है कि पुद्गल के चार भेदो (स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु) मे परमाणु भी एक भेद माना गया है । छ द्रव्यो मे भी परमाणु स्वतन्त्र नही है बल्कि वह पुद्गल का ही एक विभाग है, हिस्सा है । अत पुदगल के लक्षण व गुणो के आधार पर दी गई परिभाषा की विवेचना आवश्यक है । वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श पुद्गल के गुण व लक्षण है । इनके विवेचन मे पता लगता है कि स्थूल स्कन्धो मे पाच वर्ण, पाच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श विद्यमान हैं जब कि परमाणु मे एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श (शीत-उष्ण, स्निग्ध-रुक्ष- इन युगलो मे से एक एक) होते है । "स्पर्शरसगन्धवर्णवान पुद्गल" यह परिभाषा परमाणु तथा स्कन्ध दोनो के गुणो को स्पष्ट करती है । इस परिभाषा मे सस्थान को नही जोडा जा सकता क्यो कि परमाणु का सस्थान नही होता । परमाणु के परस्पर सयोग के विशेष नियम है । सभी परमाणु आपस मे सयोग नही करते हैं । स्कन्ध की उत्पत्ति का हेतु परमाणुओ का स्निग्धत्व और रुक्षत्व है । स्पर्श आठ है परन्तु रुक्ष और स्निग्ध यह दो स्पर्श ही स्कन्ध का निर्माण करते हैं । परमाणु चाहे सजातीय हो या विजातीय अधिकतर स्थितियो मे बन्ध नही करते । परमाणु अविभाज्य है इसलिए विभक्त होने का प्रश्न ही

नही उठता परन्तु सम्भवत बन्ध भी न करता हो क्यो कि अनेक परमाणु बिना बन्ध परिणाम को प्राप्त हुए भी एक आकाश क्षेत्र मे एक काल मे स्पर्श तथा अस्पर्श होकर रह सकते है। ऐसा उनका रहना इस बात को पुष्ट करता है कि परमाणु परस्पर मे बन्ध ही नही करते हो। केवल एक स्थिति बन्ध की सम्भवत इसलिये मान ली गई हो कि कही इस जगत मे ऐसी स्थिति न आ जाय कि सारे स्कन्ध टूटकर परमाणु तो बन जाय लेकिन परमाणु स्कन्ध न बने तो प्रकृति का समूचा सन्तुलन टूट जाएगा। सारा स्थूल जगत सूक्ष्म जगत मे बदल जाएगा। अगर परमाणु परमाणु के रूप मे और स्कन्ध स्कन्ध के रूप मे स्थिर रहे तो कम से कम एक एक समय और अधिक से अधिक असख्यात काल तक रह सकते है। बाद मे तो उन्हे बदलना ही पडता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परमाणु परमाणु के रुप मे अनन्त काल तक नही रह सकते। बाद मे उन्हे बन्ध करना ही होगा चाहे बन्ध की कितनी ही सीमाए क्यो न हो। इस समस्या के समाधान मे परमाणु द्विधितता का सहज स्मरण होना स्वभाविक हे जैसा कि जैन सूत्र अनुयोग द्वार मे वर्णित है। इसके अनुसार परमाणु दो प्रकार के है—सूक्ष्म परमाणु व व्यावहारिक परमाणु। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणु के समुदाय से बनता है। फिर भी व्यावहारिक परमाणु परिकल्पनात्मक साम्प्रत्यय है, यथार्थ मे ये स्कन्ध हैं। उसकी परिणति सूक्ष्म ही होती है अत वह व्यवहारत परमाणु ही कहलाता है। इस भेद से ऐसा जान पडता है कि बन्ध की स्थिति इन व्यावहारिक परमाणुओ पर लागू होनी चाहिये। सूक्ष्म परमाणुओ का बन्ध न होना इसलिए आवश्यक है कि इस विशाल प्रकृति की योजना इतनी गलत नही हो सकती कि इसकी कोई आरक्षण निधी (Reserve Fund) ही न हो। अनन्त परमाणु ऐसे होने चाहिये जो केवल आरक्षण निधि का काम करे। सम्भवत इसी कारण

पुद्गलास्तिकाय को ही द्रव्य स्वीकार कर सूक्ष्म परमाणु को इससे पृथक कर दिया है। अगर यह मान लिया जाय तो सूक्ष्म परमाणु न तो मूर्त हो सकते है और न ही इन्द्रिय ग्राह्य भी। ऐसे परमाणु का मूर्त व इन्द्रियग्राह्य केवल निश्चय दृष्टि से ही कहा जा सकता है। यह देखने का विषय नही बल्कि सर्वज्ञ अथवा अवधि ज्ञानी के बोध करने की बात हो सकती है। मूर्त की सज्ञा व्यावहारिक परमाणुओ को ही दी जा सकती है। इस प्रकार सूक्ष्म परमाणु को मिलन-गलन की परिभाषा से पूर्ण रूप से मुक्त किया जाना चाहिये। सूक्ष्म परमाणु अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभागी है और केवल जानने का विषय है। इसलिये इसका वर्णन इसी सीमा तक आगम साहित्य मे हुआ ऐसा जान पडता है। यह और भी आगे गहन अध्ययन का विषय हो सकता है। जैन आगम साहित्य मे वर्णित व्यावहारिक परमाणु जो कि सूक्ष्म परमाणुओ का पुन्ज रूप होता है, वही गलन-मिलन की परिभाषा मे आ सकता है और व्यवहारिक परमाणुओ की इस विश्व मे उपयोगिता है और ये स्कन्ध हैं।

सदर्भ —

"जैन विज्ञान मे पुद्गल की परिभाषा" लेखक डा महावीर राज गेलडा। 'तुलसी प्रज्ञा' मे प्रकाशित।

परमाणु का वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं भौतिक युग में उसका उपयोग

आज वैज्ञानिक अनुसन्धानो से यह स्पष्ट रूप से आभास हो रहा है कि विश्व (Universe) या ब्रह्माण्ड (Cosmos) असीम है। इसका न कोई आदि है न अन्त। विश्व की घटनाए विस्मयकारी है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक हाल्डेन ने यहा तक कह दिया है कि विश्व कल्पनातोत रुप से विस्मयकारी है। ऐसे ही परमाण भी विस्मयकारी है क्योकि इससे "एटम बम" जैसे विध्वमक अस्त्र का आविष्कार हुआ जिसमे समस्त मानव जाति समाप्त हो सकती है।

विज्ञान ने मम्पूर्ण पुद्गल द्रव्य (Matte s of energy) को तीन वर्गो मे रखा है – ठोस (Solids), द्रव (Liquids) और गैस (Gases)। विज्ञान की यह भी मान्यता है कि ये तीनो वर्गो के पुद्गल सदा अपने अपने वर्ग मे नही रहते। वे अपना वर्ग छोडकर रुप बदल कर दूसरे वर्गो मे जा मिलते हैं और पुन उसी वर्ग मे आजाते है (ठोस, गैस, द्रव)। प्राकृतिक रूप मे पाया जाने वाला सवसे हल्का तत्व (Element) उद्जन (Hydrogen) है और सबसे भारी युरेनियम। इनमे से अधिकतर तत्व सामान्य ठोस पदार्थ है जैसे लोहा, चादी, तावा, सीसा आदि। अन्य तत्व जैसे पारा आदि तरल (Liquid) पदार्थ है और कुछ गैस होती है जैसे कि क्लोरीन ऑक्सीजन (Oxygen) आदि। जव कुछ तत्व (Elements) जुड कर एक विलकुल नया पदार्थ बनाते है तब उस पदार्थ को यौगिक कहते है। उदाहरण के लिए पृथ्वी के तीन–चौथाई भाग को घेरे रहने वाला जल दो तत्वो आक्सीजन और हाइड्रोजन का यौगिक है। योगिको मे तत्व सदैव एक निश्चित अनुपात मे मिलते है।

यौगिको मे अपने अलग ही गुण-धर्म होते है। जैसा कि हम सब जानते है, जल के लाभ है। इन्ही लाभो मे से एक लाभ यह है कि वह आग को बुझा सकता है। लेकिन जल को बनाने वाले दो तत्वो मे से हाइड्रोजन एक ऐसी गैस है जो ज्वलनशील है और साथ वाली ऑक्सीजन गैस आग को उत्तेजित करती है। लेकिन जब दोनो गैस एक खास अनुपात मे मिलाई जाती है तो पानी का रूप बन जाता है और आग को भडकाने के बजाय बुझाने का काम करती है।

यदि लिखने के काम आने वाली चाक का एक टुकडा हम लें और उसके छोटे छोटे टुकडे तोडते चले जाय तो चाक के हर टुकडे मे वही गुण धर्म होगे जो चाक के मूल तोडने के पहले के टुकडे मे थे। उस छोटे से छोटे अणु को जिसमे आज मूल चाक के गुण-धर्म होते है, चाक का अणु (molecule) कहते है। यह अणु केलशियम, कार्बन और ऑक्सीजन, इन तीनो से मिल कर होता है। यदि उस अणु के इन तत्वो को अलग अलग कर दिया जाये तो वह चाक नही रह जाएगा। किसी पदार्थ का छोटे से छोटा वह कण जिसमे उस पदार्थ के सब गुण-धर्म मौजूद हो 'अणु" स्कन्ध कहलाता है। अणु एक ही प्रकार के अथवा विभिन्न प्रकार के परमाणुओ से मिलकर बने होते हैं।

जल का एक अणु हाइड्रोजन के दो परमाणुओ और आक्सीजन के एक परमाणु से मिलकर बना होता है। एक अणु कितना छोटा होता है उसको कुछ कुछ कल्पना की जा सकती है। जैसे कि वर्षा की एक बूद मे अणुओ की लगभग उतनी ही सख्या होती है जितनी की भूमध्य सागर मे जल की बूदो की सख्या।

आप लोहे को लें। उसे टुकडो मे तब तक तोडते चले जाएं

जब तक कि ऐसा खड न रह जाए जो लोहा होते हुए भी और आगे न तोडा जा सके। इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म खड को परमाणु या ऐटम (Atom) कहते है। परमाणु का अर्थ है पदार्थ का वह खड जो और छोटे टुकडो मे न बट सके। किसी तत्व का सबसे छोटा कण जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है और जो रासायनिक क्रिया की इकाई है वह परमाणु है।

अणु (Atom) के दो अ ग होते है, एक मध्यवर्ती न्यष्टि (Nucleus) जिसमे उद्यु तकण (Protons) और उदासीनकण (Neutrons) होते है और दूसरा बाह्य कक्ष (orbital shells) जिसमे विद्यु दणु (Electrons) चक्कर लगाते है। न्यष्टि को नाभिक भी कहा गया है। इस विषय मे यानि परमाणु के नाभिक की खोज हुई उस सम्बन्ध मे विद्वान लेखक श्री गुणाकर मुले के लेख आये है उनमे से सक्षिप्त अ श यहा दिया गया है –

वर्तमान सदी के दूसरे दशक मे रदरफोर्ड तथा उनके सहयोगियो ने, न केवल परमाणु के नाभिक की खोज की, बल्कि इस नाभिक को विखडित करने मे भी उन्हे सफलता मिली। नाभिकीय भौतिकी (Nuclear Physics) नामक एक नए विज्ञान का उदय हुआ। यानि नाभिकीय ऊर्जा के युग की शुरुआत हुई। उसी समय रदरफोर्ड के एक तरुण विद्यार्थी डेनिश वैज्ञानिक नील्स बोर (१८८५–१९६२) ने परमाणु के भीतर के इलेक्ट्रॉनो की व्यवस्था के बारे मे एक नया सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इसके अनुसार परमाणु के भीतर ये इलेक्ट्रॉन निश्चित कक्षाओ मे चक्कर काटते रहते है। यह रदरफोर्ड-बोर परमाणु हमारे सौर मडल जैसा है। सौर मडल के केन्द्र मे सूर्य है और इसके चारो ओर कई ग्रह परिक्रमा करते रहते है। इसी प्रकार परमाणु के केन्द्र मे इसका नाभिक है और

विभिन्न कक्षाओ मे इलेक्ट्रॉन इस नाभिक की परिक्रमा करते रहते हैं ।

परमाणु को हम अपनी आखो से नही देख सकते, तो फिर उसके भीतर के कणो के अस्तित्व के बारे मे हमे कैसे जानकारी मिलती है ? इसके लिए आग्ल वैज्ञानिक चार्ल्स विल्सन ने १९११ मे एक अद्भुत किन्तु सरल उपकरण की खोज की थी । परमाणु के भीतर के आवेशी कण जब एक गैसीय चैम्बर मे से गुजरते हैं तब वे अपने पथ के निशान छोड जाते है, जिनके चित्र उतारे जा सकते है ।

इस प्रकार धीरे धीरे नए-नए परमाणु-कणो तथा उनके गुणधर्मो की खोज हुई । सबसे सरल एव हल्का परमाणु हाइड्रोजन का होता है । इसके भीतर एक नाभिक होता है, जिसके चहुँ ओर सिर्फ एक इलेक्ट्रॉन चक्कर काटता रहता है । हीलियम और युरेनियम के परमाणुओ की खोज हुई । इनके भीतर भी नाभिक होता है । ऐसे थे रदरफोर्ड-बोर परमाणु, जो एक अतिसूक्ष्म सौर मडल है । १९१९ मे रदरफोर्ड ने अल्फा-कणो से नाइट्रोजन के नाभिक पर प्रहार किया, तो इसके भीतर से एक नया कण बाहर आया जिसे प्रोटोन (Proton) का नाम दिया गया । आगे के अनुसधानो से पता चला कि फोटोन, प्रोटोन, न्यूट्रॉन, इलेक्ट्रॉन आदि इन्हे कण तथा तरग दोनो ही माना जा सकता है ।

जी एस आई के डा गु टेर सीगर्ट के अनुसार 'परमाणु की रचना ही यह बताती है कि युरेनियम प्लेटीनम (platinum) आदि भारी तत्व कैसे बनते है ।" परमाणु के नाभिक मे न्यूट्रॉन (आवेशरहित कण) और प्रोटोन होते है, इसके चारो ओर हल्के

ऋणात्मक आवेशवाले इलेक्ट्रॉन परिक्रमा करते रहते है। तत्व की विशेषताएँ उन इलेक्ट्रॉनो की सख्या पर ही निर्भर करती है जो नाभिक के भीतर प्रोटोनो की सख्या के बराबर होता है।

हाइड्रोजन के परमाणु मे एक प्रोटोन होता है, हीलियम मे दो, लीथियम मे तीन इसी क्रम मे युरेनियम के नाभिक मे ९२ प्रोटोन होते है। इस रचना और विशेषताओ को जानते हुए लगातार नये नुस्खे बनाये जाते हैं जब तक कि कोई नई चीज पैदा न हो। जब दो अलग तत्वो के परमाणुओ को मिलाया जाता है तो तीसरा तत्व पैदा हो सकता है जिसकी विशेषताए वैज्ञानिक धारणाओ को पुष्ट भी करती है, ध्वस्त भी।

भौतिकविदो ने परमाणु के भीतर ऋणावेशी (negative) कणो की खोज की है तो धनावेशी (positive) प्रतिकणो की भी। प्रत्येक कण के लिए एक प्रतिकण का अस्तित्व है। परमाणु के भीतर ऋणावेशी इलेक्ट्रॉन हैं, तो उसका प्रतिकण पोजिट्रॉन (Positron) भी है। और, यदि परमाणु के भीतर कणो और प्रतिकणो का अस्तित्व है, तो ब्रह्माण्ड मे विश्व और प्रतिविश्व का भी अस्तित्व होना चाहिये। पर वैज्ञानिको को ऐसी जानकारी अभी तक नही मिल पाई है। परन्तु जैन दर्शन मे लोक और अलोक दोनो का अस्तित्व अनादिकाल से माना गया है। इसी प्रकार अनेक परमाणु कण पहले मानव-मस्तिष्क मे जन्मे है। भौतिक जगत मे उनकी वास्तविक खोज बाद मे हुई है।

प्रसिद्ध लेखक श्री गुणाकर मुले ने अपने एक अन्य लेख "क्या ब्रह्माण्ड के रहस्य बुद्धिगम्य है?" मे लिखते है कि परमाणु के भीतर के अतिसूक्ष्म जगत मे अनिर्धार्यता का साम्राज्य है। हम

इलेक्ट्रोन की गति जानते है, तो स्थिति अज्ञान है और स्थिति जानते है, तो गति अज्ञात रहती है। "गति गम्य, तो स्थिति अगम्य, स्थिति गम्य, तो गति अगम्य"। विज्ञान मे यह सिद्धान्त ही प्रकाश मे आया है। दूसरी ओर यह तथ्य भी स्पष्ट है कि किसी पदार्थ मे यदि गतिशीलता है तो स्थिति का होना आवश्यक है। सह-अस्तित्व स्वयभू नियम है। पदार्थ मे विरोधी गुणो का होना स्वाभाविक है। परस्पर विरोधी युगलो का अस्तित्व प्राकृतिक है। इनका सह-अस्तित्व भी स्वाभाविक है, नैसर्गिक है, किसी ने यह नियम बनाया नही, वह स्वयभू है। कोई भी व्यक्ति, फिर चाहे वह कितना ही शक्तिशाली व मेधावी क्यो न हो प्रकृति के नियमो का सर्जक नही हो सकता। प्राकृतिक नियम नैसर्गिक होते है, स्वाभाविक होते है। इसलिये महान वैज्ञानिक आइन्सटीन ऐसे 'अनिर्धार्य जगत' (अनिश्चित जगत) मे विश्वास नही रखते है। जीवन के अन्तिम दिनो तक वे यह मानने को तैयार न थे कि ऐसी अनिश्चितता विद्यमान होती है। उनका प्रसिद्ध कथन है कि "मै नही मानता कि ईश्वर प्रकृति के साथ पासा खेलता है। पर साथ ही, उन्होने यह भी कहा है कि भौतिक विश्व की वास्तविकता का यथार्थ ज्ञान हमे केवल विशुद्ध चिन्तन यानि अतीन्द्रिय ज्ञान से ही हो सकता है। अन्य शब्दो मे प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन के लिये विशुद्ध चिन्तन तो सर्व शक्तिमान बन जाता है, और भौतिक विश्व गौण बन जाता है। विराट अज्ञेय का यह दर्शन अनेकानेक विचारको को न केवल विचलित कर रहा है, न केवल घोर निराशावादी बना रहा है बल्कि प्राचीन मिथको की शरण मे चले जाने के लिए विवश कर रहा है। वास्तविकता यह है कि भौतिक जगत वास्तविक है, असीम रूप से विस्मयकारी है। लेकिन मानव बुद्धि भी उसी कोटि की है। बुद्धि की क्षमताए सीमित है, पर

प्रकृति के साथ जुड कर असीम है, प्रकृति के साथ निरन्तर प्रयोग करते हुए असीम है ।

आधुनिक वैज्ञानिक अनुसधानो द्वारा यह भी सिद्ध है कि पुद्गल मे अनन्त शक्ति होती है। एक ग्राम (gram) पुद्गल मे जितनी शक्ति (energy) होती है उतनी शक्ति ३००० टन (८४००० मन) कोयला जलाने पर मिल सकती है। रसायनशास्त्र (Chemistry) मे जो 'Atom' शब्द आता है वह उद्यु त्करण (Proton), निद्यु त्करण (Neutron) व विद्यु दणु (Electron) उद्यदगु (Positron) का एक पिण्ड है जबकि परमाणु वह मूल कण है जो दूसरो के मेल के बिना स्वय कायम रहता है। अणु और 'एटम' की इस विषमता को देखकर वैशेषिक दर्शन की यह मान्यता ठीक नही लगती कि सूर्य के प्रकाश मे चलते फिरते दिखने वाले धूलिकण परमाणु है। ये स्कन्ध ही लगते हैं ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, परमाणु के भीतर के अधिकांश कण या तो धनावेशी है या ऋणावेशी और न्यूट्रॉन एक ऐसा प्रमुख परमाणु कण है जो न ऋणावेशी है न धनावेशी, यह एक आवेशरहित या उदासीन कण है। आवेशरहित होना या उदासीन होना न्यूट्रॉन की सब से बडी विशेषता है। गुरुत्वाकर्षण से खरबो-खरबो-खरबो गुना अधिक शक्तिशाली एक विशिष्ट किस्म के नाभिकीय बल के जरिये प्रोटॉन और न्यूट्रॉन एक दूसरे से जुडे रहते है। ये कण इलेक्ट्रॉनो के व्यूह को भेद कर परमाणु के नाभिक को तोडने मे समर्थ है। और ठीक इसी तथ्य मे न्यूट्रॉन की विनाशक शक्ति का रहस्य निहित है। इसलिये न्यूट्रॉन बम के विस्फोट मे पैदा होने वाले न्यूट्रॉन कण करीब एक वर्ग किलोमीटर क्षेत्र के समूचे जीव जगत को, सूक्ष्म जीवाणुओ (virus) को भी,

पूर्णत नष्ट कर देंगे भले ही यह प्रक्रिया कुछ धीमी रफ्तार की हो।

जब यह पता चला कि इस खोज के द्वारा एक भीषण बम–परमाणु बम—का निर्माण हो सकता है तो फिर परमाणु बम बनाने का काम सन् १९४० मे शुरु हुआ। उनका परीक्षण हुआ और वह सफल रहा। अनेक परमाणु बम बने और दूसरे महायुद्ध मे ये परमाणु बम सामरिक देशो पर गिराये गये और फलस्वरूप मनुष्य जाति के विनाश की लीला शुरु हुई और दुनिया भर के देशो को भय हुआ कि अगर यह क्रम चलता रहा तो अति शीघ्र विश्व की समस्त मनुष्य जाति समाप्त हो जाएगी। इसलिये अनेकानेक शक्तिशाली देशो ने इस मानव सहार को रोकने के लिए अणु बम गिराने पर रोक लगाने का प्रयत्न किया। सामरिक महत्व को छोडकर परमाणु को मानव हित के लिए इस्तेमाल करने की बात सोची गई। आज मनुष्य परमाणु शक्ति को नियत्रित कर उसे बिजली मे बदल कर अनेक रचनात्मक कार्य सम्पन्न करने मे सफल हुआ है। परमाणु का उपयोग स्वास्थ्य और चिकित्सा के लिये भी होता है। परमाणु से उत्पन्न ऊर्जा लम्बे समय तक आवश्यक शक्ति प्रदान करती है। परमाणु ऊर्जा का एक विचित्र लक्षण यह है कि वह एक छोटे से ही स्थान मे बहुत अधिक मात्रा मे भरी जा सकती है जो लम्बे समय तक आवश्यक शक्ति प्रदान करती रहती है। अतरिक्ष मे लम्बी-लम्बी उडानो के लिए परमाणु शक्ति का प्रयोग शायद उपयुक्त साबित होगा।

हमारा शरीर भी असख्य कोशिकाओ से बना है। हर कोशिका के बीच मे नाभिक (nucleus) है। इन नाभिको मे जन्म-जन्मान्तर के सचित ज्ञान व सस्कार के गुप्त सूत्र ग्रन्थियो के

रूप मे स्थित है। हर नाभिक मे स्थित सस्कार सूत्र की लम्बाई वैज्ञानिको ने पाच फुट आकी है। इस तरह शरीर के लगभग ६०० अरब जीवित कोशिकाओ मे स्थित सस्कार सूत्र की कुल लम्बाई तीन हजार अरब फीट हो मकती है। यह लम्बाई सारे विश्व का अपने मे लपेट लेने मे समर्थ है जिसके कारण इमके विश्व व्यापी होने का अनुमान लगाया जा सकता है। नाभिक एक प्रकाश मात्र है। इसी मे जीव स्थित है। प्रत्येक परमाणु एक मौर मडल के सदृश है और उसका सूर्य नाभिक है। यही सूय परमागु को ऊर्जा प्रदान कर सक्रिय बनाता है। शरीर का यह प्रकाशतत्व जीवन की सारी गतिविधियो का सचालक है जिसके नष्ट होते हो आदमी मृत्यु को प्राप्त होता है।

सदर्भ —

१ "बीसवीं सदी में भौतिक विज्ञान", "न्यूट्रान बम—जगत समाप्त" "वक्या बह्माण्ड के रहस्य बुद्धिगम्य हैं ?" लेखक गुणाकर मुले—साप्ताहिक हिन्दुस्तान दिनाक 13-12-72 30-८-८1 व 20-६-८2।

2 विश्व को बदल देने वाले आविष्कार भाग 2 लेखक मीर नजावत अली। नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली द्वारा प्रसारित।

3 दर्शन और विज्ञान के आलोक में पुद्गल द्रव्य। लेखक श्री गोपीलाल अमर, मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ में प्रकाशित।

४ जर्मन भौतिक शास्त्रियों द्वारा नये तत्व का निर्माण। लेखक डा गुहेर सींगर्ट—जर्मन समाचार दिनाक 23-12-८2।

जीव सम न्धी तथ्य (जैन दृष्टिकोण)

पुद्गल की भाति जीव भी एक मदात्मक पदार्थ और अरूपी सत्ता है।

*जीवो उवओगमओ अमुत्तो कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥

जीव चैतन्यमय है – जीना है उपयोगमय है यानि ज्ञाता द्रष्टा है, अमूर्तिक यानि इन्द्रियो के अगोचर है, अच्छे बुरे कार्यो का करने वाला है, उसका आकार अपना देह–प्रमाण है और वह सुख–दु ख का भोक्ता है। वह ससार मे रह रहा है अर्थात् अनेक योनियो मे जन्म–मरण करता रहता है। अविनाशी और अक्षय है और अनादि–निधन (न आदि न अन्त) है। शुद्ध स्वरूप से सिद्ध के समान है और उर्ध्वगमन उसका स्वभाव है। ज्ञान-दर्शन, सुख-दु ख आदि द्वारा वह व्यक्त होता है।

हमारे जीवित शरीर का मूल द्रव्य जिसे "जीव द्रव्य" (Protoplasm) कहा जाता है कार्बनिक और अकार्बनिक के सयोगो का एक जटिल मिश्रण है। जीव द्रव्य के मुख्य सघटक है – पानी, अकार्बनिक लवण, प्रोटीन, कार्बोज (Carbo-hydrate), वसा एव केन्द्रक अम्ल (Nucletic acid)।

प्रत्येक जीवात्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है। जीवनमुक्ति के पश्चात् आत्मा सिद्ध (परमात्मा) बन जाती है और सिद्धात्माओ के निवास (सिद्ध शिला) पर वह एक स्वतन्त्र सिद्ध–परमात्मा के रूप

---

*द्रव्य सग्रह नेमिचद सिद्धान्त चक्रवर्ती–मुनि श्री हजारीमल ग्रन्थ पृष्ठ ३६०

मे स्थित रहती है। इस तरह जैन दर्शन प्रत्येक जीव के उच्चतम विकास और अस्तित्व के लिए एक अनन्त अवकाश की मान्यता रखता है।

जीव एक स्वतन्त्र द्रव्य है। यदि वह पहले विद्यमान न रहा हो और बाद मे भी विद्यमान न हो तो वर्तमान मे भी उसका अस्तित्व नही हो सकता। जीव का नैश्चयिक लक्षण चेतना है। साधारणत जडात्मक तत्वो के अतिरिक्त सभी सचेतन प्राणियो मे अपनी अनुभूतिया होती हैं। प्रत्येक प्राणी मे वस्तु दर्शन से जो सुख-दुखात्मक अनुभूति होती है वह प्रत्यक्षानुभूति है। जैमे खाते देखकर उसका अनुमान करने से ही हमारे मुँह मे पानी आजाता है। दूसरे का रुदन सुनकर या उसके कष्ट का अनुमान करने मात्र मे ही हमारी आखो मे अश्रु पैदा हो जाते है। यह अनुमान करने वाला शरीर से भिन्न कोई है तो वह आत्मा या जीव है। प्राणी मात्र मे चेतना का न्यूनाधिक मात्रा मे सद्भाव होता है। यद्यपि सत्तारूप मे चैतन्य शक्ति सब प्राणियो मे अनन्त होती है, पर विकास की अपेक्षा वह सब मे एक सी नही होती। ज्ञान के आवरण की प्रबलता एव दुर्बलता के अनुसार उमका विकास न्यूनाधिक होता रहता है। एकेन्द्रिय जीवो मे भी कम से कम एक (स्दर्शन) इन्द्रिय का अनुभव मिलेगा। यदि वह न रहे तो फिर जीव और अजीव मे अन्तर नही रहता। जीव और अजीव का भेद बतलाते हुए शास्त्रो मे कहा है "केवल ज्ञान" (पूर्ण ज्ञान) का अनन्तवा भाग तो सब जीवो मे विकसित रहता है। यह भी आवृत हो जाए तो जीव अजीव बन जाए पर ऐसा कभी नही होता।

जीव सख्या की दृष्टि से अनन्त है वे जितने है उतने ही रहते है, न घटते है, न बढते है। कोई भी जीव नया पैदा नही होता है

और न किसी का विनाश ही होता है। अमुक प्राणी पैदा हुआ, अमुक मर गया, ऐसा जो कहा जाता है उसका अर्थ इतना ही है कि किसी अन्य देह से निकलकर जीव इस देह मे आया है इसे ही उसका जन्म होना कहते है। उस देह से निकल कर जीव अन्य देह मे चला गया यही उसकी मृत्यु है।

प्रत्येक जीव के प्रदेश या अविभागी अवयव असख्य है। जो असख्य प्रदेशी है अर्थात् असख्य प्रदेशो का पिण्ड है। वह सब शरीर मे व्याप्त होकर रहता है। जीव का शरीर के अनुसार सकोच और विस्तार होता है। जो जीव हाथी के शरीर मे होता है वह चींटी के शरीर मे भी उत्पन्न हो जाता है। सकोच और विस्तार दोनो दशाओ मे प्रदेश सख्या (अवयव सख्या) समान होती है।

सकोच और विकोच जीवो की स्वभाव-प्रक्रिया नही है। वे कार्मण शरीर सापेक्ष होते हैं। कर्म-युक्त दशा मे जीव शरीर की मर्यादा मे बधे हुए होते है। इसलिए उनका परिणाम स्वतन्त्र नही होता। कार्माण शरीर का छोटापन और मोटापन गति चतुष्टय-सापेक्ष होता है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार गतिया है। जीव की सकोच-विकोच की तुलना दीपक के प्रकाश से की जा सकती है। खुले आकाश मे रखे हुए दीपक का प्रकाश अमुक परिमाण का होता है। उसी दीपक को कोठरी मे रख दे तो वही प्रकाश कोठरी मे समा जाता है।

बडे व छोटे शरीरो की अपेक्षा जीव के अनेको भेद हो जाते है। कुछ तो हजारो योजन प्रमाण पहाड सरीखे शरीर को धारण करते है और कुछ इतने छोटे शरीर वाले है कि बालाग्र पर भी अनेको अनेको समा सकें। सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धो की भाति सूक्ष्म शरीर धारी जीव भी सशरीर एक दूसरे मे अवगाह पाते हुए एक

ही क्षेत्र मे अनेक रह सकते है। जीव का शरीर प्रमाण मापने मे यह हेतु है कि ऐसा माने विना, दुख सुख का वेदन सर्वाङ्ग मे न होकर शरीर के किसी निश्चित प्रदेश मे ही होने लगेगा क्योंकि वेदन शक्ति युक्त जीव उसी जाव मे स्थित है और शरीर मे वेदन शक्ति नही है।

जीव दो प्रकार के होते है—ससारी और मुक्त। जन्म मरण की परम्परा मे घूमने वाला जीव ससारी कहलाता है। जैसे काल अनादि और अविनाशी है वैसे ही जीव भी तीनो काल मे अनादि और अविनाशी है। जसे आकाश अमूर्त है फिर भी अवगाह गुण से जाना जाता है, वैसे ही जीव अमूर्त है फिर भी वह विज्ञान-गुण से जाना जाता है। जैसे पृथ्वी सब द्रव्यो का आधार है, वैसे ही जीव ज्ञान गुणो का आधार है। जैसे आकाश तीनो कालो मे अक्षय और अतुल होता है वैसे ही जीव भी तीनो कालो मे अविनाशी-अवस्थित होता है। जैसे स्वर्ण धातु को मुकुट, कुण्डल आदि अनेक रूप दिये जा सकते है फिर भी वह मूलत स्वर्ण ही रहता है, केवल नाम रूप मे अन्तर पडता है। ठीक उसी प्रकार चारो गतियो मे भ्रमण करते हुए जीव की पर्यायें (कोई द्रव्य हो उसका जो दृश्य रूप है वह पर्याय है) बदलती है, रूप और नाम बदलते है यानि वह नित्य परिणमन करता है फिर भी द्रव्यत्व गुण के कारण वह त्यो का त्यो बना रहता है अर्थात् अपना चेतनत्व छोड कर जड नही बनता। प्राणी जसा कर्म करता है उसका वसा ही फल अपनी विविध पर्यायो मे भोगता रहता है। जसे खाया हुआ भोजन अपने आप सात धातुओ के रूप मे परिणत होता है, वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-योग्य पुद्गल विपाक मे आने पर अपने आप विविध रूप मे परिणत हो जाते है। जेसे सोना और मिट्टी का सयोग अनादि है वैसे ही जीव और कर्म का सयोग (साहचय) भी

अनादि है। जैसे मुर्गी और अण्डे मे 'पौर्वापर्य' नही है वसे ही जीव और कर्म मे भी पौर्वापर्य नही है। दोनो अनादि-सहगत ह।

ससारी जीव शरीर से भिन्न नही होता। जैसे दूध मे पानी, तिल मे तेल, कुसुम और गन्ध, मिट्टी और धातु—ये एक लगते है, वैसे ही ससार दशा मे जीव और शरीर एक लगते हैं। जैसे कमल, चन्दन आदि की सुगन्ध का रूप नही दिखना, फिर भी सुगन्ध घ्राण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होती है, वैसे ही जीव के नही दिखने पर भी उसका ज्ञान गुण के द्वारा ग्रहण होता है। जसे किसी व्यक्ति के शरीर मे पिशाच घुस जाता है तो यदि वह नही दिखना है, फिर भी आकार और चेष्टाओ के द्वारा जान लिया जाना है कि अमुक व्यक्ति पिशाच से अभिभूत है। वैसे ही शरीर के अन्दर रहा हुआ जीव हास्य, नाच, सुख-दुख, बोलना—चलना आदि विविध चेष्टाओ के द्वारा जाना जाता है।

जन्म—मरण से निवृत जीव मुक्त कहलाता है। जैसे अग्नि आदि के द्वारा सोना मिट्टी से पृथक होता है वैसे ही जीव भी सवर-तप आदि उपायो के द्वारा कर्मो से पृथक होकर मुक्त होता है। जीव को मुक्त दशा मे सकोच-विकोच भी नही होता। वहा चरम शरीर के ठोस (दो तिहाई) भाग मे आत्मा का जो अवगाह होता है, वही रह जाता है।

इन्द्रियो के द्वारा जीव के जो विभाग होते है उसे जाति कहते हैं। जाति शब्द का अर्थ सदृशता है - जैसे गाय जाति, अश्व जाति, मनुष्य जाति, एकेन्द्रिय द्विइन्द्रिय जाति। जिन जीवो के सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है उन जीवो की जाति है एकेन्द्रिय। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु व वनस्पति के जीव इसमे आते हैं। जिन

जीवो के स्पर्शन तथा रसन दो इन्द्रिय होती है, उन जीवो को जाति है द्विन्द्रिय । लट, सीप शख, कृमि, धुन आदि जीव इसमे आते है । जिन जीवो के स्पर्शन, रमन तथा घ्राण तीन इन्द्रियाँ होती है, उन जीवो की जाति है– त्रीन्द्रिय । चीटी, मकोडा, जू, लीख, चीचड, आदि जीव इसमे आते है । जिन जीवो के स्पर्शन, रसन, घ्राण तथा चक्षु चार इन्द्रिया होतो है उन जीवो की जाति है चतुरेन्द्रिय । मक्खी, मच्छर, भवरा, टिड्डी, कसारी आदि जीव इसमे आते है । जिन जीवो के स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत पाच इन्द्रिय होती है उन जीवो की जाति पचेन्द्रिय कहलाती है । पचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते है –तिर्यंच पचेन्द्रिय और मनुष्य पचेन्द्रिय । तिर्यन्च तीन प्रकार के होते है– १ जलचर– जल मे विचरने वाले जीव– मच्छली, कछुआ, मगर आदि । २ स्थलचर– भूमि पर विचरने वाले जीव– पशु, सर्प आदि । ३ नभचर– आकाश मे विचरने वाले जीव– कौआ, चिडिया, तोता आदि । मनुष्य पचेन्द्रिय दो प्रकार के होते है– समूच्छिम और गर्भज । समूच्छिम मनुष्य के मल, मूत्र श्लेष्म आदि मे उत्पन्न होते है । ये मन रहित है इसलिये इन्हे असज्ञी मनुष्य कहते है । गर्भज मनुष्य के गर्भ मे होते है ये मन सहित होते हैं अत इनको सज्ञी मनुष्य कहते है ।

ससारी जीवो के छ समूह है । ये समूह तरह तरह के पुद्गलो से बने हुए शरीरो के आधार पर किये हुए है —

१ पृथ्वीकाय—असख्य जीव, मिट्टी की एक डली मे पृथक पृथक असख्य जीव होते है ।

२ अप काय—असख्य जीव, जल की एक बून्द मे पृथक पृथक असख्य जीव होते है ।

३ तैजस काय —असख्य जीव, एक छोटी चिनगारी मे पृथक पृथक असख्य जीव होते हैं।

४ वायु काय—असख्य जीव, वायु काय मे भी पृथक पृथक असख्य जीव होते है।

५ वनस्पति काय—सख्य, असख्य और अनन्त जीव। सख्य-जिसकी गिनती होती है। असख्य-जिसकी गिनती सामान्यतया नही हो सकती। उसकी गिनती उपमा के द्वारा समझाई जाती है फिरभी उसकी सीमा है। अनन्त-जिसकी न तो गिनती हो सकती है और न उपमा के द्वारा समझाई जा सकती है। उसकी कोई सीमा नही है।

६ त्रस काय—असख्य जीव। त्रस काय के जीव स्थूल ही होते हैं। शेष पाच काय के जीव स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म जीवो से समूचा लोक भरा है। स्थूल जीव आधार बिना नही रह सकते इसलिए वे लोक के थोड़े भाग मे है। एक-एक काय मे कितने जीव हैं, वह उपमा के द्वारा समझाया गया है —

एक हरे आँवले के आयतन के बराबर मिट्टी के ढेले मे पृथ्वी के जितने जीव हैं, उन सब मे से प्रत्येक का शरीर कबूतर जितना बडा किया जाए तो एक लाख योजन लम्बे चौड़े जम्बू द्वीप मे भी नही समाते।

पानी की एक बून्द मे जितने जीव है, उनमे सब से प्रत्येक का शरीर सरसो के दाने के समान बनाया जाए तो वे उक्त जम्बू द्वीप मे नही समाते।

एक चिनगारी के जीवो मे से प्रत्येक के शरीर को लीख के

दोनो प्रकार की गति होती है। स्थूल स्कन्ध प्रयत्न के बिना गति नही करते परन्तु सूक्ष्म-स्कन्ध स्थूल प्रयत्न के बिना भी गति करते है। इसलिये इनमे इच्छापूर्वक गति और चैतन्य का भ्रम हो जाता है। सूक्ष्म-वायु के द्वारा स्पृष्ट पुद्गल स्कन्धो मे कम्पन, प्रकम्पन, चलन, क्षोभ, स्पन्दन, घट्टन, उदीरणा और विचित्र आकृतियो का परिणमन देखकर साधारण व्यक्ति को 'ये सब जीव है' ऐसा भ्रम हो जाता है। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। जीव अमूर्त है इसलिये मूर्त शरीर जीव नही हो सकता। शरीर मे रहने के कारण वह मूत भी कहा जा सकता है क्योकि कार्मण शरीर साथ है परन्तु इससे यह नही समझना चाहिये कि वह जड स्कन्धो की तरह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श युक्त इन्द्रिय ग्राह्य है। जिस तरह तिल मे तेल, दूध मे घृत, अग्नि मे प्रकाश अदृश्य रूप मे विद्यमान है उसी तरह समूची देह मे जीव विद्यमान है। जैसे पुष्प दृष्य है किन्तु गन्ध अदृश्य है, उसी तरह शरीर दृश्य है और उसमे स्थित जीव अदृश्य है। जानने, देखने व अनुभव करने के चिन्हो से ही उसकी प्रतीति होती है। मृत्यु होने पर जीव शरीर को त्याग देता है और शरीर सर्वथा जड बनकर रह जाता है। जानने व देखने का काम वास्तव मे इन्द्रियो का नही बल्कि उनके पीछे बैठे जीव का ही है जिसके निकल जाने पर ये सब निस्तेज हो जाती है। उदाहरण स्वरूप जैसे बिजली का करेन्ट आने से बल्ब जलता है और करेन्ट के चले जाने से बल्ब का जलना बन्द हो जाता है।

जीव स्वय-चालित है। स्वय-चालित का अर्थ पर-सहयोग-निरपेक्ष नही, किन्तु सचालक–निरपेक्ष है। जीव की प्रतीति उसी के उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम से होती है। उत्थान आदि शरीर से उत्पन्न है। शरीर जीव द्वारा निष्पन्न है। जीव मे सक्रियता होती है, इसलिए वह पौद्गलिक कर्म का सग्रह या स्वी–

करण करता है और इस कारण वह कर्मो से प्रभावित होता है।

सजातीय जन्म-वृद्धि, सजातीय उत्पादन, उपचय-अपचय, क्षत सरोहण (घाव भरने की शक्ति) और अनियमिक तिर्यक गति -ये जीव के व्यवहारिक लक्षण है।

जीव का जन्म --जीव अपने सजातीय जीव के शरीर से ही जन्म लेता हैं विजातीय जीव से नही। जैसे आम से सतरा व सतरे से आम पैदा नही होता।

सजातीय उत्पादन --जीवो मे उत्पादन क्षमता का गुण होता है। जीव मे सजातीय प्राणी को जन्म दने की शक्ति होती है। यह जड मे नही होती। कुछ ऐसी स्व-नियन्त्रित मशीने होती हैं जो स्वचालित (automatic) होती है फिर भी ऐसी मशीनें किसी न तो सजातीय यत्र की देह से उत्पन्न होती है और न ही सजातीय यत्र को उत्पन्न ही करती है क्योकि वे जड है।

उपचय-अपचय - जीव के शरीर मे अनुकूल सामग्री उत्पन्न होते ही उपचय(निर्माण)होने लगता है और सामग्री की प्रतिकूलता से अपचय (विनाश) होने लगता है। यह नियम चेतन पदार्थ पर ही लागू होता है जड पदार्थ पर नही। जैसे मशीन का भोजन ईधन या ऊर्जा है, परन्तु अजीव होने के कारण खाद्य रस बनाकर और उसे पचाकर वह अपना शरीर नही बढा सकती। वह जितनी है उतनी ही बनी रहती है। इसके विपरीत प्राणी जगत के पेड-पौधो से लेकर मानब तक के शरीर मे विकास और ह्रास होता रहता है। भोजन द्वारा प्राप्त पदार्थो का शरीर के भीतर परिवर्तन करने की क्षमता जीव की ही विलक्षणता के कारण है जो अजीव मे प्रतीत नही होती।

क्षत सरोहण - देह के किसी भी भाग की क्षति पूर्ति निजी रूप से कर सकने की क्षमता जीव मे ही होती है जैसे घाव अपने आप भर जाता है। इसके विपरीत दुनिया मे कोई यत्र नही है सिवाय शरीर के जो अपना घाव स्वत भर सके।

अनियमिक नियंग गति - स्वेच्छापूर्वक गति करना, जीव का इधर उधर घूमना भी उसकी पहचान का स्पष्ट लक्षण है। एक रेलगाडी पटरी पर अपना बोझ लिये पवन वेग से दौड सकती है, पर उससे कुछ दूरी पर रेगने वाली एक चीटी को भी वह नही मार सकती। चीटी मे चेतना है, इस कारण वद इधर-उधर घूम सकती हे। रेलगाडी जड है उसमे वह शक्ति नही। मानव-कृत यत्र क्रिया का नियामक चेतनावान प्राणी ही है। रेल आदि अजीव मे गति होती है परन्तु इच्छापूर्वक या बिना सहायता के गति नही हो सकती है। जीव और अजीव या प्राणी और अप्राणी मे क्या भेद है इसको जानने के लिए किसी एक लक्षण की आवश्यकता होती हे -

लक्षण	जीव	अजीव
१ प्रजनन-शक्ति (सतति-उत्पादन)	हाँ	नही
२ वृद्धि	हाँ	नही
३ आहार ग्रहण। स्वरूप मे परिणमन, विसर्जन	हाँ	नही
४ जागरण, नीद, परिश्रम, विश्राम	हाँ	नही
५ आत्मरक्षा के लिए प्रयत्न	हाँ	नही
६ भय-त्रास	हाँ	नही

प्राणी सजीव और अजीव दोनो प्रकार का आहार लेते है किन्तु उसे लेने के बाद वह सब अजीव हो जाता है। अजीव पदार्थो को जीव स्वरूप मे कैसे परिवर्तित करते है, यह विज्ञान के लिए

आज भी रहस्य है। वैज्ञानिको के अनुसार वृक्ष निर्जीव पदार्थों से बना आहार लेते है। वह उसमे पहुच कर सजीव कोष्ठो का रूप धारण कर लेता है। वे निर्जीव पदार्थ सजीव बन गए इसका श्रेय 'क्लोरोफिल'[1] को है। वे इस रहस्यमय पद्धति को नही जान सके है, जिसके द्वारा 'क्लोरोफिल' निर्जीव को सजीव मे परिवर्तित कर देता है। कृत्रिम उद्भिज अपने आप बढ जाता है। फिर भी सजीव पौधे की बढती और इसकी बढती मे गहरा अन्तर है। सजीव पौधा अपने आप ही अपने कलेवर के भीतर होने वाली स्वाभाविक प्रक्रियाओ के फलस्वरूप बढता है। पत्थर और कुछ चट्टानो के बारे मे भी कहा जा सकता है कि वे पृथ्वी के नीचे से बढकर छोटे या बडे आकार ग्रहण कर लेते हैं। यह बात अवश्य है कि पशुओ और पौधो का बढाव भीतर मे खाद्य पदार्थों के ग्रहण करने मे होता है और निर्जीव पदार्थों का बढाव होता है तो बाहर से। जैन दृष्टि के अनुसार निर्जीव आहार को स्वरूप मे परिणत करने वाली शक्ति आहार-पर्याप्ति है। वह जीवन-शक्ति की आधार शिला होती है और उसी के सहकार से शरीर आदि का निर्माण होता है। आहार, चिन्तन, जल्पन आदि सब क्रियाएँ प्राण और पर्याप्ति इन दोनो के सहयोग से होती है। जीवनोपयोगी पौद्गलिक शक्ति के निर्माण की पूर्णता को पर्याप्ति कहते है और आत्म-शक्ति को प्राण। पर्याप्ति के द्वारा प्राणी विसदृश द्रव्यो (पुद्गलो) का ग्रहण, स्वरूप मे परिणमन और विसर्जन करता है। जैसे बोलने मे प्राणी का आत्मीय प्रयत्न होता है, वह प्राण है और उस प्रयत्न के अनुसार जो शक्ति भाषा-योग्य पुद्गलो का सग्रह करती है, वह भाषा-पर्याप्ति है। आहार-पर्याप्ति और आयुष्य-प्राण, शरीर-पर्याप्ति और काय-प्राण, इन्द्रिय-पर्याप्ति

---

1. "जैन दर्शन मनन और मीमासा" लेखक युवाचार्य महाप्रज्ञ— पृष्ठ २७५

श्रौर इन्द्रिय-प्राण, श्वासोच्छ्‌वास-पर्याप्ति श्रौर श्वासोच्छ्‌वास-प्राण भाषा-पर्याप्ति श्रौर भाषा–प्राण, मन–पर्याप्ति श्रौर मन-प्राण–ये परस्पर सापेक्ष है। इससे हमे यह निश्चय होता है कि प्राणियो को शरीर के माध्यम से होने वाली जितनी क्रियाएँ है, वे सब आत्म-शक्ति श्रौर पौद्‌गलिक-शक्ति दोनो के पारस्परिक सहयोग से ही होती है।

प्राण–शक्तिया सब जीवो मे समान नही होती फिर भी कम से कम चार तो प्रत्येक प्राणी मे होनी ही है। शरीर, श्वास-उच्छ्‌वास, आयुष्य और स्पशन इन्द्रिय–इन जीवन शक्तियो मे जीवन का मौलिक आधार है। प्राण-शक्ति और पर्याप्ति का कार्य–कारण सम्बन्ध है। जीवन-शक्ति को पौद्‌गलिक शक्ति को अपेक्षा रहती है। मृत्यु हो जाने पर जीव एक क्षण भी शरीर रहित नही रहता। तुरन्त ही दूसरा शरीर धारण कर लेता है। दूसरा शरीर धारण करने के या जन्म के पहले क्षण मे प्राणी कई पौद्‌गलिक शक्तियों की रचना करता है उनके द्वारा स्वयोग्य पुद्‌गलो का ग्रहण, परिणमन और उत्सर्जन (उत्सर्ग) होता है। उनकी रचना प्राण-शक्ति के अनुपात पर निर्भर होती है। जिस प्राणी मे जितनी प्राण-शक्ति की योग्यता होती है, वह उसके अनुसार ही पर्याप्तियो का निर्माण कर सकता है। पर्याप्ति-रचना मे प्राणी को अन्तर-मुहूर्त का समय लगता है। यद्यपि उनकी रचना जन्म के प्रथम समय मे ही प्रारम्भ हो जाती है पर आहार-पर्याप्ति के सिवाय शेष सभी पर्याप्तियो की समाप्ति न होने तक जीव अपर्याप्त कहलाते है और उसके बाद पर्याप्त। उनकी समाप्ति से पूर्व ही जिनकी मृत्यु हो जाती है, वे अपर्याप्त कहलाते हैं। यह जानना आवश्यक है कि आहार, शरीर और इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियो की पूर्ण रचना किये बिना कोई प्राणी नही मरता। पर्याप्ति प्राणो का विलक्षण

लक्षण है। प्राणी के सिवाय वह लक्षण अन्यत्र कही भी नही मिलता।

जीव की जितनी भी मानसिक, वाचिक व कायिक प्रवृति होती है, वह सब बाहरी पुद्गलो की सहायता से ही होती है। जैसे वायुयान आकाश मे तभी घूम सकता है जब कि उसे पेट्रोल आदि बाह्य सामग्री की सहायता मिलती है। वैसे ही पुद्गलो की सहायता बिना जीव की कोई भी प्रवृत्ति नही हो सकती। अत एव सासारिक अवस्था मे जीव और पुद्गल का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। जीव अदृश्य पदार्थ है और पुद्गल दृश्य पदार्थ है। इस कारण व्यक्तियो को जीव के अस्तित्व के विषय मे सदेह होता है पर इतना तो समझ ही लेना चाहिये कि जो कुछ खाने, पीने चलने, फिरने, बोलने आदि की प्रवृति दिखाई देती है, वह एक प्रकार की क्रिया है। उसका कर्ता अवश्य है और वह है जीव। जब तक जीव शरीर मे रहता है तब तक ही ये क्रियाएँ सम्भव है।

अजीव — जीव का भी प्रतिपक्षी तत्व है और वह है अजीव। इस ससार मे जीव और अजीव ये दो ही तत्व है। अजीव जड पदार्थ है उसमे चेतना नही होती। रूपी और अरूपी अजीव के दो भेद हैं। यदि अजीव रूपी है तो उसमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की उपस्थिति है। जिस पदार्थ मे वर्ण है तो उसमे लाल, पीला और कोई रग होगा ही। जिस पदार्थ मे गन्ध है उसमे अच्छी या बुरी गध होगी ही। जिस पदार्थ मे रस है उसमे खट्टा, मीठा या और कोई रस होगा ही। इसी प्रकार जिस पदार्थ मे स्पर्श है उसमे शीत, उष्ण, स्निग्ध व रूक्ष कोई न कोई स्पर्श होगा ही। किसी भी पदार्थ मे वर्ण, गध, रस या स्पर्श मे से किसी का भी अस्तित्व हो और किसी का न हो यह नही हो सकता क्योकि इसका अविना-

भावी सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को कभी भी इन्कार नही किया जा सकता।

१अजीव तत्व का दूसरा भेद अरूपी है। अरुपी पदार्थ का कोई आकार नही होता। इसमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि भी विद्यमान नही होते। न वह आखो से देखा जा सकता है और न छूकर ही उसका अनुभव किया जा सकता है। इन्द्रिय ग्राह्य न होने पर भी इसका अस्तित्व अनुभव करते है। अतीन्द्रिय ज्ञानी ही उसे जानते है और दूसरो को बोध कराने के लिए उसका निरुपण करते हैं। ऐसे निरुपण के आधार पर ही अरुपी तत्व बुद्धिगम्य हो सकता है।

जीवाय अजीव की कौन कौनसी दशाएँ मुक्ति की बाधक एव साधक है– इस जिज्ञासा के उत्तर मे नौ तत्व की जानकारी आवश्यक है। जगत का अस्तित्व इन नौ तत्व और छ द्रव्यो पर ही निर्भर है। विश्व के कार्य-सचालन मे इनका पूर्ण उपयोग है। छ द्रव्यो का विवेचन पहले अध्याय मे दिया जा चुका है। नव तत्वो मे अजीव के चार (अजीव, पुण्य, पाप और बन्ध) और जीव के पाच (जीव, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष) भेद है। इन मे जीव और अजीव ये दो मूल तत्व है। पुण्य, पाप और बन्ध के द्वारा आत्मा कर्मो से बन्धती है और फलस्वरूप भौतिक सुख एव दुख मिलता है। अत एव ये मुक्ति के बाधक है। आस्रव कर्म ग्रहण करने वाली आत्मा की अवस्था है इसलिये यह भी मुक्ति की बाधक है। सवर से आगामी कर्मो का निरोध होता है और निर्जरा से पहले बन्धे हुए कर्म टूटते हैं, आत्मा उज्जवल होती है, इसलिए ये दोनो मोक्ष के साधक है। मोक्ष आत्मा की कर्म-मल रहित विशुद्ध

१ "दर्शन के परिपार्श्व में"–आचार्य श्री तुलसी–जैन भारती १-११-८०

अवस्था है ।

नौ तत्व को समझने के लिए जैन ग्रन्थो मे तेरह द्वार का विवरण आया है । यह राजस्थानी भाषा मे लिखा है । तेहरवां द्वार मे संक्षिप्त मे नव तत्वो को समझाया गया है —

अथ तेरमूं तलाव द्वार कहे छे —

तलाव रूप जीव जाणवो । अतलाव रुप अजीव जाणवो । निकलता पाणी रुप पुण्य, पाप जाणवो । नाला रुप आस्रव जाणवो । नाला बंध रुप संवर जाणवो । मोरी करी ने पाणी काढे ते निर्जरा जाणवो । माहिला पाणी रुप बंध जाणवो । खाली तालाव रूप मोक्ष जाणवो ।

तलाव रे नालो ज्यां जीव रे आस्रव
हवेली रे बारणो ज्यां जीव रे आस्रव
नाव रे छिद्र ज्यां जीव रे आस्रव

तलाव रो नालो रुंधे ज्यो जीव रे आस्रव रुंधे ते संवर
हवेलो रे बारणो रुंधे ज्यो जीव रे आस्रव रुंधे ते संवर
नाव रे छिद्र रुंधे ज्यो जीव रे आस्रव रुंधे ते संवर
तलाव रो पाणी मोरियादिक करी ने काढे ज्यो जीव भला भाव प्रवर्तावी ने कर्म रुपीया पाणी काढे ते निर्जरा ।
हवेली रो कचरो पूंजी पूंजी ने काढे ज्यो भला भाव प्रवर्तावी ने जीव कर्म रुपीयो कचरो काढे ते निर्जरा ।
नाव रो पाणी उलेची उलेची ने काढे ज्यो जीव भला भाव प्रवर्तावी ने जीव कर्म रुपीयो पाणी काढे ते निर्जरा ।
कर्म ग्रहे ते आस्रव कहीजे, कर्म रोके ते संवर कहीजे, देश थकी कर्म तोडी देश थकी जीव उज्जव थाय तेह ने निर्जरा कहीजे । जीव

सघाते कर्म बधाणा ते बध कहीजे । समस्त कर्म मुकावे ते मोक्ष कहीजे ।

आत्मा (Soul)

आत्मा जीव का पर्यायवाची शब्द है । अकेले चेतन का आत्मा और शरीर सहित चेतन को जीव कहते है । यह कहने मात्र को भेद है । वास्तव मे इनमे कोई मोलिक भेद नही है । मूलत आत्मा एक ही है परन्तु उसकी विभिन्न आठ परिणतिया है ।

१ द्रव्य आत्मा - यह चैतन्यमय असख्य प्रदेशो का पिण्ड है । इसको मूल आत्मा कहते है । यह मूल चैतन्य का केन्द्र है । उसकी परिधि मे अनेक तत्व काम करते है । उस चेतन तत्व के बाहर कषाय का वलय है ।

२ कषाय आत्मा – क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारो मे जीव की प्रवृति कषाय आत्मा है ।

३ योग आत्मा – मन, वचन और काया इन तीनो मे जीव की परिणति योग आत्मा है ।

४ उपयोग आत्मा– यह जीव की ज्ञान-दर्शनमय परिणति है । "उपयोग लक्षणो जीव" जीव का लक्षण उपयोग है । उपयोग का अर्थ है बोधरुप व्यापार ।

५ ज्ञान आत्मा – यह जीव की ज्ञानमय परिणति है ।

६ दर्शन आत्मा – जीव आदि तत्वो के प्रति यथार्थ या अयथार्थ श्रद्धान करना है ।

७ चारित्र आत्मा – कर्मो का निरोध करने वाला जीव का परिणाम चारित्र आत्मा है ।

८ वीर्य आत्मा – जीवत्व की अभिव्यक्ति के माध्यम है उत्थान,बल और वीर्य जिसमे वीर्य आत्मा जीव का सामर्थ्य विशेष है।

इस तरह द्रव्य आत्मा मूलत जीव है और शेष सात आत्माओ मे से कोई उसका लक्षण है, कोई गुण है तो कोई दोष। जिस प्रकार एक मूल आत्मा की सात मुख्य-मुख्य परिणतिया बत–लाई गई है, उसी प्रकार उसका जितने भी प्रकार का परिणमन होता है, उतनी ही आत्माएँ अर्थात् अवस्थाएँ हैं। साराश यह है कि आत्मा परिणामी नित्य है। उसकी अवस्थाए जन्म के अनुसार बदलती रहती है और वे अनन्त है। आत्मा नित्य है तो अनित्य भी है। द्रव्य नय की अपेक्षा से उसका चैतन्य स्वरुप कदापि नष्ट नही होता इसलिए वह नित्य है। आत्मा के प्रदेश कभी सकुचित होकर रहते है तो कभी विकसित होकर, कभी सुख मे तो कभी दुख मे। इसलिए पर्याय नय की दृष्टि से भिन्न-भिन्न रुपो मे वह परिणत होता है इस कारण से वह अनित्य है।

आत्मा का अस्तित्व — आत्मा सचेतन है। निर्मलता पानी का धर्म है, ताप अग्नि का धर्म है वैसे ही आत्मा का भी अपना धर्म है। वह है ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य(शक्ति)। इसलिए आत्मा को अनन्त-चतुष्टयात्मक माना गया है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य ये चार चतुष्टय है।

ससारी आत्मा मे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से क्रमश विशेष बोध रुप अनन्त ज्ञान, सामान्य बोध रुप अनन्त दर्शन, अलौकिक आनन्द रुप अनन्त सुख व आध्यात्मिक शक्तिरुप अनन्त वीर्य प्रादुर्भूत होता है। मुक्त आत्मा मे ये चार अनन्त-अनन्त चतुष्टय सर्वदा बने रहते हैं। ससारी आत्मा स्वदेह परिमाण एव पौद्गलिक कर्मो से युक्त होती है,

साथ ही परिणमनशील, कर्त्ता, भोक्ता एव सीमित उपयोगयुक्त होती है। आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति व शरीर का पौद्गलिक सहयोग इन दोनो के मिलने से शरीर-युक्त आत्मा का अस्तित्व प्रकट होता है। आत्मा का स्वभाव है-जानना व देखना। उसमे ज्ञाताभाव व दृष्टाभाव है। "जे आया से विण्णाया जे विण्णाया मे आया"- इस आगमवाणी के अनुसार जो आत्मा है वही ज्ञाता है और जो ज्ञाता है वही आत्मा है। यदि आत्मा दृष्टा है तो शरीर दृश्य। आत्मा ज्ञाता है तो शरीर उसका ज्ञेय है। आत्मा है फिर भी वह दृष्ट नही है। उसके दर्शन मे बाधक तत्व दो है राग और द्वेष। ये आत्मा पर कर्म का सघन आवरण डालते रहते है इस कारण उसका दर्शन नही होता। राग द्वेष मे छिन्न हो जाने पर आत्मा निष्कर्म हो जाती है। निष्कर्म होते ही वह दृष्ट हो जाती है।

आत्मा अमूर्त है पर निराकार होते हुए भी वह साकार है क्योकि जिस शरीर मे प्रवेश करती है, उसका आकार ले लेती है। उसमे वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श कुछ भी नही है, न हल्कापन है न भारीपन, लिगभेद भी नही है। इसमे न सगठन होता है और न विघटन, न सिकुडन होता है और न फैलाव, न स्कन्ध बनता है न कुछ और वस्तु। इस लोक मे एक भी स्थान ऐसा नही है जहाँ वह पायी न जाती हो और जहाँ उसका अस्तित्व न रह सके। आत्मा एक ऐसी अरुपी सत्ता है जो प्राणी की इन्द्रियो व मन से भी परे है। पदार्थो को वास्तविक रुप से समझने का गुण आत्मा मे है इन्द्रियो मे नही। इन्द्रिया तो केवल वस्तु विशेष [illegible] करने विषय-भोग करने का माध्यम है। आत्मा के श[illegible] पर इन्द्रिया कुछ भी कार्य नही कर पाती। इन्[illegible] ज्ञान और किया हुआ भोग का स्मरण आत्मा

रहता है । इन्द्रियो के नष्ट होने पर उनके द्वारा किये गये विषय-भोग व प्राप्त ज्ञान को स्थिर रुप मे रखने वाला अगर कोई तत्व है तो वह आत्मा है ।

अनुभव द्वारा आत्मा का बोध — स्वय के अनुभव के आधार पर ही आत्मा का अस्तित्व जाना जा सकता हे । 'मै हू," "मै सुखी हू", "मैं दुखी हू" इस प्रकार के अनुभव शरीर को नही परन्तु शरीर से भिन्न जो वस्तु, जिसे आत्मा कहते है, उसे होता है । जिस तरह कोल्हू द्वारा तिल से तेल को, मन्थन द्वारा दूध से घृत को पृथक किया जा सकता है उसी तरह भेद-विज्ञान के द्वारा आत्मा की शरीर से पृथकता का अनुभव किया जा सकता है । उत्कृष्ट ज्ञान प्रज्ञा की सहायता से ही आत्मा को जाना व देखा जा सकता है । यद्यपि हम हवा को नही देख सकते फिर भी स्पर्श के द्वारा हमे उसका बोध होता है । इसी प्रकार हम आत्मा को अपने अनुभव एव ज्ञान की शक्ति से उसके अस्तित्व का होना जान सकते है ।

एक अन्धेरे कमरे मे एक पर्दे पर सिनेमा की तस्वीरे दिखाई पडती हैं । ज्यो ही कमरे मे प्रकाश आता है तस्वीरो का दिखना बन्द हो जाता है । यद्यपि तस्वीरे अब भी पर्दे पर हैं फिर भी हम उन्हे देख नही सकते । इसी प्रकार हमारे पूव-जन्म की घटनावलिया हमारी आत्मा के साथ सम्बन्ध किये हुए हैं परन्तु हमारे वर्तमान के सीमित इन्द्रियज्ञान व कर्मो के आवरण के कारण उन घटनावलियो का विस्तृत ज्ञान हमे नही हो पाता । अत हम परिमित इन्द्रियज्ञान को मानसिक एकाग्रता, आत्मचिन्तन व धर्म व शुक्ल ध्यान के द्वारा विकसित करें तो सम्भव है हम अपने पूर्व-जन्म की समस्त घटनावलियो एव अनुभवो का ज्ञान प्राप्त कर सके ।

आत्मा अमर है, अजन्मा है, अनादि है, अनन्त है, नित्य है,

साथ ही परिणमनशील, कर्त्ता, भोक्ता एव सीमित उपयोगयुक्त होती है। आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति व शरीर का पौद्गलिक सहयोग इन दोनो के मिलने से शरीर-युक्त आत्मा का अस्तित्व प्रकट होता है। आत्मा का स्वभाव है-जानना व देखना। उसमे ज्ञाताभाव व दृष्टाभाव है। "जे आया से विण्णाया जे विण्णाया से आया"- इस आगमवाणी के अनुसार जो आत्मा है वही ज्ञाता है और जो ज्ञाता है वही आत्मा है। यदि आत्मा दृष्टा है तो शरीर दृश्य। आत्मा ज्ञाता है तो शरीर उसका ज्ञेय है। आत्मा है फिर भी वह दृष्ट नही है। उसके दर्शन मे बाधक तत्व दो है राग और द्वेष। ये आत्मा पर कर्म का सघन आवरण डालते रहते है इस कारण उसका दर्शन नही होता। राग द्वेष मे छिन्न हो जाने पर आत्मा निष्कर्म हो जाती है। निष्कर्म होते ही वह दृष्ट हो जाती है।

आत्मा अमूर्त है पर निराकार होते हुए भी वह साकार है क्योकि जिस शरीर मे प्रवेश करती है, उसका आकार ले लेती है। उसमे वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श कुछ भी नही है, न हल्कापन है न भारीपन, लिंगभेद भी नही है। इसमे न सगठन होता है और न विघटन, न सिकुडन होता है और न फैलाव, न स्कन्ध बनता है न कुछ और वस्तु। इस लोक मे एक भी स्थान ऐसा नही है जहाँ वह पायी न जाती हो और जहाँ उसका अस्तित्व न रह सके। आत्मा एक ऐसी अरुपी सत्ता है जो प्राणी की इन्द्रियो व मन से भी परे है। पदार्थो को वास्तविक रुप से समझने का गुण आत्मा मे है इन्द्रियो मे नही। इन्द्रिया तो केवल वस्तु विशेष का ज्ञान करने या विषय-भोग करने का माध्यम है। आत्मा के शरीर से चले जाने पर इन्द्रिया कुछ भी कार्य नही कर पाती। इन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान और किया हुआ भोग का स्मरण आत्मा को सहज रूप से

रहता है। इन्द्रियो के नष्ट होने पर उनके द्वारा किये गये विषय-भोग व प्राप्त ज्ञान को स्थिर रुप मे रखने वाला अगर कोई तत्व है तो वह आत्मा है।

अनुभव द्वारा आत्मा का बोध – स्वय के अनुभव के आधार पर ही आत्मा का अस्तित्व जाना जा सकता है। 'मै हू," "मै सुखी हू", "मैं दुखी हू" इस प्रकार के अनुभव शरीर को नही परन्तु शरीर से भिन्न जो वस्तु, जिसे आत्मा कहते हैं, उसे होता हैं। जिस तरह कोल्हू द्वारा तिल से तेल को, मन्थन द्वारा दूध से घृन को पृथक किया जा सकता है उसी तरह भेद-विज्ञान के द्वारा आत्मा की शरीर से पृथकता का अनुभव किया जा सकता है। उत्कृष्ट ज्ञान प्रज्ञा की सहायता से ही आत्मा को जाना व देखा जा सकता है। यद्यपि हम हवा को नही देख मकते फिर भी स्पर्श के द्वारा हमे उसका बोध होता है। इसी प्रकार हम आत्मा को अपने अनुभव एव ज्ञान की शक्ति से उसके अस्तित्व का होना जान सकते है।

एक अन्धेरे कमरे मे एक पर्दे पर सिनेमा की तस्वीरे दिखाई पडती हैं। ज्यो ही कमरे मे प्रकाश आता है तस्वीरो का दिखना वन्द हो जाता है। यद्यपि तस्वीरे अब भी पर्दे पर है फिर भी हम उन्हे देख नही सकते। इसी प्रकार हमारे पूव-जन्म की घटनावलिया हमारी आत्मा के साथ सम्बन्ध किये हुए हैं परन्तु हमारे वर्तमान के सीमित इन्द्रियज्ञान व कर्मो के आवरण के कारण उन घटनावलियो का विस्तृत ज्ञान हमे नही हो पाता। अत हम परिमित इन्द्रियज्ञान को मानसिक एकाग्रता, आत्मचिन्तन व धर्म व शुक्ल ध्यान के द्वारा विकसित करे तो सम्भव है हम अपने पूर्व-जन्म की समस्त घटनावलियो एव अनुभवो का ज्ञान प्राप्त कर सकें।

आत्मा अमर है, अजन्मा है, अनादि है, अनन्त है, नित्य है,

शाश्वत है। प्राणी की मृत्यु होने पर उसका शरीर तो नष्ट हो जाता है पर शरीर मे रही आत्मा दूसरा शरीर धारण कर लेती है। आत्मा प्रकाश पुंज है व आनन्दमय है। आत्मा केवल हृदय के निकट ही नही है पर सम्पूर्ण शरीर के अणु अणु मे व्याप्त है। शरीर का एक भी एसा अणु नही है जिसमे आत्मा अनुप्रविष्ट न हो। पुरुप(चेतन) समग्रतय आत्ममय है। इसलिए भगवान महावीर ने पुरुषाकार आत्मा का ध्यान किया। उन्होने शरीर के हर अवयव मे आत्मा का दशन किया। इससे देहासक्ति दूर होने मे बहुत सहायता मिलती है। सूर्य की तरह आत्मा भी प्रकाश-स्वभाव वाली है परन्तु उसके दो रुप हैं -आवृत व अनावृत। अनावृत चेतना अखण्ड व निरपेक्ष होती है। कर्मो के प्रभाव के कारण आवृत चेतना के अनेक विभाग बन जाते है। शरीर, आकृति, वर्ण, नाम, गोत्र, सुख-दुख का अनुभव, विविध योनियो मे जन्म ये सब आत्मा को विभक्त करते है। इस विभाजन का हेतु कर्म है। कर्म-वद्ध आत्मा नाना प्रकार के व्यवहारो (विभाजनो) और उपाधियो से युक्त होती है। कर्म-मुक्त आत्मा के न कोई व्यवहार होता है और न कोई उपाधि। आत्मा के दो विशेष गुण है—सम्यक्त्व और चारित्र। सम्यक्त्व का अर्थ है सही दृष्टिकोण व चारित्र का अर्थ है आत्म-सयम। ये दोनो गुण ऐसे है जिनकी प्राप्ति से आत्मा अपने मूल स्वभाव को प्राप्त कर सकती है। आत्मा एक शुद्ध, बुद्ध और आनन्दमय तत्व है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय उसके विभाव है और ये ही आत्मा को विकृत बना देते है।

अप्पा कत्ता विकत्ताय, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तम मित्त च, दुप्पट्ठि्य सुपट्ठियो ॥

आत्मा ही शरीर को सुख-दुख का अनुभव कराने वाली है और उनके क्षय का भी। सत्प्रवृति मे लगी हुई आत्मा हमारे मित्र के

तुल्य है और दुष्प्रवृति मे लगी हुई आत्मा हमारे शत्रु के तुल्य है ।

सुख दु ख प्रदोनैव, तत्वत कोपि विद्यते ।
निमित्त तु भवदे वापि तदिह परिणामिनि ।। (सम्बोधि)

सच्चाई यह है कि मानव को समार मे सुख-दुख का बोध कराने वाला कोई दूसरा नही है उमकी आत्मा ही है । दूसरा सुख-दुख की प्राप्ति कराने मे केवल निमित्त हो सकता है क्यो कि वह परिणामी है और उसमे बाह्य निमित्तो से भी विविध परिणमन होते रहते है ।

इस जन्म मे जिन कर्मो का फल भोगना बाकी रह जाता है उनको दूसरे भव मे भोगने के लिए उस आत्मा को पुनर्जन्म धारण करना ही पडता है । जीवात्मा को इस देह मे जैसे बचपन, जवानी व वृद्धावस्था होती है, वैसे ही उसे अगले जन्म मे भी प्राप्त होती है । इस शरीर मे बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक हम नाना प्रकार के परिवर्तन देखते है । शरीर के अवयवो मे परिवर्तन हो जाने पर भी आत्मा नही बदलती । जो आत्मा बचपन मे हमारे शरीर मे है वही वृद्धावस्था मे भी रहती है । इस तरह बाहरी परिवर्तन होता रहता है आन्तरिक नही । यहाँ प्रश्न उठता है कि आत्मा एक शरीर को छोडकर दूमरे शरीर मे कैसे प्रवेश करती है? उत्तर है— सूक्ष्म शरीर(कार्माण शरीर) के द्वारा आत्मा एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे प्रवेश करती है ।

उपनिषद मे आत्मा का जो विवेचन आया है वह इस प्रकार है और आत्मार्थी के लिए मनन करने योग्य है —

आत्मा वाऽऽदे मैत्रयि । द्रष्टव्य श्रोतव्य मन्तव्य निदिध्यासितव्यश्च आत्मन खलुदर्शनेन इद सर्व विदित भवति । (वृहदारण्यकोपनिषद)

हे मैत्रेयी ! आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने व अनुभव करने योग्य है। अपने आपको (आत्मा को) जान लेने पर सब कुछ जान लिया है। यही अमरत्व प्राप्त करने का साधन है, यही आत्म कल्याण का मार्ग है। अपने आपको जान लेना ही सब से बडी उपलब्धि है।

आत्मा की गरिमा को समझाते हुए कहा गया है —

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

अपनी आत्मा द्वारा अपना उद्धार करो, आत्मा का पतन मत करो। आत्मा ही अपना बन्धु है, आत्मा ही अपना शत्रु है।

न मुक्तिर्जपनाद्धोमादुपवास शतैरपि ।
ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा मुक्तो भवति जीवभृत ॥

जप, हवन तथा सैकडो उपवास करने से भी मानव को मुक्ति नही मिल पाती, पर उसे आत्म-ज्ञान होने पर जीव और ब्रह्म की एकता की अनुभूति हो जाती है और उसकी आत्मा कर्म-बन्धनो से मुक्त हो जाती है। "मै कौन हू?" "क्या हू?" "ससार मे किस लिये आया हू?" "यहा कहाँ से आया हूँ?" इन प्रश्नो के उत्तर की प्राप्ति करना मानव के लिए आत्म ज्ञान है।

सुक्कड दुक्कड यवि अप्पणा यावि जाणाति ।
ण य ण-अण्णो कि जाणाति सुक्कड एव दुक्कड ॥
चोर पिता पससति पुणी विलारी हिज्जसि ।
ए से एत्तायताऽचोरेण से इत्तायताऽमुणी ॥
णण्णस्सवयणा चोरे ए णस्य वयणमुणी ॥
अप्पं अप्पा विियणसि जे वा उत्तणागिमो ॥

अपने शुभ या अशुभ कर्मों का बोध अपनी आत्मा को ही है। साधारण मनुष्य नहीं जान सकता, अतीन्द्रिय ज्ञानी ही जान सकता है। यदि लोग चोर की प्रशसा करें और साधु की निन्दा तो उससे साधु चोर नहीं हो सकता। दूसरी ओर किसी व्यक्ति को चोर कहने मात्र से ही न तो वह 'चोर' हो जाता है और न किसी व्यक्ति को साधु कहने से वह 'साधु' हो जाता है। चोर या साधु सम्बन्धी ज्ञान मनुष्य स्वय जानता है या फिर 'सर्वज्ञ' जानते हैं।

मनुष्य के कुछ कर्म ऐसे भी हो सकते है जो कि दूसरो की निगाह मे न आये एव गुप्त रहे या कोई कर्म ऐसा भी हो सकता है जिसे उसने बुरी नीयत से किया है पर दूसरो को उस कर्म से बुराई न दिखती हो। अपने कर्मों के बारे मे मनुष्य स्वय ही जानता है कि अमुक कर्म उसने किस भावना से किया है। दूसरे लोग तो अपनी वृति के अनुसार किसी मनुष्य की प्रशसा एव किसी की निन्दा करते है परन्तु इससे उस मनुष्य के वास्तविक स्वरूप मे कोई फर्क नहीं आता। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि दूसरो के द्वारा की गई अपनी स्तुति या निन्दा पर ध्यान न देकर वह स्वय अपने हृदय को टटोले और विवेक रूपी कसौटी पर परखे कि जो कर्म उसने किया है वह अच्छा है या बुरा क्योंकि मनुष्य के कर्म की निन्दा एव प्रशसा मिथ्या भी हो सकती है।

सदर्भ सूत्र

१. जीव अजीव, जैन दर्शन मनन व मीमासा—लेखक युवाचार्य महाप्रज्ञ।
२. जैन सिद्धान्त दीपिका, दर्शन के परिपार्श्व में—लेखक आचार्य श्री तुलसी।
३. मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रथ।

जीव सम्बन्धी तथ्य : वैज्ञानिक दृष्टिकोण

ससार मे सभी जीव स्थूल जीवो से लेकर सूक्ष्म जीवाणु (Bacteria) तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषाणुओ (Micro-Organisms & Viruses) तक सभी जीव के विविध रूप है। इन सब मे जीवन के सभी लक्षण पाये जाते हैं जो जीव विज्ञान के विशेषज्ञो ने सजीव वस्तुओ मे गिनाये हैं जैसे वृद्धि करना, किसी उद्दीपन के जवाब मे प्रतिक्रिया करना, अपचय यानि विनाशकारी और उपचय यानि निर्माणकारी क्रियाए करना इत्यादि। वैज्ञानिको की दृष्टि मे जीव का सब से बडा और महत्वपूर्ण गुण है प्रजनन शक्ति अर्थात् अपने जैसे दूसरे जीव की उत्पत्ति करना। अलैंगिक जनन से लेकर बीज और अण्डा बनाने वाले लैंगिक जनन तक सभी जीव जन्तु इस प्राकृतिक नियम से बधे है-आखो से परे जगत मे भी और कोशिका के स्तर पर भी। कोशिका (cell) जीवन की मूल इकाई है। प्राणियो की शरीर रचना विभिन्न प्रकार की कोशिकाओ से हुई है। इन्ही से विभिन्न प्रकार के ऊत्तक (tissues) बनते है। इनसे बनते है विभिन्न अग जिनका अपना विशिष्ट कार्य-निर्धारित होता है। कोशिका भोजन करती है, उसको हजम करती है और अवाछित पदार्थो को विसर्जित करती है। वह वृद्धि करती है और किसी भी परिवर्तन के प्रति जागरूक रहकर अपनी कार्य प्रणाली तय करती है। ऐसा करते हुए भी वह अपने मूल कार्य क्षेत्र से कभी भी नही भटकती। यह भी अनुसधान से साबित हो चुका है कि उसे रातदिन अधेरा-उजाला, भूख-तृप्ति, बीमारी-स्वास्थ्य, सुख-दुख, आदि ब्रह्माण्डीय गतिविधियो सभी की पूरी पूरी जानकारी रहती है। कोशिका का सबसे महत्वपूर्ण भाग केन्द्रक (nucleus) है जिसको नाभिक भी कहते है जो लगभग बीच मे होता है। कोशिका अपने आप मे स्वतन्त्र जीव की तरह भी रह सकती है जैसे कि विषाणु

(Virus), जीवाणु (Bacteria) और अमीबा (एक कोशिका वाले जीव) आदि। हर कोशिका अपने आप मे एक जीव बनाने का रासायनिक कार्यालय है, जिसमे उस जीव जैसे विविध जीव बनाने के लिए आवश्यक कच्चा माल भरा रहता है। प्रत्येक कोशिका मे भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के केन्द्रक अम्ल (nucleus acid) होते है। डी-आक्सी-रिबो (Deoxy-ribo nucleuic acid D N A) नामक केन्द्रक अम्लो के अणुओ मे सर्वांगीण मूल योजनाए (Master Plan) निहित होती है। रिबो-न्यूक्लिक-अम्ल (Ribo nucleuic acid R N A) नामक केन्द्रक अम्लो के द्वारा इन योजनाओ की क्रियान्विति के सूत्र निर्दिष्ट किये जाते है। अन्ततोगत्वा अनेक अन्य प्रोटीनो जैसे राइ-बोसोम आदि को सरचना की जाती है या वे स्वय केन्द्रक मे पैदा होते है। डी०एन०ए० और आर०एन०ए० के अणुओ की सरचना मे शर्करा फास्फेट एव नाइट्रोजन मूलक रासायनिक पदार्थ काम मे आते हैं। डी०एन०ए० और आर०एन०ए० मे सरचना की दृष्टि से कुछ समानताएँ भी है और कुछ असमानताएँ भी। आर एन ए सम्पूर्ण कोशिका मे मिलता है किन्तु डी एन ए केन्द्रक मे ही रहता है।

युवा देह मे ६०० से १००० खरब तक की कोशिकाओ का पाया जाना आंका गया है। देह का यह अजायबघर नर कोशिका यानि शुक्राणु और मादा कोशिका यानि डिंबाणु के मिलन से निषेचित हुई कोशिका से बना होता है। यह कोशिका एक से दो, दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह के क्रम से बढती हुई नौ-दस महीनो मे मानव शिशु का रूप ग्रहण कर लेती है। मुश्किल से एक मिलीमीटर के हजारवे हिस्से जितनी बडी कोशिका मे चारो ओर की झिल्ली के अन्दर जीव द्रव्य (protoplasm) जिसे कोशिका द्रव्य (citoplasm) भी कहते है, भरा रहता है।

जीवन क्या है, इसका वैज्ञानिक उत्तर इसी केन्द्रक (nucleus) मे स्थितगुणसूत्रो (Cromosome) को बनाने वाले महा-रसायन डी० एन० ए० मे निहित है। यह महाअणु सीढी की तरह होता है जिसके डडे फॉस्फेट और राइबोज शर्करा से बनते है। पैडिया एडिनिन-थाइमिन तथा ग्वैनिन-साइटोसिन की जोडी से बनती है। इन चार रसायनो मे से कोई भी तीन मिलकर एक "शब्द" बनाते है और कई शब्द मिलकर एक अमीनो एसिड। बीस अमीनो एसिड के विविध क्रमो से तरह तरह के प्रोटीन बनते है। इस तरह डी० एन० ए० ही सभी कोशिकाओ का अधिनायक (नियत्रक) है। यह अमीबा से आदमी तक सब की कोशिकाओ मे विद्यमान है या सर्वव्यापी है। यही २३ गुण सूत्रो (cromosome) के रूप मे पिता से और २३ गुण सूत्रो के रूप मे माता से कुल ४६ गुण सूत्रो के रूप मे सतान की हर कोशिका मे मौजूद रहता है। यही उन पैतृक सस्कारो का वाहक है जिन्हे "जीन" कहते है। "जीन" नामक बहुत सूक्ष्म जीवन-तत्व आनुवाशिक गुण दोषो का सवाहक होता है। "जीन" की रचना डी० एन० ए० नामक स्कन्धो से होती है।

प्रत्येक कोशिका मे २३ युगलो मे गुणसूत्र विद्यमान होते है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इनमे केन्द्रक अम्ल (nucleuic acid) के अणुओ के रुप मे आनुवाशिक सकेत भरे होते हैं। इनमे सग्रहित सूचनाओ का आनुमानिक परिमाण यदि एक पुस्तक मे सग्रहीत किया जाय तो उस पुस्तक की पृष्ठ सख्या पाच लाख तक जा पहुचेगी।

डी० ओक्सी० रिबो केन्द्रक अम्ल (Deoxyribo nucleuic acid D N A) की सबसे बडी विशेषता यही है कि यह जीवन

मूलक रसायन होने से अपनी अनुकृतियां अर्थात् संताने बनाने मे सक्षम है। इस विशेषता के कारण वैज्ञानिक यह मानते हैं कि सृष्टि मे पहले डी० एन० ए० का उद्भव हुआ। उसके उद्भव के साथ ही जीवन के आदि रूप का भी उद्भव हुआ।

प्रकृति मे, मिलने वाले ९२ रसायनिक तत्वो मे से कुल १६ तत्वो से ही सारा चेतन जगत बना है। अपने साथ शृंखलाए और वलय बना सकने के कारण कार्बन का जीवजगत मे महत्वपूर्ण योग है। वैज्ञानिको के अनुसार मुख्यतः चार तत्वो की यह लीला हैं—कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और आक्सीजन। इनके हजारो सभावित सयोगो मे से केवल २० अमीनो एसिड की लडी से जीवन-प्रेरक प्रोटीन बने है। इन हजारो प्रोटीनो को सही समय मे सही जगह बनाने के लिये केवल चार रसायनिक अणुओ की सर्वव्यापी भाषा काफी है, जो डी० एन० ए० के रूप मे रची गयी। ओपारिन और हाल्डेन से लेकर मिलर और फाक्स तक अनेक जीव वैज्ञानिक, आज से कोई चार अरब साठ करोड वर्ष पहले पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद के एक अरब वर्षो मे जैसी परिस्थितिया रही होगी, उनकी नकल प्रयोगशाला मे करके डी० एन० ए० तो नही, लेकिन उनके पूर्वज रसायनिक अणु बना चुके है। ओपारिन और फॉक्स ने तो 'कोएसर्वेट' और 'माइक्रोस्फियर' के रूप मे कोशिका से मिलती जुलती रचनाएं भी बनाली। इस तरह इन सब का विचार है कि जीवन की नींव कुछ अणुओ के परस्पर सयोग से रखी गई। डी० एन० ए० के बनाने के लिये भी डी० एन० ए० पोलीमरेज एंजाइम की जरूरत होती है। अब वही अण्डे-मुर्गी वाला सवाल उठता है कि पहले डी० एन० ए० हुआ या पहले एंजाइम। वैज्ञानिक कहते है कि दोनो एक साथ हुए। कैसे? मात्र सयोगवश। इस अटकल का कोई प्रमाण नही है, क्योकि ३ अरब २० करोड वर्ष पूर्व के जीवाणु

तो जीवाश्मो मे मिले है। पर आदिम रसायनिक अणुओ के कोई चिन्ह् बचते हो नही भले ही वे महाअणु ही क्यो न हो। एक मिली-मीटर लम्बे डी० एन० ए० मे लगभग ३ अरब परमाणु आके गये है। इनका मॉडल बनाकर फोटो लिया जाए तो छापने के लिये १२० किलोमीटर लम्बा कागज चाहिये। आदमी की एक कोशिका मे डी० एन० ए० पर साठ अरब शब्द आके गये हैं।

हॉयल और क्रिक जैसे वैज्ञानिको ने यह भी अटकल लगाई है कि जीवन का प्रथम बीज किसी उल्का के साथ किसी अन्य ग्रह से पृथ्वी पर टपका। फ्रायड हॉयल जो कि केम्ब्रिज विश्वविद्यालय मे भौतिकी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक है, का यह भी विश्वास है कि इस सृष्टि मे आकाश गगा के बाहर किसी स्थान पर 'मनुष्य' से अधिक विकसित और बौद्धिक (intelligent) सभ्यता अवश्य ही मौजूद है। जिस तरह से हम प्रयोगशाला मे चूहो तथा कीडो को किसी बर्तन मे बन्द करके उन पर प्रयोग करते है उसी तरह हमारी पृथ्वी भी इस अज्ञात विकसित सभ्यता की प्रयोगशाला है। इससे अधिक बुद्धिमान जीव ने आकाश गगा से (हमारे सूर्य के परिवार मे)पृथ्वी पर अनुकूल वातावरण देखकर जीव का बीज बोया है। हॉयल का अनुमान है कि अज्ञात सभ्यता प्रतिक्षण पृथ्वी पर जीवन के विकास और हलचलो पर सूक्ष्म नजर रखे हुए है। हम चाहे इस अज्ञात शक्ति को न देखे पर हमे तथा हमारी एक एक हरकत को बारीकी से देखा जा रहा है। डा हॉयल का कथन है कि अज्ञात शक्ति द्वारा सूक्ष्म जीवाणुओ का आक्रमण हम पर होता रहता है। सर्दी खासी और फ्लू की बीमारी का असली कारण अज्ञात सुपर इटेलीजेन्ट (super intelligent) सभ्यता का प्रभाव है।

वैज्ञानिको के अनुसार जीव का सबसे बडा गुण प्रजनन है

और उसके अनुसार जीव जन्म लेता है और मरता है। प्रश्न उठता है कि यदि केवल अपनी जैसी सताने छोड जाना ही जीवन का लक्ष्य है तो फिर उसके बाद भी मनुष्य को तुष्टि क्यो नही मिलती ? फिर भी क्यो बेचैन रहता है आदमी ? " जीवन सर्व भूतेषु " सब प्राणियो मे जीवन "मैं हूँ" अर्थात् जिससे वे जीते है वह "मै हूँ" । यह गीता के सातवे अध्याय के नवें श्लोक मे बताया गया है। सब प्राणियो मे डी एन ए है, पर डी एन ए तो मुर्दे मे भी होता है। फिर वह क्या था, जो देह को जीर्ण वस्त्र की तरह त्याग चला गया ? शायद वह वही था, जो सब मे व्याप्त है, फिर भी जो सब को दिखाई नही दे रहा है, क्यो कि वह अमूर्त है। अमूर्त होने के कारण ऐसे रहस्यमय जीवन (आत्मा) के बारे मे विज्ञान क्या उत्तर दे पायेगा? कौन जाने कब तक यह प्रश्न अनुत्तरित रहेगा ?

सदर्भ—

"रासायनिक अणुओं की लीला"—लेखक रमेशदत्त शर्मा और डा बी एम सिंगल—धर्मयुग १३-१२-८१ से १९-१२-८१ ।

"जीवन विज्ञान"—लेखक मुनि महेन्द्र—प्रेक्षा ध्यान, फरवरी १९८३ ।

मूर्त और अमूर्त का आपसी सम्बन्ध

चेतन का अचेतन के साथ व अचेतन का चेतन के साथ या मूर्त का अमूर्त के साथ व अमूर्त का मूर्त के साथ सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है परन्तु यह मम्बन्ध कैसे हो सकता है ? यह एक प्रश्न है। चेतन (जीव) और अचेतन (कम) का सम्बन्ध वास्तव मे अमूर्त का मूर्त के साथ सम्बन्ध नही है परन्तु चेतन की सशरीर मूर्त अवस्था का मूर्त कर्म के साथ मम्बन्ध है। कर्म का कर्ता जीव अचेतन नही हो सकता वह तो चेनन ही होगा। शरीरधारी जीव अमूर्त नही हो सकता। वर्तमान मे यह जीव मूर्त है क्योकि इसके साथ सूक्ष्म शरीर–कर्माण और तैजस–बन्धे है। प्राणी की मृत्यु होने पर जीव स्थूल शरीर तो छोड देता है परन्तु तैजस और कार्माण शरीर जीव के साथ जाते हैं। जिस दिन जीव सब कर्मो से मुक्त होकर अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित होता है उस दिन चेतन अमूर्त हो जाता है और तब उसका शरीर के साथ बन्धन का कोई प्रश्न नही उठता। यद्यपि मुक्त–आत्माएं भी पुद्गल–व्याप्त आकाश मे स्थित हैं परन्तु कर्म–पुद्गल उनसे सम्बन्ध स्थापित नही कर सकते। वे यो ही लोक मे फैले हुए है। उनमे फलदान की शक्ति भी नही होती। ससारी जीवो मे कर्म–बन्धन का कारण विद्यमान होता है। अत जीव कार्माण शरीर द्वारा कर्म–पुद्गलो को ग्रहण करता रहता है। उन कर्म–पुद्गलो का आत्मा के साथ एकीभाव होता है और फलस्वरूप उनमे फल देने की शक्ति आजाती है। समय आने पर ये कर्म–पुदगल अपना फल देकर आत्मा से अलग जा पडते है।

दूध मे घृत और मिट्टी मे स्वर्ण की तरह जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से है। जैसे घृत दूध मे उपलब्ध होता है परन्तु एक बार घृत को दूध से निकालने के बाद उस घृत को पुन

दूध रूपेण परिणत करना सम्भव नही होता अथवा जैसे स्वर्ण मिट्टी मे उपलब्ध होता है पर एक बार उसे मिट्टी से अलग करने के बाद वापस उसको मिट्टी के साथ उसी रूप मे मिलाया जाना सम्भव नही है, ठीक उसी प्रकार जीव शरीर मे उपलब्ध होता है एव एक बार स्थूल व सूक्ष्म शरीरो से सम्बन्ध छूट जाने पर जीव का वापस शरीर के साथ बन्धना असम्भव है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि घृत व स्वर्ण की तरह जीव मूलत अमूर्त या शरीर रहित है परन्तु शरीर के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूपेण सश्लेष सम्बन्ध को प्राप्त होने के कारण वह अपने अमूर्तिक स्वभाव मे च्युत होता हुआ उपलब्ध होता है और इस कारण वह मूलत अमूर्तिक न होकर कथाचित मूर्तिक हो जाता है। मुक्त हो जाने पर जीव का शरीर से कोई सम्बन्ध नही रहता।

जब कर्म–पुद्गल जड हैं तो फिर वे यथोचित कर्मो का फल कैसे दे सकते हैं ? यह भी एक प्रश्न है । यह सही है कि कर्म–पुद्गल यह नही जानते कि अमुक प्राणी को आत्मा ने अमुक काम किया है इसलिए उसे उसके योग्य फल दिया जाय। किसी आत्मा की प्रवृत्ति या प्राणी की क्रिया के द्वारा कर्म–पुद्गल आकृष्ट होते है, जो शुभ भी होते हैं और अशुभ भी, उनके सयोग से प्राणी के आत्मा की वैसी ही प्रवृत्ति हो जाती है। इस कारण उस आत्मा को शुभ या अशुभ प्रवृत्ति के अनुसार फल अवश्य मिलता है। मानव को उन्मत्त बनाने की ताकत शराब मे कब आई और प्राणी को मारने की बात विष ने कब व कैसे सीखी, इन प्रश्नो का सतोषजनक हल नही निकलता फिर भी शराब पीने से नशा होता है और विष खाने से मृत्यु। पथ्य भोजन मानव को आरोग्य बनाना नही जानता और दवा रोग मिटाना नही जानती फिर भी पथ्य भोजन से स्वास्थ्य लाभ होता है और औषधि सेवन से रोग मिटता

है। अगर बाह्य रूप से ग्रहण किये हुए वस्तु-पुद्गलो का इतना असर होता है, तो आन्तरिक प्रवृत्ति से ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलो का आत्मा पर असर होने मे हमे तनिक भी सदेह नही करना चाहिये। जैसे उचित साधनो का सयोग होने से विष और औषधि दोनो की शक्ति मे परिवर्तन किया जा सकता है वैसे ही सवर, तप, ध्यान, भावो की निर्मलता, एकाग्रता आदि आत्म-शोधन साधनो से कर्मो की फल देने की तीव्र शक्ति मे परिवर्तन लाया जा सकता है। इस प्रकार की भावना से प्रेरित होकर मनुष्य साधना के क्षेत्र मे अग्रसर होता है और कर्म की विपरीत फल देने की शक्ति को कम करता है।

कर्म का उपरोक्त सिद्धान्त मनुष्य के व्यवहारिक जीवन मे आशा, उत्साह और स्फूर्ति का सचार करता है। उसको फल प्राप्ति पर पूर्ण विश्वास होने के बाद उसमे निराशा, अनुत्साह और आलस्य तो रह ही नही सकते और सुख दुख के झोके भी मनुष्य को विचलित नही कर सकते।

शरीर और चेतना का सम्बन्ध

यद्यपि शरीर और चेतना दोनो एक दूसरे से भिन्न धर्मक हैं फिर भी इनका सम्बन्ध अनादिकाल से है और वे किसी प्रकार से आपस मे एक नही बन सकते। किन्तु उनमे सामान्य गुण होने के नाते वे अभिन्न भी है और इसलिए उनमे सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। चेतना शरीर का अधिष्ठान है, निर्माता है, इसलिए इन दोनो का एक दूसरे का क्रियात्मक व प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध है।

शरीर का विकास चेतना के विकास पर आधारित है। प्रत्येक जीव मे जो जो इन्द्रियाँ और मन विकसित होते है उनकी इन्द्रियाँ और मन के ज्ञान तन्तु स्वत बनते हैं। वे ज्ञान तन्तु ही इन्द्रिय और मानस ज्ञान प्राप्त करने के साधन होते हैं। जब तक वे स्वस्थ रहते है तब तक इन्द्रियाँ और मन स्वस्थ रहते हैं। यदि ज्ञान तन्तु शरीर से निकल जाँय तो इन्द्रियो मे बोध (जानने) की क्षमता नही रहती।

आत्मा जब तक शरीर मे है, शरीर से सर्वथा भिन्न नही है इसलिये आत्मा की परिणति का शरीर पर और शरीर की परिणति का आत्मा पर प्रभाव पडता है। देह से मुक्त होने के बाद आत्मा पर शरीर की परिणति का कोई असर नही पडता, किन्तु दैहिक स्थितियो से जकडी हुई आत्मा के लिए शरीर बाधक भी हो सकता है और सहायक भी।

विषय वस्तु का ग्रहण शरीर की सहायता से होता है। जब तक शरीर पूर्ण रूप से विकसित नही होता तब तक वह विषय वस्तु को ग्रहण करने मे पूर्ण समर्थ नही बनता। मस्तिष्क व इन्द्रियो की न्यूनाधिकता होने पर ज्ञान प्राप्त करने की मात्रा मे न्यूनाधिकता होती है। इसका भी यही कारण है कि सहवर्ती अवयवो की सहायता के बिना ज्ञान का भी उपयोग नही हो सकता। देह, मस्तिष्क और इन्द्रियो के साथ ज्ञान का निमित्त कारण और कार्यभाव का सम्बन्ध है। इसलिये जब शरीर की वृद्धि के साथ ज्ञान की वृद्धि होती है तो फिर शरीर से आत्मा भिन्न कैसे ? यह एक प्रश्न है। बहुत से व्यक्तियो की देह का पूर्ण विकास सभव होने पर भी उनकी बुद्धि का पूर्ण विकास नही होता और कई व्यक्तियो की देह का अपूर्ण विकास होने पर भी बुद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है।

अत स्पष्ट है कि शरीर से आत्मा भिन्न है ।

चेतनामय होना आत्मा का गुण है । निर्जीव शरीर मे चेतना नही पायी जाती क्योकि उसमे आत्मा नही है और शरीर से शून्य आत्मा की चेतना का सामान्य व्यक्तियो को प्रत्यक्ष बोध नही होता । सामान्य व्यक्तियो को केवल शरीर-युक्त आत्मा की चेतना का ही अनुमान के द्वारा बोध होता है । चैतन्य शक्ति सत्ता रूप मे सब जीवो मे समान होती है पर उन सब मे उसका विकास समान रुप से नही होता, अपितु क्रमिक होता है ।

आत्मा के बिना चिन्तन, जप और बुद्धिपूर्ण गति अगति नही होती तथा शरीर के बिना आत्मा का प्रकाश (अभिव्यक्ति) व्यक्त नही होता । इसलिए कहा गया है कि "द्रव्य निमित्त ससारिरणा वीर्यं भुप जायते" अर्थात् ससारी आत्माओ की शक्ति का प्रयोग पुद्‌गलो की सहायता से होना है ।

चेतना का सामान्य लक्षण स्वानुभव है । जिस चेतना मे स्वानुभूति होती है, सुख दु ख का अनुभव करने की क्षमता होती है, वही आत्मा है चाहे वह अपनी अनुभूति को व्यक्त करे या न करे, उसको स्वय को व्यक्त करने के साधन मिले या न मिले परन्तु वह आत्मा तो है ही ।

शारीरिक चेतना मे इतनी अधिक शक्ति होती है या यो कहा जाय कि मानवीय मस्तिष्क का अधिक क्रियाशील व सशक्त भाग जिसे अवचेतन मन कहा जाता है इतना जागृत और क्रियाशील होता है कि जब कोई समस्या सुलझाने से नही सुलझती हो, तो मन बहुत बेचैन और व्यथित हो जाता है । ऐसे समय मे अवचेतन मन मे यकायक न जाने कहाँ से समस्या के ऐसे समाधान सूझ पडते हैं

कि हमे आश्चर्यचकित हो जाना पडता है। इसे चाहे सृष्टा की अनुकम्पा कहा जाय या अवचेतन मन की जागृत अवस्था। यह सब चेतना की शक्ति का ही परिणाम है।

चेतन जीव समाज के समतुल्य

विज्ञान की दृष्टि से एक चेतन जीव की तुलना समाज से की जा सकती है। समाज के विभिन्न सदस्यो के विभिन्न कार्य होते है। कुछ लोग बहुत असाधारण दायित्व निभाते है और अन्य दूसरे ऐसा काम करते हैं जिनमे ज्यादा दिमाग लगाने की जरुरत नही होती। लेकिन समाज के विकास मे सभी व्यक्तियो के हर तरह के कार्यो का योगदान होता है और कोई समाज चेतन और जागरूक रहे, इसके लिए यह जरुरी है कि वह अपने सभी कार्यशील सदस्यो की अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति करता रहे। इसके लिए यह भी जरूरी है कि उसके सभी सदस्यो के काम मे आपस मे गहरा तालमेल रहे। यह तो रही समाज की बात।

अब इसी दृष्टि से देह की कोशिकाओ के समुदायो को भी परखें। मानव सभी जीवो मे सबसे जटिल है। उसकी देह करोडो कोशिकाओ की बनी हुई है। ये कोशिकाएँ सब तरह के काम करती हैं। जिनके कारण देह की सभी क्रियाएँ सम्पन्न होती है। इन कार्यो को सम्पन्न करने के लिए कोशिकाओ का अ गो के रूप मे सगठित होना पडता है। आमाशय और आतो की कोशिकाएँ शरीर मे पोषण पहुँचाती है। फेफडो को कोशिकाएँ देह मे ऑक्सीजन का सचार करती है। हृदय और धमनियो की कोशिकाएँ

शरीर की हर क्रिया मे पोषण तत्व और ऑक्सीजन पहुँचाती है। शरीर के बाहर फेंकी जाने वाली छीजन को निकालने का काम गुर्दे की कोशिकाएँ करती है। हर कोशिका की सब से बडी जरूरत यह होती है कि उसके आसपास और अन्दर का वातावरण सही सीमा तक गरम रहे, सही सीमा तक नमकीन रहे और उसकी अम्लीयता का स्तर भी उचित हो। जीवन के लिए आवश्यक तापमान, लवण, सान्द्रता और अम्लीयता अथवा क्षारीयता की सीमाएँ बेहद बारीकी से नियन्त्रित की जाती है। इनमे से कुछ को नियन्त्रित करने वाली प्रक्रिया बाजार की कीमतो के उतार-चढाव की तरह काम करती है।

जिस तरह समाज मे राज्य द्वारा नियन्त्रण का काम होता है वैसे ही शरीर मे मस्तिष्क और उससे नियन्त्रित होने वाली ग्रथियो द्वारा नियन्त्रण का काम होता है। हमे स्वस्थ रखने के लिए शरीर मे इस तरह कीक रोडो नियामक क्रियाएँ चलती रहती है। जब कोशिकाओ के भीतर और बाहर का परिवेश असन्तुलित हो उठता है, तब ऐसी परिस्थितिया बनने लगती है, जो अन्त मे रोग अथवा विकृति का कारण बनती है।

रोग या जीर्णता की अनुपस्थिति मात्र ही नही बल्कि शारीरिक, मानसिक और सामाजिक दृष्टि से पूरी तरह ठीक ठाक होना ही स्वास्थ्य की निशानी है। समाज भी स्वस्थ्य तभी कहलाएगा जब कि समाज के हर व्यक्ति मे आपसी प्रेम, मेलजोल, आर्थिक व सामाजिक तालमेल नियन्त्रित हो।

सदर्भ "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" १२ से १८-६-८२, डा० रमेश बिजलानी।

त्मा की वैभाविक क्रिया और कर्मों का बन्धन

आत्मा का स्वभाव है जानना और देखना । ज्ञानानुभव और अनुभूति करना । जब आत्मा जानने और देखने की क्रिया से हट कर कोई भी अन्य क्रिया करने लगती है तब उसके साथ कर्मो का बन्धन शुरु हो जाता है । आत्मा के स्वभाव मे राग व द्वेष का मिश्रण होते ही जानने व देखने की धारा बदल जाती है और वह कर्म-बन्धन का कारण बन जाती है । हमारी कोई भी प्रवृत्ति हो चाहे मन की चाहे वचन की और चाहे हमारे शरीर की हो, अगर हमारी आत्मा राग-द्वेष से प्रेरित है तो वह कर्मो से बद्ध होगी। अगर राग-द्वेष से प्रेरित नही है तो कर्म-पुद्गल आयेंगे और चले जायेगे और आत्मा से कर्मो का बन्धन नही होगा । अन्य शब्दो मे अगर हमारी आत्मा मे राग-द्वेष रूपी आग प्रज्वलित न हो तो हम कर्म-पुद्गल रूपी ईधन डालते जाँय तो भी आग प्रज्वलित नही होगी यानि कर्म नही बन्धेगे क्योकि हमारे भीतर राग-द्वेष रूपी आग ही कर्म-पुद्गल रूपी ईधन को प्रज्वलित करती है । इन तथ्यो से यह स्पष्ट होता है कि प्रवृत्ति का निरोध कोई महत्व नही रखता । आवश्यकता है राग-द्वेष का निरोध करने की । कर्मों का बन्धन राग-द्वेष से ही होता है । मात्र किसी वस्तु का ज्ञान होने से या वासना से या सस्कारो से या स्मृति से कर्मो का सम्बन्ध स्थापित नही होता । भगवान महावीर ने इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्याय की सातवी गाथा मे कहा है -

रागो य दोषो बिय कम्म बीये, कम्म च मोहप्पभव वयान्ति ।
काम च जाई मरणस्स मूले, दुक्ख च जाई मरण वयान्ति ॥

अर्थात् राग और द्वेष दोनो कर्म-बन्धन के बीज है । वही मोह है

और मोह का मूल है राग-द्वेष। अत मोह को ही कर्मो का उत्पादक माना गया है। कर्म सिद्धान्त के अनुभवी लोग कहते है कि ससार मे प्राणी के जन्म-मरण का मूलभूत कारण कर्म है और जन्म-मरण का होना ही एक मात्र दुख है। जब तक व्यक्ति मे कषाय का अस्तित्व बना रहता है, जन्म और मृत्यु की श्रृंखला का अन्त नही होता। यह निर्विवाद तथ्य है।

* इन्द्रियस्योन्द्रियस्यार्थे राग द्वेषौ व्यवास्थितो।
तयोर्न वशभागच्छेतौ ह्यस्य परिपथिनौ॥

मनुष्य को राग-द्वेष के वशीभूत नही होना चाहिये अर्थात राग-द्वेष को लेकर उसकी किसी भी कर्म मे प्रवृत्ति या निवृत्ति नही होनी चाहिये क्योकि ये दोनो ही मनुष्य की साधन सम्पत्ति को लूटने वाले है। मोह का पराक्रम इतना प्रबल है कि मनुष्य यह जानते हुए भी कि बुरा क्या है उसे छोडने को तैयार नही होता। वह यह भी जानता है कि अच्छा क्या है फिर भी उसे करने की उसकी इच्छा नही होती।

साधक ने भगवान से पूछा —

कह चरे ? कह चिट्ठे ? कह मासे ? कह सए ?
कह भुजन्तो भासन्तो पाव कम्म न बधई ?

भगवन्! कैसे चले ? कैसे खडे हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोये ? कैसे भोजन करे ? कैसे बोलें ? जिससे कि पाप कर्म का बन्धन न हो।

भगवान ने कहा —

जय चरे जय चिट्ठे जय मासे जय सोए।
जय भुजन्तो भासन्तो पाप कम्म बधई॥

---

* गीता का कर्म-योग—'कल्याण" अक्टूबर १९८१

आयुष्मान ! विवेक से चलो, विवेक से खड़े हो, विवेक से बैठो, विवेक से सोओ, विवेक से भोजन करो और विवेक से ही बोलो तो पाप कर्म का बन्धन नही हो सकता ।

त्मा का स्वभाव और विभाव
स्वतंत्रता और परतंत्रता

आत्मा का स्वभाव चैतन्य है आनन्द और शक्ति है । चैतन्य अनावृत है यानि शुद्ध चैतन्य है । इस दृष्टि से हम स्वतत्र हैं । स्वतत्रता के कारण ही चैतन्य का, आनन्द का व शक्ति का विकास होता है । यदि चैतन्य स्वतत्र नही होता तो हमारी शक्ति का, आनन्द का विकास कभी भी नही होता । कर्म इन सब प्रकार के विकासो मे अवरोध अवश्य उत्पन्न करता है । कोई भी पुद्गल चतन्य के विकास का मूल हेतु नही बनता । केवल चैतन्य से ही चैतन्य रुप का विकास होता है ।

मिट्टी का एक घडा है । मिट्टी मे घडा बनाने का उपादान मौजूद है । उपादान का अर्थ है 'स्वतत्र सत्ता' (Basic material)। मिट्टी मे उपादान है तभी वह घडा बनाती है । मिट्टी के घड़े के रुप मे परिवर्तित होने का मूल है उपादान । उपादान को उत्पन्न नही किया जा सकता । उपादान को उत्पन्न करने की शक्ति किसी मे नही है । वह प्रकृति की देन है । उपादान वही होता है जो द्रव्य का घटक होता है । घडा बनाने मे कुम्भकार की अ गुलियो व अन्य निमित्त यानि सहायक सामग्री का होना भी आवश्यक होता है

परन्तु उपादान के बिना यानि मिट्टी के बिना घडा नही बन सकता । इस उदाहरण मे मूलभूत तत्व है मिट्टी । उसी तरह आत्मा मे ज्ञान, चैतन्य, आनन्द व शक्ति के अन्य पर्यायो को उत्पन्न करने की क्रिया मे मूलभूत वस्तु है शक्ति । कर्म कभी ऐसा उत्पादन नही कर सकते ।

हमारा चैतन्य जब कर्मों से आवृत हो जाता है तब हम स्वय को परतत्र अनुभव करते है । आत्मा का सम्बन्ध शरीर से है । हमारा शरीर है इसलिए हमे भूख लगती है । भूख लगने के कारण हमे भोजन चाहिये । केवल भूख को मिटाने के कारण आदमी को सब कुछ करना पडता है—परिश्रम, व्यवसाय, नौकरी न जाने क्या क्या ? शरीर है इसलिए काम वासना है । काम वासना की प्रवृत्ति, आहार की प्रवृत्ति हमारी परतन्त्रता की सूचक है । स्वतन्त्रता और परतन्त्रता दोनो को समझना सापेक्ष दृष्टि से ही सम्भव है निरपेक्ष दृष्टि से नही ।

मनुष्य नियति के अधीन है अथवा कर्म करने मे स्वतन्त्र है, इस प्रश्न का वेदान्त ने स्पष्ट शब्दो मे उत्तर दिया है । वेदान्त के अनुसार जब तक मनुष्य अविद्या के वशीभूत रहता है, तब तक वह स्वतन्त्र नही कहा जा सकता । मोक्ष अथवा स्वतन्त्रता (आत्म-ज्ञान) विद्या द्वारा ही सम्भव है । जो मनुष्य इच्छा, तृष्णा अथवा वासनाओ का शिकार है, वह स्वतन्त्र नही माना जा सकता । स्वतन्त्र बनने के लिए सतत साधना द्वारा उसे आत्म-साक्षात्कार करना होगा । साथ ही यह भी सत्य है कि मनुष्य की मनुष्यता इस स्वातन्त्र्य-सिद्धि मे ही है क्योकि वही एक ऐसा प्राणी है जो साधना द्वारा आत्म-सस्कार कर सकता है । पेड-पौधो, पशु-पक्षियो तथा जीव-जन्तुओ मे यह शक्ति नही कि वे मनुष्य की भाति अपना

सस्कार कर सके। वे अपनी सहज वृत्ति से ऊपर नही उठ सकते।

क्रिया करने मे आदमी स्वतन्त्र है परन्तु प्रतिक्रिया मे परतन्त्र। अनुमान करें – एक आदमी नारियल या खजूर के पेड पर चढ जाता है। चढने मे वह स्वतन्त्र है परन्तु उतरने मे स्वतन्त्र नही है क्योंकि वह चढ गया इसलिए उसे उतरना ही पडेगा। चढना क्रिया है तो उतरना उसकी प्रतिक्रिया है। उतरना कोई स्वतन्त्र क्रिया नही है। चढना व उतरना सापेक्ष क्रिया है। इसी प्रकार यदि प्राणी जन्मा है तो उसकी मृत्यु निश्चित है क्योंकि जन्म और मृत्यु सापेक्षिक है।

मोहम्मद साहब के एक शिष्य ने एक बार पूछा, "कौन से काम करने मे हम स्वतन्त्र है और कौन से काम करने मे हम परतन्त्र है? मोहम्मद साहब ने कहा, "अपना बाँया पैर उठाओ"। शिष्य ने वैसा ही किया तो मोहम्मद साहब ने पुन उसे कहा, "अब दूसरा पैर उठाओ"। शिष्य ने कहा- "यह कैसे सम्भव हो सकता है?" मोहम्मद साहब ने इस पर कहा कि बस एक पैर उठाने मे तुम स्वतन्त्र हो परन्तु दूसरे पैर को उठाने मे स्वतन्त्र नही हो। विष खाने मे आदमी स्वतन्त्र है पर उसका परिणाम भोगने मे परतन्त्र। उसी तरह आदमी कार्य करने मे स्वतन्त्र है पर उसका परिणाम भोगने मे परतन्त्र।

सदर्भ डा० कन्हैयालाल सहल — 'नियति का स्वरूप" — मुनि श्री 'हजारीमल ग्रथ।

अध्यात्मिक चेतना का विकास सुखी जीवन का आधार

हम देखते है कुछ व्यक्ति धुरन्धर विद्वान है और साथ ही वे सम्पन्न भी दिखते है, पर वास्तव मे वे बहुत अशान्त हैं। वे किसी दुख से पीडित हैं और भीतर मे धधकता हुआ सा जीवन व्यतीत करते है। हर एक समझदार व्यक्ति के दिल मे यह प्रश्न उठता है ऐसा क्यो है ? वे बुद्धिजीवी हैं। उनमे ज्ञान होने पर भी उनका मन शात नही है। उनके पास अपनी समस्याओ का सही समाधान नही है। कई वार ऐसा सुनने मे या पढने मे आता है कि एक वैज्ञानिक ने या एक बौद्धिक व्यक्ति ने आत्म हत्या कर अपने प्रखर बौद्धिक जीवन की लीला को समाप्त कर दिया। ऐसा क्यो होता है ? उनके मानस मे अ तर्द्व द पैदा होता है। वे उसको समाहित नही कर पाते। "आत्म हत्या पाप है" जैसी धार्मिक भावनाओ से मुक्ति की गति भी धीमी है। इसका मतलब है, जैसे जैसे समृद्धि बढेगी विघटन बढेगा। जैसे जैसे वैज्ञानिक तर्क, धार्मिक आस्थाओ को लीलते जायेंगे, नैतिक मूल्यो पर भ्रष्ट भौतिकवादी मूल्य हावी होते जायेंगे। समाज और विखडित होगा, विघटन और बढेगा तथा आत्म हत्या की दर कम नही होगी अपितु बढती जायेगी।

जिस तरह की मानसिक समस्याएँ एक सामान्य व्यक्ति के जीवन मे भी होती हैं उसी प्रकार की समस्याएँ बडे से बडे बुद्धिवादी के जीवन मे भी हो सकती है। ये समस्याएँ उसको प्रताडित करती है। जब वह उन समस्याओ की पीडा को सहन नही कर पाता अथवा उनका हल निकाल नही पाता तब वह आत्म हत्या करने को बाध्य होता है क्योंकि उसमे बौद्धिक चेतना

का पूर्ण रूपेण विकास तो होता है किन्तु अध्यात्मिक चेतना उसमे प्रसुप्त एव अप्रकट है इसलिए विकसित नही है और यह जागृत नही होने का कारण है। जब तक हमारे मानस मे सुषुप्त अध्यात्मिक चेतना का जागरण नही हो जाता तब तक समस्याओ के व्यूह को तोडा नही जा सकता।

बौद्धिक चेतना का विकास मस्तिष्क की शक्तियो पर निर्भर करता हैं। जब मस्तिष्क की शक्तिया प्रखर होती है तब बौद्धिक क्षमताएँ जागृत हो जाती है। जैन दर्शन के अनुसार मानव मे प्रतिभा का विकास उसके ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपक्षम होने से होता है। ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण जितना हटता जाता है उतनी ही बौद्धिक क्षमताएँ विकसित होती जाती हैं।

अध्यात्मिक चेतना का विकास होता हैं मोह कर्म का विलय होने से। जैन दर्शन के अनुसार जब मोह कर्म उपशात व क्षीण हो जाता है तब सुप्त अध्यात्मिक चेतना का विकास होता है। यदि व्यक्ति मे मोह कर्म का आवरण प्रबल हैं तो अध्यात्मिक चेतना का विकास सम्भव नही है चाहे फिर वह व्यक्ति कितना ही बडा विद्वान हो, वैज्ञानिक हो या और कुछ भी हो। मोह कर्म के अस्तित्व के कारण ही व्यक्ति मे राग-द्वेष होते है और फलस्वरूप क्रोध, मान, माया, लोभ जैसे आवेग– तथा हास्य, रति, अरति, भय, शोक जुगुप्सा (घृणा), काम वासना जैसे उप–आवेग उत्पन्न होते हैं। इनकी विद्यमानता मे व्यक्ति का विकास रुक जाता हैं। इन आवेगो का उपशमन करके ही व्यक्ति अध्यात्मिक चेतना का विकास कर सकता है।

जो व्यक्ति भौतिक जीवन जीना पसन्द करते हैं। वे केवल अपने बौद्धिक विकास की ही चिंता करते हैं और वे बौद्धिक

विकास को ही सर्वोपरि मानते हैं। जो अध्यात्मिक जोवन जीना पसन्द करते है वे चेतना के अध्यात्मिक विकास की चिन्ता करते है। वे वौद्धिक विकास की आवश्यकता मानते हुए भी उसे सर्वोपरि नही मानते। जब तक हमारी चेतना का अध्यात्मिक विकास नही हो जाता तब तक जीवन का परम साध्य उपलब्ध नही हो सकता। इसीलिए सुखमय जीवन जीने के लिए बौद्धिक विकास के साथ साथ चेतना का अध्यात्मिक विकास भी आवश्यक है। तभी मानव के जीवन मे सन्तुलन प्राप्त होता है।

आज चारो ओर जो व्यापक भ्रष्टाचार हैं वह व्यक्ति के जीवन मे अध्यात्मिक चेतना के विकास की कमी के कारण है। व्यक्ति केवल भौतिकता की ओर दौड रहा है। जैसे जैसे लालसाएँ बढती है वैसे वैसे आदमी धन बटोरने के विविध उपाय ढू ढता रहता है। फलस्वरूप अनैतिक आचरण उसके जीवन मे आता जाता है। हमारी नैतिकता की पू जी की मूल पृष्ठ भूमि है अध्यात्मिकता। इसके आधार पर ही नैतिकता विकसित होती है। बाहरी जगत की सम्पदा हमे सुविधाओ से सम्पन्न करती हैं पर भीतरी शाति नही देती। भौतिक सुविधाओ से मन की शाति (peace of mind) नहो मिलती। स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सुयश, शक्ति और सम्पति इन पाच के लिए आदमी दौडता हैं, इन्हे पाने के लिए समग्र प्रयास करता है। परन्तु क्या मन की शान्ति के बिना ये वस्तुएँ सुख दे सकती है ? इन वस्तुओ से प्राप्त होने वाला सुख या आनन्द अवास्तविक है, क्षणिक है, ऐमा प्रतीत होता है कि वह सुख आया और गया। उसमे स्थिरता नही रहती। मन एक क्षण मे प्रसन्न होता है और दूसरे क्षण मे अप्रसन्न। उसके लिए एक क्षण सुख का होता है तो दूसरा क्षण दुख हो जाता है। यदि किसी से पूछा जाय कि उसे कैसा सुख चाहिये तो वह यह कहेगा कि उसे वह सुख चाहिये

जो स्थायी व शाश्वत हो। इसलिए बाह्य जगत की अपेक्षा से अन्त-र्जगत की सम्पन्नता ही वास्तविक शांति दे सकती है। वह सम्पन्नता है व्यक्ति मे चैतन्य की प्रभुसत्ता का विकास। उससे यथार्थ जगत और प्राणी जगत दोनो प्रभावित होते हैं। वास्तविक आनन्द का स्रोत शरीर के बाहर नही है भीतर है। हमारी आत्मा ही अनन्त वास्तविक आनन्द से सम्पन्न है। चित्त, मन और अध्यवसाय जब आत्मोन्मुख होते हैं तब आनंन्द का हममे उद्भव होता है। जब वे बाहर घूमते रहते है तब बाहरी सुख तो प्राप्त हो सकता है परन्तु यथार्थ आनन्द की अनुभूति प्राप्त नही हो सकती। आनन्द या मान-सिक प्रसन्नता या मन की शांति के लिए इनका आत्मा मे विलीन होना आवश्यक है।

हमारे शरीर मे, मस्तिष्क मे जितनी भी शक्तिया निहित है वे साधना, ध्यान द्वारा विकसित होती है। यह साधना का मार्ग ही शरीर की शक्तियो के विकास का मार्ग है। साधना के माध्यम से ही सम्यक ज्ञान (Right knowledge), सम्यक दर्शन (Right faith) एव सम्यक चारित्र (Right character & conduct) एव सच्चे आनन्द के द्वार उद्घाटित होते है।

सदर्भ — आम्राटानी व्होरा—"क्यों करते हैं आत्म हत्याएँ लोग ?"
साप्ताहिक हिन्दुस्तान 10-16 अप्रेल 1983

कर्म का सामान्य परिचय

कर्म शब्द का अर्थ सामान्यतया कार्य, प्रवृत्ति या क्रिया है। कर्म-काण्ड मे यज्ञ आदि क्रियाएं कर्म रूप से प्रचलित है। पौराणिक परम्परा मे व्रत, नियम आदि कर्म रूप माने जाते है। जैन दर्शन मे कर्म का अर्थ इस प्रकार किया गया है —

आवारका अन्तराय कारकाश्च विकारका ।
प्रिया प्रियनिदानानि, पुद्गला कर्म सज्ञिता ॥

जो पुद्गल आत्मा (ज्ञान,दर्शन) को आवृत करते हैं, आत्म-शक्ति के विकास मे विघ्न डालते हैं, नष्ट करते हैं, आत्मा को विकृत करते है, प्रिय और अप्रिय मे निमित्त बनते है वे 'कर्म' कहलाते है।

जीवस्य परिणामेन, अशुभेन शुभेन च ।
सग्रहीता पुद्गला हि, कर्म रूप भजन्त्यलम् ॥

जीव के शुभ और अशुभ परिणाम से जो पुद्गल सग्रहीत होते है वे पुद्गल "कर्म" रुप मे परिणत हो जाते हैं।

"आत्मन सदसत्प्रवृत्त्याकृष्टास्तत्प्रायोग्य पुद्गला कर्म"

आत्मा की सत् एव असत् प्रवृत्तियो के द्वारा आकृष्ट एव कर्म–रूप होने योग्य पुद्गलो को कर्म कहते हैं।

कर्मों को आकर्षित करने के निमित्त कारण हैं भाव कर्म और

द्रव्य कर्म । दोनो का आपस मे सम्बन्ध है । आत्मा कभी कर्म पुद्-गलो को अपनी ओर आर्कषित नही करती क्योकि उसमे ऐसा करने की कोई शक्ति निहित नही है । किन्तु उसके पास एक माध्यम अवश्य है । वह है भाव कर्म जिसके द्वारा यह कर्म-पुद्गलो को अपनी ओर आर्कषित करता है । भाव कर्मो के द्वारा ही आत्मा की ओर द्रव्य कर्मो का आकर्षण होता है । जैन दर्शन के अनुसार जीव की राग-द्वेषात्मक प्रवृति से कर्मो का बन्ध होता है । बन्ध के साथ ही उनकी प्रकृति व स्थिति बन जाती है । जब तक वे कर्म उदय मे नही आते तब तक वे द्रव्य कर्म है और जब वे उदय मे आकर फल देते हैं तो भाव कर्म बन जाते है । साधारणतया कार्मण जाति का पुद्गल जब आत्मा के साथ मिल कर्म-रूप मे परिणत हो जाता है, द्रव्य कर्म कहलाता है और जब राग-द्वेषात्मक मनोवेगो के परिणाम को प्रकट करता है तब भाव कर्म कहलाता है । पुद्गल की पर्याय क्रिया प्रधान है और जीव की पर्याय है भाव प्रधान । इसलिए पुद्गल वर्गणाओ के पारस्परिक बन्ध से जो स्कन्ध बनते हैं वे द्रव्य कर्म है और जीव उपयोग मे रागादि के कारण ज्ञेयो के साथ जो बन्धन होता है वह भाव कर्म है । भाव कर्म है जीव मे होने वाली रासायनिक प्रक्रिया । पहली जैविक है और दूसरी पौद्-गलिक । दोनो मे आपसी सबध होता है । दोनो प्रक्रियाएँ समान रूप से प्रभावित होती हैं । द्रव्य कर्म आत्मा को प्रभावित करते है और आत्मा भी इन्हे प्रभावित करती है । इन दोनो के प्रभाव क्षेत्र मे बन्ध प्रवेश करता है । इस प्रकार आत्मा और कर्म के बन्ध का तात्पर्य है एक दूसरे के प्रभाव क्षेत्र मे आना ।

एक वस्तु का प्रभाव दूसरी वस्तु पर पडता है-यह एक सामान्य बात है । ज्योतिषियो का यह मत है कि मनुष्य के मन का स्वामी चन्द्रमा है इसलिए चन्द्रमा मनुष्य के मन को प्रभावित करता

है। प्रो० ब्राउन का मत है कि पृथ्वी सौरमडल का एक सदस्य है और चन्द्रमा पृथ्वी का ही एक उपग्रह। वैज्ञानिक दृष्टि से पृथ्वी और चन्द्रमा की उत्पत्ति सूर्य से हुई है। अत पृथ्वी को सूर्य, चन्द्रमा तथा सौरमण्डल के अन्य सदस्य जैसे मगल, वृहस्पति, शुक्र, शनि, बुध, राहु और केतु प्रभावित करते है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार जन्म लेते ही ब्रह्माण्ड के (ग्रहो आदि) प्रभाव की छाप जातक पर पड जाती है। व्यक्ति मे वही गुण-दोष होते हैं जो गुण-दोष उसके जन्म के समय प्रकृति (ग्रहो आदि) मे पाए जाते हैं। जिस काल मे कोई जन्म लेता है, वह काल उसके पूर्व-जन्म मे किये कर्मों के अनुसार होता है। जन्म-पत्री प्राणी के पूर्व-जन्म और उसके सम्भावी भविष्य का चार्ट या चित्र है। सभी नौ ग्रह अपनी विशिष्ट प्रकाश किरणो द्वारा प्रतिकूल या अनुकूल प्रभाव डालते है। ग्रह पूर्व-जन्म के शुभाशुभ कर्मो के फलस्वरूप परिणामो के सूचक है। ग्रहो की प्रकाश तरगो मे भिन्नता होने के कारण ही मानव के चरित्र तथा व्यक्तित्व मे एकरूपता नही पाई जाती। आज विज्ञान भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ग्रहो की प्रकाश किरणे विकीरण द्वारा मानव के चरित्र, स्वभाव, स्वास्थ्य तथा आदतो को प्रभावित करतो रहती हैं। ग्रहो मे सर्वाधिक प्रभाव हमारी पृथ्वी पर सूर्य का पडता है, क्योकि सौरमडल के सभी ग्रह सूर्य के चारो ओर परिक्रमा करते रहते हैं। असख्य कोशिकाओ से यह शरीर बना है। हर कोशिका के मध्य मे नाभिक (nucleus) है। इस नाभिक मे स्थित प्रोटॉन व न्यूट्रॉन हैं जिनके आसपास जीव रूपी इलेक्ट्रॉन चक्कर काटते रहते हैं और उसमे मिल जाने को व्याकुल रहते हैं। इस इलेक्ट्रॉन के तत्वो पर नौ ग्रहो का प्रभाव पडता है, जो पदार्थ की रचना के अनुसार मनुष्य को प्रभावित करता रहता है। सूर्य के भ्रमण पथ को १२ भागो मे विभाजित किया गया है, जिन्हे राशि कहते हैं। राशियो का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न ग्रहो के गुणो पर

आधारित है। ग्रह के स्वामित्व द्वारा सम्बन्धित राशि का प्रभाव प्रकट किया जाता है। जैसे मेष राशि अपने मे अपने स्वामी मगल का प्रभाव रखती हैं। १२ राशियो मे जन्मे व्यक्तियो मे ग्रहो के स्तर पर विभिन्नता होना स्वाभाविक हैं। व्यक्तियो की शारीरिक तथा मानसिक विशेषताओ मे इसीलिए अन्तर होता है। मानव की शक्ति व कमजोरियो को राशियाँ प्रकट करती है। परन्तु प्राणी स्वय अपने विषय मे अनभिज्ञ रहता है। उसकी जन्मकालीन सूर्य राशि उसके भावजगत तथा मनोजगत की कु जी प्रदान कर सकती है।

१२ राशियो तथा उससे सम्बन्धित शरीर के अ ग-प्रत्यग निम्न प्रकार हैं —

मेष राशि – सिर (चेहरा, नेत्र, दात, कान आदि)।
वृष राशि – गला, कण्ठ, चेहरा।
मिथुन राशि – वक्ष-स्थल, बाहु, कधा।
कर्क राशि – हृदय, सीना, फेफडे, कोहनी।
सिंह राशि – उदर, पीठ, बाहु का नीचे का भाग।
कन्या राशि – कमर, हाथ, उदर का वह भाग जिसमे लीवर और आतें स्थित है।
तुला राशि – किडनी, पेट के नीचे का भाग।
वृश्चिक राशि – मल व मूत्र द्वार।
धनु राशि – जाघ, नितम्ब।
मकर राशि – गेडुना।
कुम्भ राशि – नितम्ब, पैर।
मीन राशि – चरण, हड्डी।

जब हमारा सज्ञान (चेतना) आत्मा से सम्पर्क स्थापित कर

लेता है या यो कहा जाय कि इलेक्ट्रॉन नाभिक मे विलीन हो जाता है तो स्थिति बदल जाती है । उस समय व्यक्ति की क्षमता सूर्य को तरह शरीर के अणु अणु मे प्रखर हो उठती है । लौकिक दृष्टि से सूर्य के गुण-धर्म और शरीर मे जो नाभिक (nucleus) है उसके गुण-धर्म समान है । हम उस दुनिया मे जी रहे है जहा एक वस्तु का प्रभाव दूसरे पर पडता है । किसी व्यक्ति के जीवन मे कोई भी घटना अच्छी या बुरी घटित होती है तो ऐसा कहा जाता है कि ऐसा होना आकाश मे ग्रहो की स्थिति व स्वय की दशा, जो जन्म के ग्रहो पर असर करती है, उस पर निभर करता है। सृष्टि मे अदृश्य कण से लेकर विकसित जीवन सभी कुछ एक दूसरे को प्रभावित करते है । चाद, सितारे, सूरज की स्थिति, आकाश गगाएँ, चन्द्र व सूर्य ग्रहण सभी जीवन पर बहुमुखी प्रभाव छोडते है ।

ज्योतिष भाग्यवाद अर्थात् अवश्य भावित्व का समर्थन नही करता । किसी विद्वान ने कहा भी है, "केवल मूर्ख ग्रहो का अनुगमन करते है, बुद्धिमान तो उन पर नियन्त्रण करते हैं" । ज्योतिष के द्वारा किसी ग्रह के सम्बन्ध मे पूर्व जानकारी हासिल करके रक्षात्मक कायवाही करके हम सुरक्षित रह सकते हैं । अपने मनोबल तथा अध्यात्मिक शक्ति के प्रश्रय से मानव ग्रह-जनित सभी भावी समस्याओ का समाधान करने मे सक्षम है । ऐसा कहा जाता है कि जो ज्योतिष को नही मानते, वे अपने को ज्योतिष के अनुदानो से वचित रखते हैं ।

ज्योतिषियो का यह स्पष्ट 'मत है कि भारतीय ज्योतिष शास्त्र मनुष्य के कर्मो तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्तो पर आधारित है । जन्म-कुण्डली मे जन्म-जन्म से मनुष्य के भाग्य का निर्धारण होता

है और व्यक्ति के जन्म के काल मे आकाशो मे ग्रहो की जो स्थिति होनी है उसका नक्शा है जन्म-कुण्डली। बारह राशियो मे जो राशि व्यक्ति के जन्म के समय पूर्वी क्षितिज पर उदित रहती है, वही जन्म-लग्न होता है। लग्न का समय लगभग दो घटे का होता है और वह व्यक्ति की शारीरिक तथा मानसिक प्रकृति को प्रभावित करता है। ज्योतिष के अनुसार किसी नगीना (पन्ना आदि) मे यत्र या मत्र मे ऐसी कोई शक्ति नही है कि वह भाग्य विधाता के लिखे को मिटा सके परन्तु ग्रहो के असर मे कमी अवश्य कर सकता है। सृष्टि चाहे जड हो या चेतन, इन द्वादश राशियो मे सभी आ जाते है और द्वादश ही मास हैं। प्रत्येक मास मे सूर्य का उदय क्रम से राशि मे होता है। उदाहरण के रूप मे बैसाख महीने मे सूर्य का उदय मेष राशि मे होगा। यह क्रम सब पर ही लागू होता है।

सौरमंडल और शरीरः—सौरमडल से आनेवाले विकीरण हमारे प्रत्येक कार्य को प्रभावित करते है। जैसे ज्योतिष का सौर मडल है, वैसे ही अध्यात्म का भी सौरमडल है। जैसे ज्योतिष मे नव ग्रह माने जाते हैं वैसे आध्यात्म मे भी नव ग्रह सम्मत है—

ज्ञान केन्द्र	—	शनि का क्षेत्र
शान्ति केन्द्र	—	केतु का क्षेत्र
ज्योति केन्द्र	—	गुरु का क्षेत्र
दर्शन केन्द्र चाक्षुस केन्द्र प्राण केन्द्र	—	बुद्ध का क्षेत्र

(ये सभी केन्द्र गले के ऊपर मस्तिष्क मे हैं।)

विशुद्धि केन्द्र (गला)	—	चन्द्रमा का क्षेत्र

आनन्द केन्द्र(वक्ष स्थल) — मगल का क्षेत्र
तेजस केन्द्र (पेट) — सूर्य का क्षेत्र

स्वास्थ्य केन्द्र	पेट के नीचे	— शुक्र का क्षेत्र
शक्ति केन्द्र	का हिस्सा	— राहु का क्षेत्र

(अन्यत्र दिये चित्र से इनकी स्थिति स्पष्ट हो जाती है ।)

सारा सौरमडल हमारे शरीर के भीतर है । यदि कुन्डली के आधार पर यह ज्ञात हो कि अमुक ग्रह अभी शुद्ध नही है, उसकी गति हितकर नही है, उसमे परिवर्तन लाने का उपाय हमारे पास है । ज्योतिष भाग्य भरोसे बैठने का सिद्धान्त नही है । ज्योतिष के द्वारा यह जाना जा सकता है कि अमुक ग्रह का प्रभाव कैसा है । अगर विपरीत है तो जप, तप, ध्यान आदि से उस ग्रह के परिणाम मे परिवर्तन लाया जा सकता है । पुरुषार्थ का सिद्धान्त इसीलिए महत्वपूर्ण है कि उसके द्वारा भाग्य की प्रत्येक रेखा मे परिवर्तन लाया जा सकता है या उसको रूपान्तरित किया जा सकता है । ज्योतिष यह बतलाने वाला है कि अमुक घटना घटित होने वाली है । जान लेने पर, ज्ञात हो जाने पर उचित उपाय करना हमारे हाथ मे है । इसीलिए ध्यान महत्वपूर्ण है । जैसे जैसे ध्यान का विकास होता है, वैसे वैसे हमारी प्रज्ञा निर्मल होती है, शक्ति जागती है और पुरूषार्थ प्रबल होता है । ध्यान की साधना से आदमी निठल्ला नही बनता किन्तु भाग्य को बदलने वाला भी बन सकता है और वह बदलने का दायित्व अपने पर ओढ लेता है और उस पुरुषार्थ मे सर्वात्मना जुड जाता है । वह यह मानता है कि, "मैं भाग्य मे परिवर्तन ला सकता हू और परिवर्तन लाने की चाबी मुझे प्राप्त हो गयी है" ।

प्रसिद्ध अभिनेता अशोक कुमार अपने अनुभव के अनुसार

लिखते हैं, "हाँ ग्रहो की स्थिति का असर आदमी पर पडता ही है। ये आदमी की प्रवृत्ति, प्रतिभा, सबको प्रभावित करते है, इतना ही नही, उसके कर्म के फल को भी प्रभावित करते है। मान-सम्मान, उन्नति-अवनति, सब कुछ ग्रहो की स्थिति पर निर्भर करता है। अशोक कुमार आगे लिखते है "ज्योतिष एक सम्पूर्ण विज्ञान (perfect science) है। मगर इसके लिए बहुत परिपूर्णता (accuracy) और अन्तर्ज्ञान (Intuition) की जरूरत होती है और सहज ज्ञान तभी सही होता है, जब आदमी सासारिक इच्छाओ जैसे लोभ, मोह आदि से अनासक्त(detached) रहता है। इसलिए वृद्धावस्था मे यह ज्यादा सही साबित होता है"।

सदर्भ

१ प चन्द्रदत्त शुक्ल — "ज्योतिष का योगदान" — मनोरमा ८3
२ शारदा — हिन्दी एक्सप्रेस — ४-१-८१
3 अशोक कुमार — धर्मयुग — २६-१२-८१
४ ज्योतिषी रतनचन्द धीर — धर्मयुग — २१ से २७-3-८२
५ युवाचार्य महाप्रज्ञ — सम्बोधि श्लोक ३४ व ३५
६ युवाचार्य महाप्रज्ञ—ध्यान एक परम पुरुषार्थ—प्रेक्षा ध्यान—अप्रेल मई ८२
७ वी एस वेंकटरमन - धर्मयुग २१ से २७-3-८२

कर्म–पुद्गल आत्मा से कैसे आकर्षित होते है ?

जैन दर्शन के अनुसार यह समूचा लोकाकाश कर्म की सूक्ष्म वर्गणाओ से खचाखच भरा पडा है और यह कर्म-पुद्गल स्वतत्र रूप से विचरण करते है । साथ ही विभिन्न प्रकार के भौतिक पर– माणु भी इसी लोकाकाश मे भरे पडे है । हाइड्रोजन गैस के परमाणु, आक्सोजन गैस के परमाणु, नाइट्रोजन गैस के परमाणु और न जाने कौन कौन से परमाणु इस लोकाकाश मे स्थित है । अन्य प्रकार की भौतिक गैसे भी इसो लोकाकाश मे ही हैं । इन भौतिक परमाणुओ के कई वर्ग हैं । विश्व के प्रत्येक पदार्थ मे परमाणु होते है । सभी तरह के परमाणुओ मे अपने अपने प्रकार के अनुरूप एक विशेष सत्ता होती है । उनकी निजी अलग अलग विशेषताएँ होती है, पृथक पृथक क्षमताएँ होती है । इसी प्रकार जो कर्म-वर्गणाएँ कह– लाती है और कर्म के कई रूप मे बदली जा सकती हैं उनकी भी अपनी विशिष्टता है । यह कर्म-पुद्गल ही हमारी आत्मा की ओर आकर्षित होते है । हम जहा कही भी हो, आसपास के आकाश मडल से ये कम-पुद्गल हमारी आत्मा की ओर आकर्षित होकर उससे चिपक जाते है । कैसे? जैसे ही हममे राग–द्वेष की अनुभूति हुई, भाव चित्त बना, हमारी प्रवृत्ति के द्वारा, चचलता के द्वारा, आश्रव के द्वारा, भाव कर्म के द्वारा ये कर्म-पुद्गल आकृष्ट होकर हमारी आत्मा के प्रभाव क्षेत्र मे आकर आत्मा से सहबद्ध हो जाते है । कुछ देर पहले जो कर्म-पुद्गल अपने स्थान पर थे और उस समय हम अपने स्थान पर थे परन्तु जैसे ही हमारी रागात्मक व द्वेषा त्मक प्रवृत्ति हुई वैसे ही वे कर्म-पुद्गल हमारी आत्मा से आकर्षित्त होकर आत्मा से बध जाते है और एक दूसरे का परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । हमारे भीतर जो राग-द्वेष की चिकनाहट है वही कम-पुद्गलो को पकड लेती है, बाध लेती है । दीवार पर हम

सूखी धूल फेंकते हैं और यदि दीवार पर चिकनाहट नही है तो धूल दीवार पर नही चिपकेगी। वह तुरन्त गिर जाएगी परन्तु यदि धूल गीली है तो दीवार पर कुछ देर चिपकेगी और सूखने पर गिर जाएगी। परन्तु दीवार स्वय मे वस्तु को चिपकाने की शक्ति है यानि स्वय चिकनी है तो वह धूल को अपनी चिकनाहट मे पकड कर अपने से चिपका लेगी। इसी प्रकार राग-द्वेप मे अपने मे चिपकाने की शक्ति है और राग-द्वेष रूपी चिकनाहट के कारण कर्म-पुद्गल आत्मा से चिपक जाते हैं। व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे या तो राग की उत्तेजना होती है या द्वेष की जिसके कारण कम-पुद्गल आत्मा को स्वय के साथ बाँध लेते है। कम-पुद्गलो के सयोग से ही आत्मा की आँतरिक योग्यता आच्छादित होकर विकृत हो जाती है। इन कम-पुद्गलो से पूर्ण रूपेण अलगाव से ही आत्मा की प्रकृति का शुद्ध स्वरूप निखर उठता है।

भोजन, औषधि, विष, मदिरा आदि भी पौद्गलिक पदार्थ हैं और अपनी परिपाक दशा मे प्राणियो पर प्रभाव डालते हैं। कर्म-पुद्गल भी अपनी परिपाक दशा मे प्राणियो पर अपनी छाप विशेष अवश्य डाल देते हैं। भोजन आदि के ग्रहण की प्रवृत्ति स्थूल होती है इसलिए इस सम्बन्ध का ज्ञान स्पष्ट होता है। प्राणी द्वारा कर्म-पुद्गल के ग्रहण की प्रवृत्ति सूक्ष्म होती है इसलिए उसका ज्ञान पूर्ण रूप से हमे स्पष्ट नही हो पाता। हम जो भोजन करते हैं औषधि सेवन करते है, उसके परिणामो के बारे मे जानने के लिए जैसे शरीर विज्ञान का अध्ययन करना आवश्यक है उसी तरह कर्म-पुद्-गलो के परिणामो को समझसे के लिए कम-सिद्धान्त का अध्ययन करना आवश्यक है। भोजन का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से शरीर पर होता है और परोक्ष रूप से आत्मा पर। कर्म-पुद्गलो का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से आत्मा पर होता है और परोक्ष रूप से शरीर पर।

पौष्टिक भोजन करने से शरीर का पोषण होता है अपौष्टिक भोजन करने से कुपोषण। यदि दोनो मे से किसी भी प्रकार का भोजन न किया जाय तो प्राणी की मृत्यु का होना सम्भव है। कर्म पुद्गल के सम्बन्ध मे भी यही विधि लागू होती है। पुण्य-कर्म से आत्मा को सुख, पाप-कर्म से आत्मा को दुख का बोध होता है और दोनो के आशिक विलय से आत्मा की आशिक मुक्ति या आशिक विकास होता है और पूर्ण विलय से आत्मा की कर्म-बन्धन से पूर्ण मुक्ति या पूर्ण विकास होता है। भोजन आदि के परिपक्व होने की अवस्था जैसे देश, काल सापेक्ष होती है वैसे ही कर्मो के विपाक मे आने की अवस्था भी द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव और भव सापेक्ष होती है।

जैन दर्शन कर्म को एक स्वतन्त्र तत्व मानता है। कर्म-बन्धन और कुछ नही एक क्रिया की प्रतिक्रिया है। हर कार्य के पीछे कारण होता हैं। मनुष्य की आन्तरिक शक्ति के विकास का तारतम्य स्पष्ट है किन्तु उसकी पृष्ठ भूमि मे रहा हुआ कारण अदृश्य है। वही कर्म है। जो तारनम्यता है उसका कारण परिस्थिति जन्य माना जाता है। परिस्थिति निमित्त कारण हो सकती है पर वह मूल कारण नही है। जैसे अ कुर का मूल कारण बीज है और उसे जमीन व जल मिलने से उसमे अ कुर फूटता है उसी तरह विकास का तारतम्य परिस्थिति से अवश्य प्रभावित होता है परन्तु परिस्थिति उसका मूल कारण नही हैं, उसका मूल कारण तो कर्म है।

जैन दर्शन मे साधक और साधना का महत्व

जैन दर्शन मे साधक और साधना का क्या महत्व है इसे भी जानना आवश्यक है क्योकि साधना की प्रक्रिया जिस पर जैन दर्शन मे बल दिया गया है, का कर्म-सिद्धान्त से महत्वपूर्ण सम्बन्ध है और साधना का प्रभाव व्यक्ति के कर्म के क्षेत्र मे पडे बिना नही रह सकता। साधना एक प्रकार की अध्यवसायी आत्मिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति का अध्यात्मिक विकास होता है। हमे यह देखना है कि साधना के क्षेत्र मे कुशल साधक कौन है? सभवतया कुशल साधक वह व्यक्ति होता है जो कर्म, कर्म-बन्धन के बीज, कर्म-बन्धन और उसके हेतु, मुक्ति और मुक्ति के हेतु आदि तथ्यो को पूर्ण रूप से जानता है। जो इन सब बातो को भली भाति जानकर कर्मो के विपाक मे आने के पूर्व स्वय चिकित्सक बन जाता है वही कुशल साधक होता है। कर्म सम्बन्धी तथ्यो को जानने का दूसरा कारण यह है कि बिना उन्हे जाने और बिना उसके सिद्धान्त को प्रयोग मे लाये व्यक्ति का अध्यात्मिक विकास साधारण रूप से भी सम्भव नही लगता। कर्म-बन्धन का रूप चाहे अच्छा हो या बुरा, अध्यात्मिक विकास मे किसी भी स्तर पर बाधक हो सकता है। इसलिये कर्म-बन्धन और उसके हेतु के बारे मे पूर्ण रूप से जानकारी होना जरुरी है।

कर्म-बन्धन का बीज है राग-द्वेष। जब तक राग-द्वेष रूपी विकार की उत्पत्ति के बारे मे हमे ज्ञान नही होता तब तक राग-द्वेष से होने वाले परिणामो को नही जाना जा सकता। यदि हमने कर्म-सिद्धान्त को समझ लिया एव कर्म-बन्धन के बीज को भी जान

लिया परन्तु यदि हमने कर्म-बन्धन से मुक्ति और मुक्ति के हेतु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नही किया तो कर्म-बन्धन रूपी रोग की चिकित्सा पूर्ण रूपेण नही हो सकती। इसलिए अपने अध्यात्मिक विकास के लिए साधक को कर्म, कर्म-बन्धन के हेतु, मुक्ति और मुक्ति के हेतु इन चारो बातो के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त कर आवश्यकतानुसार प्रयोग मे लाना जरुरी है। कर्म-बन्धन के हेतु हैं मुख्यत कषाय। जब कषायो की प्रबलता होती है तब कर्म-परमाणु अधिक सख्या मे एव अधिक काल तक आत्मा से चिपके रह सकते है और अपना फल तीव्रता से दे सकते है। जब व्यक्ति मे कषाय रूपी मनोवेग निर्बल होते है तो कर्म-बन्धन भी बलवान न बना रहकर क्षीण पड जाता है। कर्म-बन्धन से मुक्ति का हेतु है सवर और निर्जरा। धार्मिक प्रवृत्ति से सवर (निरोध) की स्थिति उत्पन्न होती है और तप के द्वारा कर्मो के क्षय की स्थिति उत्पन्न होती है।

पाप कर्मों को दो भागो मे विभक्त किया गया है –घात्य कर्म और अघात्यकर्म। घात्य, घाति या घनघाति ये तीनो पर्यायवाची शब्द है। आत्मा के मौलिक गुणो की घात करने वाले कर्म घात्य या घाति कहलाते है। सघन प्रयत्न के द्वारा ही इन कर्मो की घात हो सकती है इसलिये इन्हे घनघात्य भी कहा जात [illegible] पाप की आठ प्रकृतियो मे घात्य कर्मो की चार प्रकृतिया [illegible] दर्शनावरण, मोह और अन्तराय। इन चार प्रकृति [illegible] देने के बाद भी प्राणी की मुक्ति नही होती क्योकि [illegible] कर्म–प्रकृतियो के बन्धन को नही तोड सका है। केवली भी जब तक इन प्रकृतियो से मुक्त नही होते [illegible] आयु भोगने हेतु इस ससार मे निरक्त रूप से रहना [illegible] अघात्य कर्मों की चार पाप [illegible] हैं – असातावेद [illegible] नाम, नीच गोत्र और अ [illegible] ये प्रकृतिय

मौलिक गुणो की घात तो नही करती फिर भी उसके भव भ्रमण मे इनका पूरा पूरा हाथ रहता है। इस दृष्टि से इन्हे भवोपग्राही कर्म भी कहा जाता है। जैसे अघात्य कर्मों की चार पाप प्रकृतियाँ है वैसे ही चार पुण्य प्रकृतिया है –सातावेदनीय, शुभ नाम, उच्च गौत्र और शुभ आयुष्य। कोई भी ससारी प्राणी तब तक ही ससार मे टिक सकता है जब तक पुण्य और पाप की ये चार-चार प्रकृतिया अस्तित्व मे रहती है।

ये आठ प्रकार के कर्म आत्मा के गुणो को प्रकट होने से रोकते हैं। इन आठ प्रकार के कर्मो का उन्मूलन होने पर ही आत्मा सर्वज्ञ या सर्वदर्शी बन सकने की अवस्था तक पहुँच सकती है। आत्मा के गुण और उनको प्रकट होने से रोकने वाले आठ कर्मो की व्याख्या निम्न प्रकार है —

१ केवल ज्ञान— ज्ञानावरणीय कर्म। ससार मे जितनी आत्माएँ हैं उन सब मे अनन्त ज्ञान विद्यमान है, परन्तु जब तक ज्ञाना-वरणीय कर्म क्षीण नही होता तब तक ज्ञान कर्म से आवृत्त रहता है। इस कर्म के क्षीण होने से ही केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है।

२ केवल दर्शन— दर्शनावरणीय कर्म। यह भी ज्ञान की भाति सब आत्माओ मे विद्यमान है। इस गुण को आवृत्त करने वाला कर्म-पुद्‌गल दर्शनावरणीय कर्म है। इस कर्म के क्षीण होवे से हीं केवल दर्शन की प्राप्ति होती है।

३ आत्मिक सुख— वेदनीय कर्म। वेदनीय-कर्म के क्षीण होने से हो आत्मिक सुख मिलता है।

४ सम्यक् श्रद्धा— मोहनीय कर्म। इस कर्म के टूटने पर ही सम्यक् श्रद्धा मिलती है।

लिया परन्तु यदि हमने कर्म-बन्धन से मुक्ति और मुक्ति के हेतु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नही किया तो कर्म-बन्धन रूपी रोग की चिकित्सा पूर्ण रूपेण नही हो सकती। इसलिए अपने अध्यात्मिक विकास के लिए साधक को कर्म, कर्म-बन्धन के हेतु, मुक्ति और मुक्ति के हेतु इन चारो बातो के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त कर आवश्यकतानुसार प्रयोग मे लाना जरुरी है। कर्म-बन्धन के हेतु है मुख्यत कषाय। जब कषायो की प्रबलता होती है तब कर्म-परमाणु अधिक सख्या मे एव अधिक काल तक आत्मा से चिपके रह सकते है और अपना फल तीव्रता से दे सकते है। जब व्यक्ति मे कषाय रूपी मनोवेग निर्बल होते है तो कर्म-बन्धन भी बलवान न बना रहकर क्षीण पड जाता है। कर्म-बन्धन से मुक्ति का हेतु है सवर और निर्जरा। धार्मिक प्रवृत्ति से सवर (निरोध) की स्थिति उत्पन्न होती है और तप के द्वारा कर्मो के क्षय की स्थिति उत्पन्न होती है।

पाप कर्मो को दो भागो मे विभक्त किया गया है–घात्य कर्म और अघात्यकर्म। घात्य, घाति या घनघाति ये तीनो पर्यायवाची शब्द है। आत्मा के मौलिक गुणो की घात करने वाले कर्म घात्य या घाति कहलाते हैं। सघन प्रयत्न के द्वारा ही इन कर्मो की घात हो सकती है इसलिये इन्हे घनघात्य भी कहा जाता है। पाप की आठ प्रकृतियो मे घात्य कर्मो की चार प्रकृतिया है–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय। इन चार प्रकृतियो का क्षय कर देने के बाद भी प्राणी की मुक्ति नही होती क्योकि वह भवोपग्राही कर्म–प्रकृतियो के बन्धन को नही तोड सका है। तीर्थंकर और केवली भी जब तक इन प्रकृतियो से मुक्त नही होते उन्हे अपनी शेष आयु भोगने हेतु इस ससार मे विरक्त रूप से रहना पडता है। अघात्य कर्मों की चार पाप प्रकृतिया हैं – असातावेदनीय, अशुभ–नाम, नीच गोत्र और अशुभ आयुष्य। ये प्रकृतिया आत्मा के

मौलिक गुणो की घात तो नही करती फिर भी उसके भव भ्रमण मे इनका पूरा पूरा हाथ रहता है। इस दृष्टि से इन्हे भवोपग्राही कर्म भी कहा जाता है। जैसे अघात्य कर्मों की चार पाप प्रकृतियाँ है वैसे ही चार पुण्य प्रकृतिया है —सातावेदनीय, शुभ नाम, उच्च गोत्र और शुभ आयुष्य। कोई भी ससारी प्राणी तब तक ही ससार मे टिक सकता है जब तक पुण्य और पाप की ये चार-चार प्रकृतिया अस्तित्व मे रहती हैं।

ये आठ प्रकार के कर्म आत्मा के गुणो को प्रकट होने से रोकते हैं। इन आठ प्रकार के कर्मो का उन्मूलन होने पर ही आत्मा सर्वज्ञ या सर्वदर्शी बन सकने की अवस्था तक पहुँच सकती है। आत्मा के गुण और उनको प्रकट होने से रोकने वाले आठ कर्मो की व्याख्या निम्न प्रकार है —

१ केवल ज्ञान— ज्ञानावरणीय कर्म। ससार मे जितनी आत्माएँ हैं उन सब मे अनन्त ज्ञान विद्यमान है, परन्तु जब तक ज्ञाना-वरणीय कर्म क्षीण नही होता तब तक ज्ञान कर्म से आवृत्त रहता है। इस कर्म के क्षीण होने से ही केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है।

२ केवल दर्शन— दर्शनावरणीय कर्म। यह भी ज्ञान की भाति सब आत्माओ मे विद्यमान है। इस गुण को आवृत्त करने वाला कर्म-पुद्गल दर्शनावरणीय कर्म है। इस कर्म के क्षीण होने से ही केवल दर्शन की प्राप्ति होती है।

३ आत्मिक सुख— वेदनीय कर्म। वेदनीय- कर्म के क्षीण होने से ही आत्मिक सुख मिलता है।

४ सम्यक् श्रद्धा— मोहनीय कर्म। इस कर्म के टूटने पर ही सम्यक् श्रद्धा मिलती है।

५ अटल अवगाहन— आयुष्य कर्म । इस कर्म के समाप्त होने पर ही अटल अवगाहन का गुण आत्मा मे आता है ।

६ अमूर्तिकपन— नाम कर्म । नाम कर्म के उदय से ही शरीर मिलता है । शरीर समाविष्ट अमूर्त आत्मा भी मूर्त सी प्रतीत होने लगती है ।

७ अगुरूलघुपन(न छोटापन, न बडापन)— गोत्र कर्म । गोत्र कर्म क्षीण होता है तो फिर छोटापन, बडापन का प्रश्न नही उठता ।

८ लब्धि— अन्तराय कर्म । ज्यो ही अन्तराय कर्म क्षय होता है तो आत्मा मे क्षायिक लब्धि प्राप्त होती है ।

उपरोक्त आठ प्रकार की कम प्रकृतियो मे मोहनीय कर्म की प्रकृति मोक्ष मार्ग मे प्रधान रूप से वाधक है क्योकि ससार मे भ्रमण का मूल कारण मोह ही है और उसके विच्छेद होने पर ही जीव कर्मो के बन्धन से मुक्त हो सकता है । कर्म-बन्धन का मूल है मोह । मोह वह छलना है जो आत्मा को विमूढ बना देता है । तब उसमे योग्य अयोग्य बातो का विचार नही रहता । कामनाओ का उत्स है मोह । मोह की सघनता से कामनाएँ बढती है । ज्यो-ज्यो मोह क्षीण होता है कामनाएँ क्षीण होती जाती है । मोह कर्म का जब विपाक होता है, तब राग-द्वेष का चक्र चलने लगता है, विभिन्न प्रकार की वासनाएँ उभरती है, भय जागता है तथा अन्य प्रकार के आवेग भी कार्यरत हो जाते है । मोहनीय कर्म ग्यारहवे गुणस्थान तक रहता है । ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्त-राय कर्म का अस्तित्व बारहवे गुणस्थान तक रहता है । शेष चार भवोपग्राही कर्म चौदहवें स्थान के अन्तिम समय तक बने रहते हैं । चौदहवे गुणस्थान को पार करना, चार अघात्य कर्मो को क्षीण करना और मुक्त होना ये सब काम एक साथ एक समय मे घटित

हो जाते है। वीतराग अवस्था मे मोह का पूर्ण विलय हो जाता है। अत वीतराग कामनाओ से मुक्त होते है। यह एक विचित्रता है कि जो मन मोह के चगुल मे आकर आत्मा को कर्म वधन मे डालता है वही मन विवेक द्वारा सञ्चालित होने पर आत्मा को मोह के बन्धन से विमुक्त भी करता है। उत्तराध्ययन सूत्र २९/७१ मे इस विषय से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर; —

श्री गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा, "भगवन्! कर्म कौन बाधता है? सयत, असयत अथवा सयतासयत।"

भगवान ने कहा, "गौतम! सयत्, असयत और सयतासयत ये सब कर्मो का बन्धन करते हैं। दसवे गुणस्थान तक के अधिकारी पुण्य और पाप दोनो का बन्ध करते है और ग्यारहवें से तेरहवे गुण स्थान तक के अधिकारी केवल पुण्य का बन्धन करते हैं।"

* आगे और एक प्रश्नोत्तर है – "भन्ते! राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन के ऊपर विजय पाने से जीव क्या प्राप्त करता है?"

उत्तर – "राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन के ऊपर विजय पाने से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है। आठ कर्मो मे जो कर्म ग्रन्थि (घातम कर्म) है उसे खोलने के लिए वह उद्यत होता है। वह जिसे कभी भी पूर्णत क्षीण नही कर पाया उस अट्ठाईस प्रकार की प्रकृति वाले मोहनीय कर्म को क्रमश पूर्णरूप से क्षीण करता है, फिर वह पाँच प्रकार की प्रकृति वाले ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार की प्रकृति वाले दर्शनावरणीय और पाँच प्रकार की प्रकृति वाले अन्तराय इन तीनो विद्यमान कर्मो को एक साथ क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण,

* शाश्वत स्वर, प्रेक्षाध्यान, जुलाई १९८१।

निरावरण, तिमिर रहित, विशुद्ध लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान और केवल दर्शन का उपार्जन करता है। जब तक वह सयोगी होता है तब तक उसके ईर्या-पथिक-कर्म का बन्ध होता है। वह बन्ध सुखस्पर्श (पुण्य मय) होता है। उसकी स्थिती दो समय की होती है और तीसरे समय मे वह भी निर्जीर्ण हो जाती है। वह कर्म-बद्ध होता है, स्पष्ट होता है उदय मे आता है, भोगा जाता है और अन्त मे अकर्म भी हो जाता है।"

इस तरह कर्मों के विपाक मे आने का यह चक्र निरन्तर घूमता रहता है। प्रश्न होता है कि आत्मा से कर्मों का बन्धन क्यो होता है? बन्धन करने वाला कौन है? जैन दर्शन के अनुसार आत्मा स्वय कर्त्ता है। आत्मा स्वय ही बधती है और स्वय के पुरूषार्थ से ही मुक्त होती है। उसे बाधने वाला और मुक्त करने वाला और कोई नही है। यहा प्रति-प्रश्न उत्पन्न होता है कि बधने और मुक्त होने मे आत्मा स्वतत्र है तो वह बधेगी क्यो? बधने मे उसका कोई लाभ तो है नही फिर इसका क्या औचित्य है? मगर प्रश्न औचित्य का नही, नियम का है। आत्मा पहले से ही कर्मों से आबद्ध है। पूर्व बन्धन की प्रेरणा से आत्मा मे स्पन्दन होता है। स्पन्दन से सत्, असत् की प्रवृत्ति होती है और उससे नया बन्धन होता है। बन्धन की यह प्रक्रिया अनादिकाल से चली आ रही है और तब तक चलती रहेगी जब तक आत्मा विकास (गुणस्थान) की चौदहवी अर्थात् अन्तिम भूमिका तक नही जाएगी।

कर्मों को हमने बाध लिया (कर्म बध गये)। हमारे ही अज्ञानवश, प्रमादवश, हमारी ही भूलो के कारण कर्म आकर आत्मा से चिपक गये। वे परिणाम देने वाले हैं। उनका विपाक काल है। हम जागरूक हो जाएँ। हमारी प्रमाद की नीद टूट जाए। हमारी

चेतना की कुछ रश्मिया आलोकित हो जायँ। विपाक होता है कारणो से। निमित्तो के बिना विपाक नही हो सकता। कर्मो को विपाक मे आने के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव आदि की आवश्यकता होती है। इन सभी का जब योग मिलता है तब कर्मो का विपाक होता है। हम साधना के माध्यम से इन विपाको मे परिवर्तन ला सकते है। किन्तु यह तभी सभव है जब हम कर्मो की प्रकृतियो और स्वभावो को ठीक ठीक समझ ले। साथ साथ यह भी समझ लें कि कौनसा उपाय करने से कर्मो के विपाक से सम्बन्धित परिवर्तन लाया जा सकता है।

उदाहरण के तौर पर वेदनीय कर्म को ले। इसकी दो प्रकृतिया हैं साता वेदनीय और असाता वेदनीय। सुख का वेदन भी होता है और दुख का भी। प्रीत्यात्मक अनुभूति भी होती है और अप्रीत्यात्मक अनुभूति भी। प्रश्न उठता है कि असाता वेदनीय कर्म का उदय होता क्यो है? उसके उदय के अनेक कारण हैं। पत्थर से ठोकर लगी कि पैर मे दर्द हो गया। असाता वेदनीय कर्म का उदय हो गया। भूख से अधिक भोजन कर लिया अजीर्ण हो गया। मन विक्षुब्ध हो गया और साधना करने मे नही लगता। यह भी हमारे कर्म-पुद्गल का प्रभाव है। इसलिए यह कहा जाता है कि भोजन की मात्रा मे नियमन करना चाहिये। अगर तामसिक भोजन कर लिया और साधना मे बैठ गये, सामायिक मे बैठ गये तो ध्यान मे मन नही लगेगा। इसलिए यह आवश्यक है कि हम विपाको के निमित्तो पर भी ध्यान दें। हम क्या खाये, कितना खाये, कैसे खायें, कैसे बैठे, किस वातावरण मे रहे ताकि हमारी साधना मे, सामायिक मे बाधा उपस्थित न हो। ये बाते महत्वपूर्ण हैं और इनके प्रति हर समय हम जागरूक रहे।

कुछ बातें ऐसी होती हैं जिन पर हमारा वश चल सकता है

अन्य कुछ ऐसी भी है जिन पर हमारा नियन्त्रण नही हो सकता। कभी कभी प्राकृतिक वातावरण ऐसा बन जाता है जैसे बहुत तेज गर्मी, बहुत ज्यादा सर्दी, आधी और तूफान, अधिक वर्षा इत्यादि जिन पर हमारा वश नही चलता। ऐसी विषम परिस्थितियों मे भी साधक अपने मन को, चित्त को ध्यान आदि से केन्द्रित कर कष्ट सहिष्णुता का अभ्यास करे। इस तरह का अभ्यास करना साधक के लिए बहुत आवश्यक है। जा साधक कष्ट-सहिष्णु नही होता, कठिनाइयो को नही झेल सकता, वह न तो कुशल साधक बन सकता है और न वह कर्म रूपी शत्रु के अ तरग चक्रव्यूह को तोडने मे सफल हो सकता है। जीवन मे द्वन्द आते है। कभी सुख का अनुभव होता है तो कभी दुख का। कभी अनुकूल परिस्थितियो की हवा बहती है तो कभी प्रतिकूल परिस्थितिया भी जीवन मे आती है। कभी प्रशसा होती है तो कभी निन्दा भी। कभी हमे कई प्रकार की उपलब्धियाँ भी होती हैं तो कभी बहुत बडी हानि भी उठानी पडती है। जब तक इनको सहन करने की क्षमता होती है तब तक साधना सभव है और कर्म रूपी शत्रु के व्यूह को तोडा जा सकता है। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो मे सम रहना आवश्यक है ही परन्तु साधना करते समय बहुत हर्ष होना भी अवाछनीय है। यदि सारे सयोग अनुकूल है और वे एक दिन अकस्मात् साधक से छिन जाते है तो ऐसी कठिन परिस्थिति मे भी समता रखने की चेतना साधक मे जागृत होनी चाहिये। इस तरह यदि साधक जीवन की परिस्थितियो के प्रति हर समय जागरूक रहे तो कर्मो के विपाक मे या कर्मो के उदय मे अवश्य ही परिवर्तन लाया जा सकता है।

अनन्त भव भ्रमण के बाद व्यक्ति मे निराशा होना स्वाभाविक है। वह सोचता है कि कब ये अनन्त अनन्त कर्म-वर्गणाएँ

नष्ट होगी और वह शुद्ध बुद्ध बनेगा। उन निराश व्यक्तियो के लिए जयाचार्य (तेरापथ सप्रदाय के चतुर्थ आचार्य) कहते है कि सूखे तृण के ढेर को जलाने के लिए दावानल की जरूरत नही होती केवल चिनगारी ही काफी है। कर्म–ईधन के उस पर्वत तुल्य ढेर को खत्म करने के लिए भावना रूपी चिनगारी ही पर्याप्त है। इस तथ्य को प्रकट कर रही है उनकी ये पक्तियाँ —

सूखो तृण पूलो जिम अग्नि विखेहो रे।
शीघ्र भस्म हुवैं, तिम कर्म दहेहो रे॥ भावे भावना
जिम तप्त तवे जल–बिन्दु बिललावे रे।
तिम दुख समचित सह्या अघ क्षय थावे रे॥ भावे भावना

जिस प्रकार अग्नि मे डाला हुआ शुष्क तृणो का समूह शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे ही कर्मो का दहन हो जाता है। जैसे गर्म तवे पर जल–बिन्दु शीघ्र लुप्त हो जाता है, वैसे ही कर्म क्षय हो जाते हैं।

यदि हमारे सवेदन केन्द्र को हम अपनी समता की भावना से प्रभावित करते हैं तो वेदना–जनक स्थिति मे भी कष्टानुभूति नही होती।

सदर्भ – जयाचार्य "आराधना की आठवीं ढाल" प्रेक्षाध्यान जून ८१.

कार्मण शरीर

कर्म जगत का सम्बन्ध भौतिक स्थूल शरीर से नही होकर उस सूक्ष्म शरीर से है जो इस दृश्य शरीर के भीतर है। शरीर पाच प्रकार के है —

औदारिक शरीरः—अस्थिमय या दृश्य शरीर। यह आहार के परमाणुओ से निर्मित होता है। औदारिक शरीर मे हाड, मास, रक्त आदि होते है और इसका स्वभाव है गलना, सडना एव विनाश होना। मोक्ष की प्राप्ति औदारिक शरीर से ही हो सकती है। औदारिक शरीर आत्मा से अलग हो जाने के बाद भी टिक सकता है परन्तु अन्य शरीर आत्मा से अलग होते ही विखर जाते है।

वैक्रिय शरीरः—विविध रूप निर्माण मे समर्थ शरीर। इस शरीर मे हाड, मास, रक्त नही होता है और मरने के बाद कपूर की तरह उड जाता है। इस शरीर मे छोटापन, बडापन, सूक्ष्मता स्थूलता, एक रूप, अनेक रूप आदि विविध क्रियाएँ की जा सकती हैं।

आहारक शरीरः—यौगिक लब्धि से प्राप्त शरीर। चतुर्दश पूर्व-धर मुनि आवश्यक कार्य उत्पन्न होने पर जो विशिष्ट पुद्गलो का शरीर वनाते हैं, वह आहारक शरीर है।

तैजस शरीरः—तेजोमय या विद्युत शरीर। जो शरीर आहार आदि को पचाने मे समर्थ है और जो तेजोदय है वह तैजस शरीर है। यह शरीर विद्युत परमाणुओ से व कर्म शरीर, वासना,

सस्कार और सवेदन के सूक्ष्मतम परमाणुओ से निर्मित होता है। तैजस शरीर, कर्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच सेतु का काम करता है।

कार्मण शरीर:—कर्ममय शरीर जो अतीव सूक्ष्म है। ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मो के पुद्गल समूह से जो शरीर बनता है, वह कार्मण शरीर है।

तैजस और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म शरीर है। अत. सारे लोक की कोई भी वस्तु उनके प्रवेश को रोक नही सकती। सूक्ष्म वस्तु बिना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश कर सकती है जैसे अति कठोर लोह पिण्ड मे अग्नि।

कर्म शरीर के अतीव सूक्ष्म पुद्गल यानि अनन्त प्रदेशी स्कन्ध जो सिद्धो से अनन्त गुणा ज्यादा और अभवी से अनन्त भाग कम है, हमारी आत्मा से चिपके हुए हैं। शरीर विज्ञान के अनुसार हमारे भौतिक शरीर मे एक वर्ग इ च स्थान मे ग्यारह लाख से अधिक कोशिकाएं होती हैं किन्तु यदि सूक्ष्म कर्म-शरीर मे स्थित कर्म जगत की कोशिकाओ का लेखा जोखा किया जाय तो मालूम होगा कि एक वर्ग इ च जगह मे अरबो खरबो कोशिकाओ का अस्तित्व है। ये कर्म-पुद्गल चार स्पर्श वाले एव अनन्त प्रदेशी होते हैं। इन सूक्ष्म पुद्गलो का स्वरूप इतना सूक्ष्म होता है कि वे केवल अतीद्रिय शक्तियो के द्वारा ही देखे जा सकते हैं, एव मात्र बाह्य उपकरणो से नही देखे जा सकते।

शीत-उष्ण और स्निग्ध-रुक्ष ये चार मूल स्पर्श हैं और प्रत्येक पुद्गल मे प्राप्त है। ये विरोधी हैं पर उनका सह-अवस्थान है। ये चारो हैं तभी पुद्गल स्कन्ध हमारे उपयोगी होता है। दुनिया मे सब कुछ युगल है, जिसके बिना सृष्टि ही नही हो सकती।

प्रत्येक परमाणु "कर्म" नही बन सकते। सूक्ष्म एव चतु स्पर्शी परमाणु ही "कर्म" बन सकते है। इन चतु स्पर्शी परमाणु-स्कन्धो मे भार नही होना, वे लघु व गुरु नही होते। उनमे विद्युत आवेग नही होता। वे बाहर जा सकते है यानि दीवार के बीच से भी निकल सकते है। उनकी गति अप्रत्याहत और अस्खलित होती है। अन्य चार स्पर्श लघु-गुरु (हल्का-भारी) और कर्कश-मृदु (कठोर-मीठा) ये वस्तु के मूलभूत धर्म नही है परन्तु वे सयोग शक्ति के द्वारा बनते है। इन अष्ट स्पर्शी परमाणु स्कन्धो मे भार होता है, विद्युत आवेग व प्रस्फुटन होता है और उनका स्थूल अवगाहन भी होता है। इन स्थूल परमाणु स्कन्धो मे बाहर जाने की न तो शक्ति होती है और न क्षमता। इसलिए वे दीवार को लाघ कर नही जा सकते। इसी तरह अष्ट-स्पर्शी पुद्गलो मे कम बनने की और अमूर्त आत्मा की शक्तियो को आवृत करने की क्षमता नही होती।

व्यक्ति के शरीरो के प्रति जैनेत्तर दर्शनो मे जो उल्लेख है वह इस प्रकार है —

थियोसोफिस्ट्स (Theosophists) ने इन शरीरो की भिन्न सज्ञाएँ दी है। उन्होने स्थूल शरीर को Physical body, सूक्ष्म शरीर को Etheric body और अति सूक्ष्म शरीर को Astral body कहा है। वेदान्त के महर्षि अरविंद ने बताया है कि स्थूल शरीर के अतिरिक्त हमारे अनेक सूक्ष्म शरीर भी हैं और हम निरे स्थूल शरीर ही नही, अपितु अनेक शरीरो के निर्माता भी हैं तथा उन्हे इच्छानुसार प्रभावित करने की शक्ति रखने वाले समर्थ आत्म-पुरुष भी है। उन्होने आगे बताया कि इस शरीर के अतिरिक्त हमारे चार अदृश्य शरीर उन चार लोको जो वायव्य लोक, दिव्य लोक, मानसिक लोक तथा अध्यात्मिक लोक के नाम से जाने जाते हैं, से सान्निध्य प्राप्त करते है। हमारा प्राणमय शरीर आकाश

शरीर तथा स्थूल शरीर की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। मनुष्य का प्राणमय शरीर आकार-प्रकार मे स्थूल शरीर जैसा ही होता है पर स्थूल शरीर के रहते यह जितना प्रभावशाली था, इससे अलग होने-पर उससे हजार गुना अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली हो जाता है।

परमहस स्वामी योगानन्द लिखते है कि भगवान ने मानव आत्मा को क्रमश तीन देहो मे अवेष्टित किया है। पहला है मनोमय कोष या कारण शरीर, दूसरा है सूक्ष्म प्राणमय कोष, जो मनुष्य की मानसिक और भावात्मक प्रवृत्ति की लीलाभूमि है और तीसरा है स्थूल अन्नमय कोष या भौतिक शरीर। प्राणमय पुरुष अनुभूति चेतना द्वारा काम करता है और उसका शरीर प्राण-तत्वो से निर्मित होता है। कारण शरीर पुरुष विचारो के आनन्दमय प्रदेश मे रहता है।

कम-शरीर सर्वाधिक शक्तिशाली शरीर है। यह अन्य सभी शरीरो का मूलभूत हेतु है। इसके होने पर अन्य शरीर होते है और न होने पर कोई शरीर नही होता। स्थूल शरीर का सीधा सम्पर्क तैजस शरीर मे है और तैजस शरीर का सीधा सम्पर्क कर्म-शरीर से है। कर्म-शरीर से सीधा सम्पर्क चेतना का है और यह कर्म--शरीर ही चैतन्य पर आवरण डालता है। कम-शरीर स्थूल शरीर के द्वारा आकर्षित बाह्य जगत के प्रभावो को ग्रहण करता है और चैतन्य के प्रभावो को वाह्य जगत तक पहुँचाता है। सुख-दुख का अनुभव कर्मयुक्त शरीर से होता है। घटना स्थूल शरीर मे घटित होती है और उसका सवेदन कर्म-शरीर मे होता है। मादक वस्तुओ का प्रयोग करने पर स्थूल शरीर और कर्म-शरीर का सम्बन्ध ऊपरी स्तर पर विछिन्न हो जाता है। इससे उस दशा मे स्थूल शरीर का सर्दी, गर्मी या पीडा का कोई सवेदन नही होता। रोग

भी कर्म-शरीर से उत्पन्न होता है और स्थूल शरीर मे व्यक्त होता है। वासना कर्म-शरीर मे उत्पन्न होती है और व्यक्त होती है स्थूल शरीर द्वारा। कम-शरीर और स्थूल शरीर दोनो का सबध हमारी विभिन्न मानवीय अवस्थाओ का निर्माण करते है। हम समस्या और उसके समाधान को स्थूल शरीर मे खोजते है जब कि दोनो का मूल कम-शरीर मे होता है। कर्म-शरीर हमारे चिंतन, भावना, सकल्प और प्रवृत्ति से प्रकम्पित होता है। प्रकम्पनकाल मे वह नये परमाणुओ को ग्रहण (बन्ध) करता है और पूर्व ग्रहित परमाणुओ का परित्याग (निर्जरण) करता है। हमारे श्वास और उच्छ्वास की गति का, हमारी प्रभा, हमारी इन्द्रियो की शक्ति का तथा वर्ण, गध, रस और स्पर्श आदि अनुभवो के नियत्रण का हेतु सूक्ष्म शरीर है। दूसरो को चोट पहुँचाने की हमारी क्षमता या दूसरो से चोट न खाने की हममे जो क्षमता है उसका नियत्रण भी सूक्ष्म शरीर से ही होता है। इस तरह हमारी सम्पूर्ण शक्ति का नियामक है सूक्ष्म शरीर।

प्राणी के मरने पर जब आत्मा एक शरीर को छोडकर दूसरा शरीर धारण करती है, उस अन्तराल काल मे उसके साथ दो शरीर अवश्य ही होते है एक तैजस और दूसरा कार्मण शरीर। उन दोनो शरीरो के माध्यम से आत्मा अन्तराल की यात्रा करती है और अपने उत्पत्ति स्थान तक पहुँच जाती है। नये जन्म के प्रारम्भ से ही कर्म-शरीर आहार ग्रहण करता है चाहे वह ओज आहार हो या ऊर्जा आहार हो। जीव ससार मे होगा तब ही कर्म-शरीर होगा। इस तरह जीव आहार का उपभोग कर शीघ्र ही उसका उपयोग भी कर लेता है। यानि स्थूल शरीर का निर्माण शुरु हो जाता है। हमारे स्थूल शरीर का ज्यो ज्यो विकास होता है त्यो त्यो नाड़िया बनती हैं, हड्डियें बनती हैं, चक्र बनते है, और भी

अनेक प्रकार के सघटन (अवयव) बनते रहते है व इन्द्रियो का विकास होता रहता है। सभी जीवो के शरीरो का विकास एकसा न होकर भिन्न भिन्न होता है। किसी जीव मे एकेन्द्रिय का, किसी मे द्वीन्द्रिय का, किसी मे त्रीन्द्रिय का, किसी मे चौइन्द्रिय का और किसी मे पाच इन्द्रियो का विकास होता है। इस सभी तरह के विकास का मूल स्रोत है कर्म-शरीर। कर्म-शरीर मे जितने स्रोत है, जितने शक्ति विकास के केन्द्र हैं, उन सब का सवेद्य है स्थूल शरीर। यदि किसी प्राणी के कर्म-शरीर मे एक इन्द्रिय का विकास होता है तो स्थूल शरीर की सरचना मे केवल एक इन्द्रिय का ही विकास होगा यानि केवल स्पर्श इन्द्रिय का ही विकास होगा। शेष इन्द्रियो का विकास नही होगा, न तो उनके लिये केन्द्र बनेगा और न आवश्यक गोलक ही निर्मित होगे। आख, कान, नाक, जीभ इनमे से कुछ भी नही बनेगा। यदि कर्म-शरीर मे एक से अधिक इन्द्रियो का विकास होता है तो स्थूल शरीर मे उतनी ही इन्द्रियो के सघटन विकसित होगे। यदि कर्म-शरीर मे मन का विकास होता है तो स्थूल शरीर मे भी मस्तिष्क का निर्माण होगा। जिन जीवो के कर्म-शरीर मे मन का विकास नही है उनके न तो मेरु रज्जु होती है और न ही मस्तिष्क क्योकि मन के विकास के साथ ही मेरु रज्जु और मस्तिष्क बनते है। इस प्रकार स्थूल शरीर की रचना का सारा उपक्रम सूक्ष्म-शरीर के विकास पर आधारित है। उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि सूक्ष्म शरीर बिम्ब है तो स्थूल शरीर उसका प्रतिबिम्ब। और यदि सूक्ष्म शरीर प्रमाण है तो स्थूल शरीर उसका सवेदी प्रमाण है।

इस शरीर की रचना तब तक ही होती है जब तक आत्मा कर्मो से बन्धी है। कर्म बद्ध आत्मा से ही कर्म-पुद्गल सम्बन्ध जोडते है और कर्म-शरीर से चिपके हुए कर्म-पुद्गल, अच्छे या बुरे,

भी कर्म-शरीर से उत्पन्न होता है और स्थूल शरीर मे व्यक्त होता है। वासना कर्म-शरीर मे उत्पन्न होती है और व्यक्त होती है स्थूल शरीर द्वारा। कम-शरीर और स्थूल शरीर दोनो का सबध हमारी विभिन्न मानवीय अवस्थाओ का निर्माण करते है। हम समस्या और उसके समाधान को स्थूल शरीर मे खोजते है जब कि दोनो का मूल कर्म-शरीर मे होता है। कर्म-शरीर हमारे चिंतन, भावना, सकल्प और प्रवृत्ति से प्रकम्पित होता है। प्रकम्पनकाल मे वह नये परमाणुओ को ग्रहण (बन्ध) करता है और पूर्व ग्रहित परमाणुओ का परित्याग (निर्जरण) करता है। हमारे श्वास और उच्छ्वास की गति का, हमारी प्रभा, हमारी इन्द्रियो की शक्ति का तथा वर्ण, गध, रस और स्पर्श आदि अनुभवो के नियत्रण का हेतु सूक्ष्म शरीर है। दूसरो को चोट पहुँचाने की हमारी क्षमता या दूसरो से चोट न खाने की हममे जो क्षमता है उसका नियत्रण भी सूक्ष्म शरीर से ही होता है। इस तरह हमारी सम्पूर्ण शक्ति का नियामक है सूक्ष्म शरीर।

प्राणी के मरने पर जब आत्मा एक शरीर को छोडकर दूसरा शरीर धारण करती है, उस अन्तराल काल मे उसके साथ दो शरीर अवश्य ही होते है एक तैजस और दूसरा कार्मण शरीर। उन दोनो शरीरो के माध्यम से आत्मा अन्तराल की यात्रा करती है और अपने उत्पत्ति स्थान तक पहुँच जाती है। नये जन्म के प्रारम्भ से ही कर्म-शरीर आहार ग्रहण करता है चाहे वह ओज आहार हो या ऊर्जा आहार हो। जीव ससार मे होगा तब ही कर्म-शरीर होगा। इस तरह जीव आहार का उपभोग कर शीघ्र ही उसका उपयोग भी कर लेता है। यानि स्थूल शरीर का निर्माण शुरु हो जाता है। हमारे स्थूल शरीर का ज्यो ज्यो विकास होता है त्यो त्यो नाड़िया बनती हैं, हड्डिये बनती हैं, चक्र बनते हैं, और भी

अनेक प्रकार के सघटन (अवयव) बनते रहते है व इन्द्रियो का विकास होता रहता है। सभी जीवो के शरीरो का विकास एकसा न होकर भिन्न भिन्न होता है। किसी जीव मे एकेन्द्रिय का, किसी मे द्वीन्द्रिय का, किसी मे त्रीन्द्रिय का, किसी मे चौइन्द्रिय का और किसी मे पाच इन्द्रियो का विकास होता है। इस सभी तरह के विकास का मूल स्रोत है कर्म-शरीर। कर्म-शरीर मे जितने स्रोत है, जितने शक्ति विकास के केन्द्र हैं, उन सब का सवेद्य है स्थूल शरीर। यदि किसी प्राणी के कर्म–शरीर मे एक इन्द्रिय का विकास होता है तो स्थूल शरीर की सरचना मे केवल एक इन्द्रिय का ही विकास होगा यानि केवल स्पर्श इन्द्रिय का ही विकास होगा। शेष इन्द्रियो का विकास नही होगा, न तो उनके लिये केन्द्र बनेगा और न आवश्यक गोलक ही निर्मित होगे। आख, कान, नाक, जीभ इनमे से कुछ भी नही बनेगा। यदि कर्म–शरीर मे एक से अधिक इन्द्रियो का विकास होता है तो स्थूल शरीर मे उतनी ही इन्द्रियो के सघटन विकसित होगे। यदि कर्म–शरीर मे मन का विकास होता है तो स्थूल शरीर मे भी मस्तिष्क का निर्माण होगा। जिन जीवो के कर्म–शरीर मे मन का विकास नही है उनके न तो मेरु रज्जु होती है और न ही मस्तिष्क क्योकि मन के विकास के साथ ही मेरु रज्जु और मस्तिष्क बनते है। इस प्रकार स्थूल शरीर की रचना का सारा उपक्रम सूक्ष्म-शरीर के विकास पर आधारित है। उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि सूक्ष्म शरीर बिम्ब है तो स्थूल शरीर उसका प्रतिबिम्ब। और यदि सूक्ष्म शरीर प्रमाण है तो स्थूल शरीर उसका सवेदी प्रमाण है।

इस शरीर की रचना तब तक ही होती है जब तक आत्मा कर्मो से बन्धी है। कर्म बद्ध आत्मा से ही कर्म-पुद्गल सम्बन्ध जोडते है और कर्म-शरीर से चिपके हुए कर्म-पुद्गल, अच्छे या बुरे,

चाहे इस जन्म के हो या पिछले जन्मो के हो जीव के साथ चलते है और परिपक्व होने पर उदय मे आते है । जब आत्मा कर्मो से मुक्त हो जाती है तो फिर कोई भी पुद्गल उस शुद्ध चैतन्यमय आत्मा से न तो सम्बन्ध जोड सकते है और न ही आवरण डाल सकते है ।

सूक्ष्म शरीर के द्वारा जो विपाक होता है, उसका रस-स्राव शरीर की ग्रन्थियो के द्वारा होता है और वह हमारी सारी प्रवृत्तियो को सचालित करता है और प्रभावित भी करता है । यदि हम इस तथ्य को उचित रूप मे जान लेते है तो हम स्थूल शरीर तक ही नही रुकेंगे, और आगे बढेगे । साधना का यही प्रयोजन है कि हम आगे से आगे बढते जाएँ । स्थूल शरीर पर ही न रुके, उससे आगे सूक्ष्म शरीर तक पहुच जाएँ । हमे उन रसायनो तक पहुँचना है, जो कर्मो के द्वारा निर्मित हो रहे है । वहा भी हम न रुके, आगे बढे और आत्मा के उन परिणामो तक पहुचे, जो उन स्रावो को निर्मित कर रहे है । स्थूल या सूक्ष्म शरीर उपकरण है । मूल हैं आत्मा के परिणाम । हम सूक्ष्म शरीर से आगे बढकर आत्म-परिणाम तक पहुँचे । उपादान को समझना होगा, निमित्त को भी समझना होगा और परिणामो को भी । मन के परिणाम, आत्मा के परिणाम निरतर चलते रहते है । आत्मा के परिणाम यदि विशुद्ध चैतन्य-केन्द्रो की ओर प्रवाहित होते हैं, तो परिणाम विशुद्ध होगे और वे ही आत्म-परिणाम वासना की वृत्तियो को उत्तेजना देने वाले चैतन्य-केन्द्रो की ओर प्रवाहित होते है, तो परिणाम कलुषित होगे । जो चैतन्य-केन्द्र क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्तियो को उत्तेजित करते हैं, जो चैतन्य केन्द्र आहार सज्ञा, भय सज्ञा, मैथुन सज्ञा और परिग्रह सज्ञा को उत्तेजना देते है, यदि उन चैतन्य केन्द्रो की ओर आत्म-परिणाम की धारा प्रवाहित होगी, तो उस समय वही वृत्ति उभर आएगी, वैसे ही विचार बनेंगे ।

आज इस बात की आवश्यकता है कि हम निरन्तर अभ्यास द्वारा यह जानने की कोशिश करे कि शरीर के किस भाग मे मन को प्रवाहित करने से अच्छे परिणाम आ सकते हैं और किस भाग मे मन को प्रवाहित करने से बुरे परिणाम उभरते है। यदि यह अनुभूति हो जाय तो हम हमारी सारी वृत्तियो पर नियन्त्रण पा सकते है और तब हम अपनी इच्छानुसार शुभ लेश्याओ मे प्रवेश कर सकते है और अशुभ लेश्याओ से छुटकारा पा सकते है।

इस विषय मे गुजराती-मिश्रित राजस्थानी भाषा के प्राचीन ग्रन्थ मे कुछ ऐसे महत्वपूर्ण तथ्य लिखे है जो पता नही लेखक के निजी अनुभवो पर आधारित है अथवा दूसरे ग्रन्थो के आधार पर लेकिन बहुत ही आश्चर्यकारी और महत्वपूर्ण है। उसमे लिखा है – "नाभि कमल की अनेक पखुडियाँ है। जब आत्म-परिणाम अमुक पखुडी पर जाता है तब क्रोध की वृत्ति जागती है, जब अमुक पखुडी पर जाता है तब मान की वृत्ति जागती है, जब अमुक पखुडी पर जाता है तब वासना उत्तेजित होती है और जब अमुक पखुडी पर जाता है तब लोभ की वृत्ति उभरती है। जब आत्म-परिणाम नाभि-कमल से ऊपर उठकर हृदय कमल की पखुडियो पर जाता है तब समता की वृत्ति जागती है, ज्ञान का विकास होता है, अच्छी वृत्तिया उभरती है। जब आत्म-परिणाम दर्शन केन्द्र पर पहुँचता है तब चौदह पूर्वों के ज्ञान को ग्रहण करने की क्षमता जागृत होती है।

यह सारा प्रतिपादन किस आधार पर किया गया है यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता किन्तु इस प्रतिपादन मे एक बहुत बडी सच्चाई का उद्घाटन होता है कि मानव शरीर मे अनेक सवादी केन्द्र हैं। इन केन्द्रो पर मन को एकाग्र कर, मन से उसकी

प्रेक्षा कर, हम ऐसे द्वारो का उद्घाटन कर सकते है, ऐसी खिड-कियाँ खोल सकते है, जिनके द्वारा चेतना की रश्मियाँ बाहर निकल सके और अघटित घटित कर सके।

यह बहुत ही कठिन साधना है और निरन्तर लम्बे समय तक इसका अभ्यास करने पर ही व्यक्ति को कुछ उपलब्धि हो सकती है या अच्छे परिणाम निकल सकते है। अभ्यास किये बिना पुस्तकीय अध्ययन से कोरा ज्ञान होगा। आगम वाणी के अनुसार –

"अहिंसु विज्जा चरण पमोक्ख"

दुख मुक्ति के लिए विद्या और आचार का अनुशीलन करे। पहले जानो फिर अभ्यास करो।

सदर्भ

१ हरिमोहन गुप्ता–"अरविंद का सूक्ष्म शरीर", धर्मयुग 20 से २८-२-८0
२ युवाचार्य महाप्रज्ञ–"शक्ति के जागरण सूत्र" प्रेक्षाध्यान मार्च ८0
3 परमहस स्वामी योगानन्द– नवनीत' दिसम्बर १९८0

आस्रव (Influx of Karma)

कर्मों को आकर्षित करने के निमित्त कारण

"कर्माकर्षक आत्म परिणाम आस्रव" कर्मो को आकर्षित करने वाले आत्म–परिणाम को आस्रव कहते है। शुभाशुभ चितन के द्वारा आत्मा और कर्म-पुद्गलो का जो सयोग होता है वह आस्रव क प्रक्रिया है। जीव का जो राग–द्वेषात्मक परिणमन होता है वह आस्रव बन जाता है। आस्रव के प्रभाव के कारण ही हम आत्म-स्वभाव की अनुभूति से दूर रहते हैं। आत्म-विमुखता का ही दूसरा नाम आस्रव है। जैसे पानी आने के नाले खुले रहने पर तालाब मे पानी आता रहता है, उसी तरह आस्रव द्वार के खुले रहने पर कर्म–पुद्गल आत्मा की ओर आकर्षित होते रहते है। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग ये पाँच आस्रव है और ये ही पाँच राग–द्वेषात्मक शक्तियाँ कर्म-पुद्गलो को अपनी ओर आर्कषित करने वाली हैं।

मिथ्यात्व (Ignorance) आस्रव —' विपरीततत्त्वश्रदा मिथ्यात्वम्" विपरीत तत्त्व श्रद्धा या प्रतिकूल श्रद्धा को मिथ्यात्व आस्रव कहते है। जैसे धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, साधु को असाधु, असाधु को साधु आदि समझना। इस अवस्था मे इन्द्रिय विषयो के प्रति व्यक्ति की तीव्रतम आसक्ति रहती है। क्रोध, मान, माया, लोभ प्रबलतम हो जाते है। मानसिक ग्रंथिया बनती रहती है। व्यवहार मे क्रूरता अधिक होती है मिथ्यात्वी व्यक्ति दुखद विषयो को सुखद और अशाश्वत विषयो को शाश्वत मानता है। वह सासारिक पदार्थो को ही सर्वस्व मानता है। धन के प्रति उसमे तीव्रतम मूर्छा होती है। नैतिकता या प्रामाणिकता मे उसे कोई

विश्वास नही होता। उसे असत्य के प्रति आग्रह होता है। उसकी दृष्टि मूढ होने के कारण व अन्य व्यर्थ की बाते जानता हुआ भी सम्यक्त्व किसे कहते है नही समझना। केवल विपरीत जानता है। यह मिथ्यात्व है।

अव्रत (Want of self restraint) **आस्रव:**—"अप्रत्याखान-मविरति" आत्मा के अत्यागभाव को अव्रत या अविरति आस्रव कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के मन मे कुछ पाने की एक छिपी हुई अमिट चाह है, दुख मिटाने की भी चाह है, प्रिय वस्तु को पाने की, अप्रिय वस्तु को मिटाने की भी चाह है। इसी प्रकार अनुकूल को पाने की, प्रतिकूल को मिटाने की भी चाह है। यह जो आतरिक चाह है, आकाक्षा है उसका स्रोत ही अविरत आस्रव है। इसकी जितनी अधिक मात्रा होगी उतनी अधिक चचलता होगी। यदि चचलता स्वाभाविक होती तो सब प्राणियो मे समान होती। उदाहरण दिया जा सकता है — कुछ लोग मकान के बरामदे मे बैठे है, उस समय सडक पर बाजे बजते हुए सुनाई देते हैं। कुछ लोग खडे होकर सडक पर उन्हे देखने लग जाते है व अन्य बरामदे मे शात बैठे रहते है, उन्हे नही देखते। दोनो क्रियाओ मे यह अन्तर क्यो? उत्तर है कि जिनमे अविरत आस्रव प्रबल होने के कारण चाह प्रबल है, उत्सुकता प्रबल है वे बाजे देखने दौडेगे, भागेगे प्रयत्न कर बाजो का बजना सुनना चाहेगे। जिनमे अविरत आस्रव कम है, उनमे चाह कम है व उत्सुकता कम है वे शात बैठे रहेगे। अन्तर्मुखी होकर बैठे रहेगे। वे बाहर बाजे देखने नही जायेगे। किसी भी क्षेत्र मे आकर्षण का कम होना उनमे बाहिर-वृति का न होकर सहज भाव से अन्तर्वृति का होना है।

प्रमाद (inadvertance) **आस्रव**:—"अनुत्साह प्रमाद" धर्म के

प्रति किसी व्यक्ति मे जो अनुत्साह भाव है वही उसके लिए प्रमाद आस्रव कहलाता है। जब प्रमाद आस्रव की प्रबलता होती है तब मनुष्य का मन इन्द्रिय-विषयो के प्रति आकर्षित होता है। व्यक्ति मे शात बने हुए क्रोध, मान, माया, लोभ सम्बन्धी मत्सरता फिर उभर आती है। मन की जागरूकता समाप्त हो जाती है। प्रमाद का दूसरा अर्थ है अनुत्साह। प्रमत्त अवस्था मे सयम और क्षमा आदि धर्मो के प्रति मन मे अनुत्साह आ जाता है। सत्य के आचरण मे शिथिलता आ जाती है। इससे अध्यात्मिक अकर्मण्यता और आलस्य की स्थिति बन जाती है। वासना, भोजन आदि की चर्चा मे व्यक्ति का जैसा आकर्षण होता है वैसा आकर्षण अध्यात्मिक विकास की चर्चा मे नही होता।

कषाय (Passions) **आस्रव :—** "रागद्वेषात्मकोत्ताप कषाय" रागद्वेषात्मक उत्ताप को कषाय आस्रव कहते है। राग और द्वेष है इसीलिए क्रोध (anger), मान (vanity) माया (deceitfulness) और लोभ (avarice) ये चार मूल आवेग उत्पन्न होते है और इसी कारण से हास्य, रति, अरति, भय, शोक, घृणा, काम वासना आदि उप-आवेग उत्पन्न होते हैं। इन आवेगो की पृष्ठभूमि मे राग और द्वेष ये दो अनुभूतिया या सवेदन काम करते है। जब तक राग द्वेष रहेगे तब तक इन आवेगो की उत्पत्ति होती रहेगी। राग है प्रीत्यात्मक सवेदना और द्वेष है अप्रीत्यात्मक। इन चारो आवेगो मे इस दृष्टि से जो भेद है वे इस प्रकार है —

प्रीत्यात्मक	अप्रीत्यात्मक
क्रोध:- यह प्रीत्यात्मक नही होता।	क्रोध ही ऐसा है जो कोरा अप्रीत्यात्मक ही होता है। उसका सम्बन्ध है द्वेष से

अप्रीति से। प्रीति से व राग से उसका सम्बन्ध नही जुडता।

मान - अपने उत्कर्ष की अनुभूति मे प्रीत्यात्मक होता है।

दूसरे की हीनता के प्रदर्शन मे अप्रीत्यात्मक होता है।

माया:- मायाकाल मे चेतना की जो अनुभूति होती है वह प्रिय लगती है कि मैंने बहुत समझ-दारी से काम किया कि वह परास्त हो गया, प्रताडित हो गया। उस समय सुखद अनुभव होता है।

माया वचनात्मक चेतना है। यह दूसरे को ठगने का काम करती है। यह परोपघात है। जो परोपघात होगा वह निश्चित ही अप्रीत्यात्मक होगा।

लोभ:-यह एक आसक्ति है, कुछ लेने की भावना है, अपने लिये अर्जित करने की भावना है। यह प्रियता है इसलिये प्रीत्यात्मक है।

दूसरे के स्व को हडपने के लिये चेतना काम करती है, दूसरे के अधिकारो को छीनने की भावना होती है, दूसरे के अधिकारो मे आये हुए पदार्थ को छीनने की इच्छा होती है, वह लोभ अप्रीत्यात्मक बन जाता है।

इन चारो कषायो मे मान और लोभ मुख्य हैं। मान यानि अहं–जो है उससे अतिरिक्त समझना। लोभ यानि जरूरत से ज्यादा की इच्छा करना। जब अहं पर चोट पहुचती है तब क्रोध भी आता है और माया भी करनी पडती है। रागात्मक और द्वेषात्मक चेतना के अतिरिक्त कोई भी ऐसी शक्ति नही जो कर्म-पुद्गलो को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। राग-द्वेष मे कर्म का और कर्म मे

राग-द्वेष का यह एक वलय (चक्र) का क्रम चलता ही रहता है। ये ही विषमता के बीज है।

राग से रक्त और द्वेष से द्विष्ट मनुष्य न अपने भावो को देखता है और न किसी भी प्राणी की आतरिक ममता को और जव वह समता को नही देखता है तो वह पाप से भारी होता है और कर्म-बन्धन भी करता है। समत्वदर्शी न तो किसी के प्रति रक्त होता है और न द्विष्ट इसलिए उसके कर्मो का बन्धन नही होता। राग दो प्रकार का होता है --प्रशस्त (धर्म के प्रति राग) और अप्रशस्त (ससार के प्रति राग)। प्रशस्त राग से शुभ कर्मो का वन्धन होता है और अप्रशस्त राग से अशुभ कर्मो का। सिद्धात्मा अर्थात कर्मो से मुक्त आत्मा के पुन कर्म-बन्धन का प्रश्न ही नही उठता'।

राग – इन्द्रिय विषय मे अनुकूलना का भाव होने पर प्राणी का उस विषय मे "राग" हो जाता है और प्रतिकूलता का भाव होने पर उस विषय मे "द्वेष" हो जाता है। व्यक्ति मे जितना राग होता है उतना ही उसका चित्त उछलता रहता है। वास्तविक दृष्टि से,देखा जाय तो ,राग-द्वेष इन्द्रियो के विषयो मे नही रहते। यदि विषयो मे राग-द्वेष स्थित होते तो एक ही विषय सभी को समान रूप से प्रिय अथवा अप्रिय लगता, जबकि ऐसा होता नही। जैसे वर्षा किसान को तो प्रिय लगती है पर कुम्हार को अप्रिय। इसी तरह किसी भी मनुष्य को कोई विषय सदा प्रिय या अप्रिय नही लगता। जैसे ठडी हवा गर्मी मे अच्छी लगती है परन्तु सर्दी मे अच्छी नही लगती। इन्द्रियो के सभी विषय अपनी अनुकूलता या प्रतिकूलता के भाव से ही प्रिय या अप्रिय लगते है अर्थात् मनुष्य इन्द्रिय विषयो मे अपना अनुकूल या प्रतिकूल भाव करके उन्हें अच्छा या वुरा मान कर राग-द्वेष कर लेता है। वास्तव मे राग-

द्वेष माने हुए 'अह' मे रहते है। प्रकृति (जड) और पुरुप (चेतन) दोनो भिन्न भिन्न है। इन दोनो का विवेक स्वत सिद्ध है। पुरुप इस विवेक को महत्त्व न देकर प्रकृति-जन्य शरीर से एकता कर लेता है और अपने को एकदेशीय मान लेता है। यह जड चेतन का तादात्म्य ही "मै" कहलाता है और इसी मे राग-द्वेष रहते है। तात्पर्य यह है कि अहता (मै-पन) मे राग-द्वेष रहते है और राग द्वेष से अहता पुष्ट होती है। जड-चेतन की ग्रन्थिरूप अहता के मिटने पर राग-द्वेप का सर्वथा अभाव हो जाता है क्योकि अहता पर ही राग-द्वेप टिके हुए है। "यह मेरा है" इस प्रकार के ममत्व को ममकार कहते है और गर्व को अहकार कहते है। यह साधारण व्यक्ति होकर भी मुझ पर क्यो चिल्लाता है अथवा मुझे क्यो मारता है—यह भावना अहकार है। ममकार का नाम राग है और अहकार का नाम द्वेष।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये व्यक्ति के चित्त को अपने रग से रगीन बना देते है व कलुपित कर देते है इसीलिए इन्हे कपाय भी कहते है। कषाय के तारतम्य की चार रेखाएँ है —

अनन्तानुबन्धी (तीव्रतम), अप्रत्याखान (तीव्रतर), प्रत्याखान (तीव्र), सज्वलन (मन्द)। तीव्रतम कषाय के उदयकाल मे सम्यक् दृष्टि उपलब्ध नही होती। दृप्टिकोण सम्यक् नही होता। सम्यक् देखने का हमे अवसर ही नही मिलता। एक के बाद दूसरी गलती करते ही चले जाते है और दृष्टि मे हर समय भ्रम छाया हुआ रहता है। यह प्रखरतम आवेग हमारी दृष्टि को विभ्रात कर देता है। जब क्रोध अनन्तानुवधी की कोटि का होता है, तब वह सहजता से नही जाता। वह चट्टान की दरार जैसा होता है। जैसे चट्टान मे दरार पडने पर वह फिर मिटती नही, अमिट वन जाती है, उसी प्रकार क्रोध की छाप अमिट होती है। यह मिथ्यादृष्टि की

अवस्था है और इसको मिथ्यादृष्टि गुण स्थान कहते है। अनन्तानुबधी की अवस्था का विलय होते ही व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है। उसका परिशोधन हो जाता है और मनोवेग क्षीण हो जाता है। व्यक्ति के मनोवेग की तीव्रता कम होते ही उसमे अप्रत्याखान की अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था को सम्यक् दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है। यह सत्य को सत्य जानने की भूमिका है। व्यक्ति जो जैसा है उसे वह वसा जानने लग जाता है। कई बार हम लोगो को यह कहते हुए सुनते है कि धर्म का मार्ग बहुत अच्छा है, परन्तु हम उस पर चल नही सकते। ध्यान धरना बहुत अच्छा है पर यह हम कर नही पाते। हमारे पास करने को कई काम है इसलिए न तो धर्म ध्यान करने की इच्छा होती है और न उसके लिए हमे समय मिलता है। यद्यपि ध्यान भी एक प्रवृत्ति है, साधना भी एक प्रवृत्ति है फिर भी इसमे हमारा मन नही लगता। मन उसी मे लगता है जिसे हम रात दिन करते आ रहे है। इसका मूल कारण है अप्रत्याखान कषाय की विद्यमानता या कुछ इस प्रकार के मनोवेग का होना। इस स्थिति मे क्रोध भी खेत की सूखी मिट्टी की रेखा के समान हो जाता है।

जैसे ही अप्रत्याखानावरण या मनोवेग की अवस्था उपशमित या क्षीण होती है, व्यक्ति के मन मे भावना होती है कि ससार से विरति का, त्याग का, ध्यान करने का रास्ता अच्छा है और इस पर अवश्य चलना चाहिये। इस अवस्था मे क्रोध बालू की रेखा के समान विनाशशील हो जाता है और इस स्थिति को देश विरति गुणस्थान भी कहा जाता है। इस तरह आत्मिक विकास की ओर बढते बढते मोह का बन्धन टूटता जाता है और मनोवेग भी लगभग समाप्तहो जाता है। व्यक्ति विरति के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है और साधु सन्यासी भी बन जाता है। क्रोध जल की रेखा के समान हो जाता है। यह सज्वलन की अवस्था है।

एक आदमी एक साधु के पास गया और बोला, "महाराज मैं ईश्वर के दर्शन करना चाहता हू । क्या आप करा सकेंगे ?"

साधु बडे विवेकशील थे और आदमी से बोले, "तुम्हारी इच्छा मैं पूरी करूगा, पर तुम्हे एक काम करना होगा ।"

आदमी ने उत्सकता से पूछा, "क्या काम है" महाराज !"

साधु ने कहा, "मेरे पास एक गठरी है । उसे तुम्हे अपने सिर पर रख कर सामने के पहाड की चोटी पर चढना होगा । मैं तुम्हारे साथ चलूगा ।"

आदमी ने खुशी मे साधु की बात मान ली और अगले दिन सवेरे वह साधु के पास पहुँचा और उसके सकेत के अनुसार गठरी उठाई सिर पर रख ली, और दोनो चल दिये । पहाड की चढाई पर कुछ देर तो उत्साह रहा बाद मे सिर की गठरी भारी लगने लगी । उसने साधु से कहा, "स्वामीजी, बडी थकान हो गई है । चला नही जाता ।"

साधु बोले, "अच्छा इस गठरी मे पॉच पत्थर है । एक पत्थर फेक दो ।"

आदमी ने एक पत्थर फेक दिया, गठरी कुछ हल्की हो गई । आदमी फिर उसे उठा कर चलने लगा । लेकिन बीस तीस कदम चलने पर उसे हैरानी होने लगी । साधु से कहा तो उसने एक और पत्थर फिकवा दिया । फिर हैरानी हुई तो तीसरा फिर चौथा और फिर पॉचवा पत्थर भी फिकवा दिया ।

दोनो पहाड की चोटी पर चढ गये । आदमी ने चैन की सास ली । बोला, 'अब कराइये ईश्वर के दर्शन ।"

साधु ने उनकी ओर देखा, और बोले,–"मूर्ख, पाँच पत्थरो की गठरी लेकर तू पहाड की चोटी पर नही चढ सका, लेकिन काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि कषायो के भारी पत्थर दिल मे रख कर तू ईश्वर के दर्शन करना चाहता है। जिस तरह पत्थरो को फेंके बिना तू पहाड की चोटी पर नही चढ सका, वैसे ही अगर तू ईश्वर से साक्षात्कार करना चाहता है जो पहले अपने विकारो को दूर कर। अन्तर मे निर्मलता होते ही प्रभु के दर्शन हो जायेंगे।

योग आस्रव (Activities of mind, speech and body) – "कायवाङमनोव्यापारा योग" शरीर, वचन एव मन के व्यापार को योग कहते है। इसके द्वारा कर्म–परमाणुओ का आस्रवण यानि आगमन होता रहता है इसलिए यह आस्रव कहलाता है। मनुष्य के पास प्रवृत्ति के तीन साधन हैं–शरीर, वाणी और मन। ये तीनो मिलाकर योग आस्रव कहलाते है। योग का अर्थ है प्रवृत्ति, चचलता, सक्रियता। योग आस्रव अपने आप मे दुख या सुख का हेतु नही है। जब मनुष्य का चैतन्य कषायो से मूर्च्छित होता है तब वह इनमे प्रवृत्त होता है और दुख का हेतु बन जाता है। जब व्यक्ति तप, ध्यान आदि धार्मिक कार्यो मे प्रवृत्त होता है तब सुख का हेतु बन जाता है। प्रत्येक जीव मे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति होती है परन्तु घाती कर्मो के कारण ज्ञान, दर्शन आवृत्त रहते हैं, सुख विकृत रहता है और शक्ति सुप्त रहती है। राग-द्वेष व क्रोध, मान, माया, लोभ के कारण मुख को लालिमा, भृकुटि आदि जो दृश्यमान विकार हैं वह योग आस्रव है। इनके कारण जो आत्मा की आन्तरिक वृत्ति है वह कषाय आस्रव है।

जीव मे जो अशुद्धि है वह स्वाभाविक नही है बल्कि सर्वथा आस्रव जनित है। ईंधन मे जिस मात्रा मे आर्द्रता होती है उसी मात्रा मे उसके जलने पर प्रकाश के साथ धुंआ भी निकलता है। ठीक उसी तरह जब तक आत्मा के साथ कपाय आदि आस्रवो की आर्द्रता प्रबल होती है तब तक उसके साथ कर्म-बन्धन का धुआ भी प्रबल रूप से रहता है। जब व्यक्ति के कषाय नष्ट हो जाते है तब अशुभ कर्मों का बन्धन तो सर्वथा रुक जाता है और शुभ कर्म जो बधते है वह भी बहुत कम समय के लिए बधते है और तत्काल उदय मे आकर नष्ट हो जाते है। फिर आत्मा को कर्मो से मुक्त होने मे कोई बाधा नही आती। बारहवे क्षीण-मोह गुण स्थान मे यही बताया गया है कि इस अवस्था मे मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है। पूर्व अवस्था मे सज्वलन लोभ का अस्तित्व नही मिटता परन्तु इस अवस्था मे वह पूर्ण रूप से मिट जाता है और आत्मा पूर्ण वीतराग हो जाती है।

आस्रव के आधार पर ही जीव के दो विभाग बनते है बद्ध और मुक्त। आस्रव युक्त जीव बद्ध और आस्रव रहित जीव मुक्त होता है। चित्त की निर्मलता, एकाग्रता, तपस्या, प्रतिपक्ष भावना और ध्यान साधना के द्वारा आस्रव की शक्ति को उपशान्त या क्षीण करने पर ही आत्मा के स्वरूप की अनुभूति हो सकती है।

इन्द्रियाणि च सयम्य, कृत्वा चित्तस्य निग्रहम।
सस्पृशताऽत्मनात्मन, परमात्मा भविष्यति॥

इन्द्रियो का सयम कर, चित्त का निग्रह कर, आत्मा का आत्मा से स्पर्श कर, इस तरह तू परमात्मा बन जायगा।

कर्मवाद के मूल सिद्धान्तो पर आज प्राय सभी धर्मों की

सहमति पाई जाती है और आज भी प्रत्येक धर्म गुरु इन सिद्धान्तो के माध्यम से अपने अनुयायियो को धर्मोपदेश देकर सत्काय करने की एव सत्मार्ग होने के लिए प्रेरित करते है।

* * *

परस्पर में एक दूसरे को सहारा यह प्रकृति का अटल नियम हैं। एक को दूसरे का सहारा मिलता हैं, इसमें कोई विरोध नहीं हैं। विरोधी युगल साथ रह सकते हैं यह नियम जब आखों से ओझल हो जाता हैं, तब विरोध पनपता हैं।

सदर्भ — 1 आचार्य श्री तुलसी, आयारो पेज 149

2 युवाचार्य महाप्रज्ञ, सम्बोधि

3 यशपाल जैन, प्रभु मिलन, धर्म-युग 19-10-77

कर्मो की अवस्थाएँ

ससारी जीव कर्म सहित होते है। कर्म के सहयोग से वे विविध अवस्थाओ को प्राप्त होते है और जीव के पुरुषार्थ से कर्म की विविध अवस्थाएँ हो जाती है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि जीव का योग पाकर कर्म रूप मे परिणत होने वाले पुद्गल कर्म है और कर्म के योग से जीव ससारी जीव है।

हर प्रदार्थ की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ होती है, पर्याय होती है। पदार्थ है तो पर्याय का होना जरूरी है। ऐसा कोई भी पदार्थ नही होता जिसमे रुपान्तरण न हो, बदलाव न हो, पर्याय या परिवर्तन न हो। हर पदार्थ के पर्याय भी अनन्त है। इस दृष्टि से कर्म की पर्याय भी अनन्त है। किन्तु प्रस्तुल सदर्भ मे जो वर्गीकरण किया गया है, वह स्थूल अवस्थाओ की दृष्टि से है और ये अवस्थाएँ दस है—बन्ध, उद्वर्तना, अपवर्तना, सत्ता, उदय, उदीरणा, सक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना।

१. बन्ध

सबसे पहली अवस्था है बध (Envelopment of the soul by skandhas)—"कर्म पुद्गलादानं बन्ध"। आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलो का दूध पानी की तरह मिलन कर्म बन्ध की अवस्था है। यह अवस्था आत्मा और कर्मो की एकीभूत होने की है। मिथ्यात्व अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग ये पाच आस्त्रवो के निमित्त से जीव के असख्यात् प्रदेशो मे कम्पन पैदा होते है। इन कम्पनो के फलस्वरूप जिन क्षेत्रो मे आत्म प्रदेश है उन क्षेत्रो मे जहा अनन्तानन्त कर्म-योग्य पुद्गल विद्यमान है वहा वे जीव के एक एक प्रदेश के साथ चिपक जाते है, बध जाते है। जीव प्रदेशो

के साथ इन कर्म पुद्गलो का इस प्रकार चिपक जाना (बध जाना) ही बध कहलाता है। "प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशा." प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एव प्रदेश ये चार प्रकार के बध होते है —

१. प्रकृति बन्धः— 'सामान्योपातकर्मणा स्वभाव प्रकृति" सामान्य रूप से ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलो का जो स्वभाव होता है उसे प्रकृति बध कहते है। जीव की शुभ प्रवृत्ति के साथ ग्रहण किये हुऐ कर्म-पुद्गल शुभ तथा अशुभ प्रवृत्ति से ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गल अशुभ होते है। कर्म पुद्गलो का जीव के साथ सम्बन्ध होने पर ज्ञान को रोकने का स्वभाव, दर्शन को रोकने का स्वभाव इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वभाव का होना प्रकृति बन्ध कहलाता है। कर्मो की प्रकृतियाँ सख्या मे कितनी भी हो सकती है परन्तु यहा मूल प्रकृतियाँ आठ और उत्तर प्रकृतिया सत्तानवे ही पाई गई है। आठ प्रकृतियो मे चार प्रकृतिया नितान्त पाप है और चार प्रकृतिया पुण्य और पाप दोनो है।

उत्तर प्रकृतियां :- ज्ञानावरण पाच, दर्शनावरण नौ, वेदनीय दो, मोहनीय अठ्ठाईस(दर्शन मोहनीय तीन, चारित्र मोहनीय पच्चीस,) आयुष्य चार, नाम बयालीस, गौत्र दो और अन्तराय पाँच कुल सत्तान्वे।

मूल प्रकृतियां:— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आशुष्य, नाम, गौत्र, अन्तराय कुल आठ।

ज्ञानावरणीय कर्म :—

कुर्वन् कर्माणि मोहेन सकर्मात्मा निगद्यते।
अर्जयेदशुभ कर्म, ज्ञानसाव्रियते तव ॥

मोह के उदय से जो व्यक्ति क्रिया करता है, वह सकर्मात्मा कहलाता है। सकर्मात्मा अशुभ कर्म का बन्धन करता है और उससे ज्ञान आवृत होता है। ज्ञान को आच्छादित करके इसके प्रकाश को घटा देने वाली प्रकृति ज्ञानावरण कहलाती है। इसको आँख की पट्टी की उपमा दी गई है।

ज्ञान या ज्ञानी से प्रतिकूलता रखना, ज्ञानी को कहना कि वह ज्ञानी नहीं है, किसी को ज्ञान प्राप्त करने मे विघ्न डालना, ज्ञान या ज्ञानी से द्वेष रखना, उसकी अवहेलना करना, उसके वचनो मे विरोध दिखाना—ये सब ज्ञानावरणीय कर्म -बन्धन के कारण है।

दर्शनावरणीय कर्म:- दर्शन को आवृत करके उसके प्रकाश को घटाने वाली प्रकृति दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

आवृत दर्शन चापि, वीर्यं भवति बाधितम ।
पौद्‌गलिकाश्च सयोगा प्रतिकूला प्रसृत्वरा ॥

अशुभ कर्म—बन्धन से दर्शन आवृत होताहै, वीर्य (आत्म—शक्ति) का हनन होता है, और प्रसरणशील पौदगलिक (भौतिक) सुखो की अनुकूलता नही रहती। यह कर्म प्रतिहारी (द्वारपाल) के समान है।

उद्येन च तीव्रेण ज्ञानावरण कर्मण ।
उदयो जायते तीव्रो दर्शनावरणस्य च ॥
तस्य तीव्रादयेन स्यात, मिथ्यात्वमुदित तत ।
अशुभाना पुद्‌गलाना, सग्रहो जायते महान ॥

ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से मिथ्यात्व (दृष्टि की विपरीतता) का उदय होता है और उसने बडी मात्रा मे अशुभ कर्मो का बन्धन होता है।

दर्शन या दार्शनिक से प्रतिकूलता रखना, दार्शनिक को कहना कि वह दार्शनिक नही है, किसी को शुभ का दर्शन करने मे विघ्न डालना, दर्शन या दार्शनिक से द्वेष रखना, उसकी अवहेलना करना, दर्शन या दार्शनिक के वचनो मे विरोध दिखाना—ये सब दर्शनावरणीय कर्म—बन्धन के कारण है ।

वेदनीय कर्मः- इष्टानिष्ट बाह्य विषयो या भोगो का सयोग व वियोग कराने वाली 'वेदनीय' प्रकृति है । इष्ट शरीर, इष्ट कुल व इष्ट भोगो को प्राप्त कराने वाली प्रकृति का नाम सातावेदनीय है और इसके विपरीत भोगो को पाप्त कराने वाली प्रकृति का नाम असाता वेदनीय है । वेदनीय कर्म के उदय होने को मधु-लिप्त तलवार की धार की उपमा दी गई है क्योकि यह वह अवस्था है जहाँ मधु चाटने से स्वाद मालूम होता है परन्तु साथ ही साथ जीभ भी कट जाती है ।

साता वेदनीय कर्म-बन्धन के छ कारण हैं .- प्राण, भूत, जीव और सत्व को अपनी असत् प्रवृत्ति से दु ख न दे, दीन न वनाये, शरीर को हानि पहुँचाने वाला शोक पैदा न करे, न सताये, लाठी आदि से प्रहार न करे । असाता वेदनीय कर्म का बन्ध उक्त कामो को करने से होता है ।

जैसे किसी श्वेत कपडे पर काले धब्बे के लगने से उसकी सफेदी मे विरूपण आ जाता है उसी तरह पाप रूपी काले धब्बे के लगने के कारण आत्मा की विशुद्धता पर कुसस्कारो का विरुपण छा जाता है । दूसरी ओर यदि उसी सफेद वस्त्र पर केसर के छीटे गिर जायेंगे तो वह वस्त्र सुवासित हो जाएगा परन्तु कपडे की सफेदी मे विरूपण आजाएगा । पुण्य परमाणु सुख सुविधा के निमित्त बन सकते है किन्तु कर्मो से मुक्त होने मे सहायक

नही हो सकते। पाप और पुण्य दोनो बन्धन के कारण है। ठीक यही बात अशुभ व शुभ कर्मो के सम्बन्ध मे लागू होती है। अशुभ कर्म का होना अनिष्ट सूचक सयोग है और शुभ कम का होना इष्ट सूचक सयोग है। शुभ व अशुभ इन दोनो का समागम इस ससार मे दृष्टिगोचर होता है।

मोहनीय कर्म :- चेतना को विकृत या मूर्च्छित करने वाला कर्म-पुद्गल मोहनीय कर्म है। समता और क्षमता (प्रशान्ति) को विकृत करके राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली मोहनीय प्रकृति है। यह कर्म-पुद्गल आत्मा को मूढ बनाने वाला होता है। इसको मद्यपान की उपमा दी गई है। जिस प्रकार मद्यपान करने वाले को सुध-बुध नही रहती, वैसे ही उस व्यक्ति की तत्त्व श्रद्धा विपरीत होकर विषय-भोगो मे आसक्ति हो जाती है जिसका मोहनीय कर्म उदय मे आता है। तीव्र क्रोध, मान, माया व लोभ, दर्शन मोह व चारित्र-मोह, तीव्र मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, आदि तीव्र नो-कषाय यह सभी मोहनीय कर्म--बन्धन के कारण है।

आयुष्य कर्म :- नरक, देव, मनुष्य व तिर्यन्च गतियो या शरीरो मे किसी निश्चित काल पर्यन्त जीव द्रव्य को रोक रखने वाली आयु नामक प्रकृति है। शुभ या अशुभ आयुष्य बध मे हेतुभूत पुद्गल समूह आयुष्य कर्म है। इस कर्म को 'काठ के खोडे' को उपमा दी गई है। जिस प्रकार काट के खोडे मे दिया हुआ आदमी उसको तोडे बिना नही निकल सकता, वैसे ही आयुष्य कर्म को पूरा भोगे बिना जीव एक भव से दूसरे भव मे नही जा सकता और आयुष्य कर्म का क्षय किये बिना मोक्ष भी नही पा सकता। इसके क्षय से ही आत्मा अ-मृत और अ-जन्मा बन सकती है।

आयुष्य कर्म-बन्ध के कारण यह है —

क) नरकायु बन्धने के चार कारण हैं - महा आरम्भ, महा परिग्रह, पचेन्द्रिय वध और मासाहार ।

ख) तिर्यञ्चायु बधन के चार कारण है - माया करना, गूढ माया करना (जैसे एक कपट को ढकने के लिये दूसरा छल करना) असत्य बचन बोलना, कूट तोल-माप करना ।

ग) मनुष्यायु बधने के चार कारण है - सरल प्रकृति होना, प्रकृति–विनीत होना, दया के परिणाम रखना, ईर्ष्या न करना ।

घ) देवायु बधने के चार कारण है -

१ सराग सयम –राग युक्त सयम पालना (आयुष्य का बन्ध न तो राग से होता है और न सयम से । वह तो सरागी सयमी की तपश्चर्या से होता है और भेदोपचार से सराग सयम कहा गया है) ।

२ सयमासयम –श्रावकपन पालना ।

३ बाल तपस्या –मिथ्यात्वी की तपस्या ।

४. अकाम निर्जरा –मोक्ष की इच्छा बिना या अध्यात्मिक लक्ष्य बिना तपस्या करना ।

नाम कर्म :–नाम कर्म का काम एक चित्रकार के कार्य के समान है । जिस प्रकार विभिन्न नये चित्रो का निर्माण करना एक चित्रकार पर निर्भर करता है उसी तरह भिन्न भिन्न प्रकार के शरीर का निर्माण करना,नाना प्रकार के रूप और तरह तरह के अ गोपाग आदि का यथायोग्य निर्माण होना नाम कर्म के उदय की अवस्था पर आधारित है । अर्थात शुभ नाम कर्म के उदय से

जीव शारीरिक और वाचिक उत्कर्ष की ओर बढता है और अशुभ नाम कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक अपकर्ष प्राप्त करता है। हमारे पूरे शरीर का निर्माण होना, हमारा यश या अपयश का पाना, वस्तु का आदेय होना या अनादेय होना, यह सब नाम कर्म के आधार पर यथायोग्य सभव होता है। सु दर होना, असु दर होना, मृदु स्वर वाला या कटु स्वर वाला होना, सौभाग्य शाली होना, या अभागा होना यह सब नाम कर्म की प्रकृतियो के ऊपर निभर है। नाम कर्म की भी विभिन्न प्रकृतिया है। आदेय नाम कर्म के उदय से व्यक्ति का वचन लोगो को मान्य होता है और अनादेय नाम कर्म के उदय से व्यक्ति का वचन युक्तिपूर्ण होते हुए भी अमान्य होता है। सुभग नाम कर्म के उदय से किसी प्रकार का उपकार किये बिना व सबध के बिना भी व्यक्ति दूसरो को प्रिय लगता है। दुभग नाम कर्म के उदय से उपकारक व सबधी भी अप्रिय लगता है। चारो गतियो (देव, मनुष्य, तिर्यन्च और नरक) पाचो इन्द्रियो (एकेन्द्रिय से लगाकर पचेन्द्रिय तक) पाचो काय (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु व वनस्पति) से लेकर मनुष्य पर्यन्त जीवो के शरीरो का निर्माण करने वाली रग बिरगी, कलायुक्त व चितेरी प्रकृति "नाम कर्म" सज्ञा को प्राप्त होती है। इन सभी जीवो मे सुन्दर या असुन्दर होना, सबल व निर्बल होना, शुभ या अशुभ होना, यह सब नाम कर्म के कारण होता है। अत एव यह कहा जा सकता है कि शरीर रचना की उत्कृष्टता व निकृष्टता का कारण नाम कर्म है। अशुभ नाम कर्मबन्धन के कारण यह है —

१ काय ऋजुता–दूसरो को ठगने वाली शारीरिक चेष्टा करना।

२ भाव ऋजुता–दूसरो को ठगने वाली मानसिक चेष्टा करना।

३ भाषा ऋजुता–दूसरो को ठगने वाली वाचिक चेष्टा करना।

४ अविसवादन योग–कथनी और करनी मे विसवादन न रखना।

उक्त कार्यो को करना शुभ नाम कर्म-बन्धन के कारण है।

गौत्र कर्म :—गौत्र कर्म कुम्भकार के समान है। जिस प्रकार विभिन्न रूप वाले मिट्टी के बर्तन तैयार करना एक कुम्भकार का कार्य है वैसे ही जीव का दूसरे से अच्छी दृष्टि से देखा जाना या तुच्छ दृष्टि से देखा जाना, उच्च कुल मे होना या नीच कुल मे होना, या दीन हीन होना ये सब गौत्र कर्म रूपी कुम्भकार पर निर्भर करता है। गौत्र कर्म के अनुभाव (चित्त को भावनाओ को प्रकट वाले लक्षण) आठ है —जाति विहीनता, कुल विहीनता, वल विहीनता, रुप विहीनता, तप विहीनता, श्रुत विहानता लाभ विहीनता और ऐश्वर्य विहीनता।

जाति, कुल, बल, रूप, तपस्या, श्रुत (ज्ञान) लाभ, ऐश्वर्य आदि इनका मद न करना उच्च गौत्र-बन्ध का कारण है और मद करना नीच गौत्र-बन्ध का कारण है। अर्थात् दूसरो द्वारा किसी जीव को अच्छी या बुरी दृष्टि से देखे जाने मे गौत्र-कर्म निमित्त बनता है।

अन्तराय कर्म :—अभीप्सित वस्तु की प्राप्ति मे वाधा पहुचाने वाला कर्म अन्तराय कर्म कहलाता है। इस प्रकार के कर्म की उपमा राजा के एक भण्डारी (कोषाध्यक्ष) से दी गई है। जिस प्रकार राजा की इजाजत होने पर भी भण्डारी के दिये बिना अमुक वस्तु इजाजत प्राप्त किए व्यक्ति को नही मिलती, वैसे ही अन्तराय कर्म-बन्धन के दूर हुए बिना इच्छित वस्तु सरलता से नही मिलती। इसके अनुभाव पाँच हैं :—दानान्तराय, लाभान्त-

राय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। दान, लाभ, भोग, उपभोग वीर्य (उत्साह या सामर्थ्य) इन सब मे बाधा डालना अन्तराय कर्म-बन्ध के कारण है।

ये आठ कर्म, उनका कार्य और कम-बन्धन के कारण प्रकृति बध के अन्तर्गत आते है।

२ स्थिति बध :—जीव के द्वारा जो शुभाशुभ कर्म पुद्-गल ग्रहण किये गये है, वे अमुक काल तक अपने स्वभाव को कायम रखते हुए जीव-प्रदेशो के साथ बधे रहेगे, उसके बाद वे शुभ या अशुभ रूप मे उदय मे आयेगे। इस प्रकार कर्मो का निश्चित काल तक के लिये जीव के साथ बध जाना या बधे रहना स्थिति बध है।

३. अनुभाग बंध :—यह रस बध भी कहलाता है। कुछ कर्म तीव्र रस से बधते है और कुछेक मद रस से। शुभाशुभ कार्य करते समय जीव की जितनी मात्रा मे तीव्र या मद प्रवृत्ति होती है, उसी के अनुरूप कर्म भी बधते है और उनमे फल देने की वैसी ही शक्ति होती है। तीव्र परिणामो से बधे हुए कर्मो का विपाक तीव्र और मद परिणामो से बधे हुए कर्मो का विपाक मद होता है। यह सब अनुभाग बध के कारण है।

४. प्रदेश बध :—भिन्न भिन्न कर्म–दलो मे परमाणुओ की सख्या का न्यूनाधिक होना प्रदेश-बध है। ग्रहण किये जाने पर भिन्न भिन्न स्वभाव मे परिणत होने वाली कर्म-पुद्गल राशि स्वभावानुसार अमुक अमुक परिणाम मे बट जाती है—यह परि-णाम विभाग ही प्रदेश बध कहलाता है। जीव सख्यात व असख्यात परमाणुओ से बने हुए कर्म-पुद्गलो को ग्रहण नही करता, परन्तु अनन्त परमाणु वाले स्कन्धो को ग्रहण करता है।

२. उद्वर्तना

यह कर्म की दूसरी अवस्था है। स्थिति बध और अनुभाव बध के बढने को उद्वर्तना कहते हैं। जिस कर्म की जितनी स्थिति बधी हुई है, उसे किसी निमित्त से बढा देना उद्वर्तना है।

३. अपवर्तना

यह कर्म की तीसरी अवस्था है। स्थिति बध और अनुभाव बध के घटने को अपवर्तना कहते है। कर्मो की बधी हुई स्थिति को उसे किसी निमित से कम कर देना अपवर्तना है।

उद्वर्तना और अपवर्तना के कारण कोई कर्म शीघ्र फल देता है और कोई देर मे, किसी कर्म का फल तीव्र होता है और किसी का मद।

४. सत्ता

यह कर्म को चौथी अवस्था है। कर्म-बन्धन के बाद कर्म का फल तत्काल नही मिलता, कुछ समय के बाद मिलता है। कर्म जब तक फल न देकर अस्तित्व रूप मे रहता है तब तक उसे सत्ता कहते हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि बन्धन के बाद जब तक कर्म जीव को फल नही देता है तब तक आत्मा से सलग्न रहता है पर सक्रिय रूप मे नही। उस समय उसका अस्तित्व है, पर वह सक्रिय नही है। इस दृष्टि से इस अवस्था को सत्ता के रूप मे माना गया है

५. उदय

यह कर्म की पाँचवी अवस्था है। आत्मा के साथ एकीभूत कर्म पुद्गल सक्रिय हो जाते है उस स्थिति को उदय

कहते है। ऐसा जब होता है जब स्थिति-बन्ध पूर्ण होने पर कर्म शुभ या अशुभ रूप मे भोगे जाते है।[1] उदय का अर्थ है काल-मर्यादा का परिवर्तन। वस्तु की पहली अवस्था की काल-मर्यादा पूरी होती है यह उसका अनुदय है। दूसरी अवस्था की काल-मर्यादा का आरम्भ होता है—वह उसका उदय है। बधे हुए कर्म पुद्गल अपना कार्य करने मे समर्थ हो जाते है, तब उनका निषेक प्रगट होने लगता है वह उदय है। "कर्म निषेको नाम कर्म-दलिकस्य अनुभवनार्थं रचना विशेष" अर्थात् कर्म-पुद्गलो को एक काल मे उदय होने योग्य रचना विशेष।

उदय दो प्रकार का होता है—फलोदय और प्रदेशोदय। जो कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाता है, उसे फलोदय या विपाकोदय कहते हैं। जो कर्म उदय मे आकर भी बिना फल दिये नष्ट हो जाता है, केवल आत्म-प्रदेशो मे भोगा जाता है, उसे प्रदेशोदय कहते हैं। ऐसे कर्म-पुद्गलो का आत्मा पर कुछ भी बाह्य असर नही दिखाई देता।

कर्म-पुद्गलो के परिपाक के बाद उनसे सुख-दुख रूपी फल मिलता है वह उनकी उदयमान अवस्था है। कर्मो के इस विपाक का, उदय का या परिणाम का बीज आखिर है कहाँ? यह एक प्रश्न है। कभी-कभी हमे लगता है कि अमुक बात अकस्मात् घटित हो गई। किन्तु कुछ भी आकस्मिक रूप से घटित नही होता। उसके घटित होने के पीछे एक कारण है जो अब तक छिपा हुआ था। जो कर्म बीज अनुकूल स्थिति पाकर अंकुरित हो जाता है वही कारण है। एक सामान्य जीवन व्यतीत करने

संदर्भ — 1 महाप्रज्ञ 'जैन दर्शन मनन और मीमांसा" पेज ३६३

वाला व्यक्ति कभी-कभी असामान्य आचरण कर लेता है। हम आश्चर्य मे पड जाते है और कहते है "अरे! यह व्यक्ति बहुत सज्जन था, इस प्रकार का असामान्य काम वह कर नही सकता।" आप उसके गत पचास वर्ष के सादे जीवन को देख कर, जो आपकी आखो के सामने गुजर चुका है, इतना आश्चर्य करते है पर उस व्यक्ति का सम्पूर्ण कार्मण जीवन केवल पचास वर्ष का प्रत्यक्ष जीवन ही नही है उसके पीछे उसके परोक्ष जीवन के कर्म भी नीहित है जो उसके पूर्व-जन्म के कर्म-बन्धन से सम्बन्ध रखते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उस व्यक्ति के पचास वर्ष से आचरण मे होने वाला जो व्यवहार है उसका अचानक अव्यवहारिक होना केवल वर्तमान जीवन का ही प्रतिफल नही है किन्तु यह उसके और किसी पूर्व-काल-कृत कर्मो का भी प्रतिफल हो सकता है जो अब फलीभूत हो रहा है। इस तथ्य को समझने के लिए हमे व्यक्ति के अतीत के कई जन्मो या कई भवो को भी ध्यान मे रखना होगा। साथ ही साथ हमारे जीवन मे जितनी घटनाएँ घटित हुई है, वर्तमान मे जितने भी तरह के आचरण हुए है, उन सब का स्रोत देखना होगा। वह स्रोत है अवचेतन मन। अवचेतन मन का स्तर अत्यन्त शक्तिशाली है। धर्म-शास्त्रो मे इस बात का उल्लेख पढने को मिलता है कि व्यक्ति जो कुछ करता है उसके पीछे अज्ञात कर्म-शक्ति की प्रेरणा निहित रहती है। "कम्मूणा जायए' वह कर्म से ही होता है। यही एक प्रेरक तत्व है। हमारे सभी तरह के आचरण का मूल स्रोत है कर्म। अभी जो कर्म सचित है या यो कहा जाय कि जो कर्म अस्तित्व मे है या सत्ता मे है, वे ही कर्म जब उदय मे आते है या विपाक की अवस्था मे होते है, तब नाना प्रकार की घटनाएँ घटित होती है। तब व्यक्ति का सारा का सारा व्यक्तित्व कर्मो के उदय काल की प्रेरणा के आधार पर चलता है। कर्म सिद्धान्त

को दार्शनिक भाषा मे जिसे हम कर्मो का विपाक मे आना कहते है उसे ही हम मनोविज्ञान की भाषा मे दमित इच्छाओ का 'उभार" मे आना कह सकते है ।

कोई व्यक्ति किसी अतीद्रिय ज्ञानी मुनि के पास गया और उसे निवेदन किया, "भते ! वर्तमान मे जो अमुक कर्म-फल मैं भोग रहा हू वह मेरे कौन से कर्मो के विपाक मे आने का कारण बना है ? तब अतीद्रिय ज्ञानी मुनि कहते है "तुमने अपने पहले के अमुक जीवन मे अमुक प्रकार की प्रवृत्ति की थी उसी का यह परिणाम है या विपाक है । हमारे अतीत के जीवन को ध्यान मे रखे बिना केवल वर्तमान के जीवन के आधार पर हम कर्म की व्याख्या कर उसके फलित होने सम्बन्धित तथ्य नही बता सकते । अत एव जीव की या कम की प्रवृत्ति और परिणाम इन दोनो के सम्बन्ध को विच्छेद कर देखा नही जा सकता । जो परिणाम आज दृष्य है उसके पीछे एक पूर्व काल की प्रवृत्ति छिपी है । परिणाम और प्रवृत्ति, प्रवृत्ति और परिणाम एक दूसरे से जुडे हुए हैं । हमारी आज की प्रवृत्ति का भविष्य मे परिणाम होगा । आज जो हम परिणाम देख रहे है वह हमारी अतीत की प्रवृत्ति के कारण है । साथ ही साथ जो वर्तमान क्षण की प्रवृत्ति है उसके पीछे अतीत की प्रवृत्ति के परिणाम का सम्बन्ध भी जुडा हुआ है । हेतु जुडा है । परिणाम कार्य भी है और कारण भी है । अतीत का कारण उनके पीछे है इसलिये वह कार्य भी है और भविष्य के कार्य का वह हेतु है इसलिए वह कारण भी है । निष्कर्ष यह है कि वर्तमान, अतीत और भविष्य इन तीनो के सघटन मे रह कर ही हम सत्य को पकड सकते हैं केवल वर्तमान मे रह कर नही ।

कर्म - पुद्गलो का सम्बन्ध अतीत से इसलिये हैं, कि वह दीर्घकाल से व अनादिकाल से आत्मा के साथ जुडा रहता चला आ रहा है। कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करता है और सम्बन्ध स्थापित करने के बाद लम्बे समय तक उसमे जुडा रहता है। कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से इसलिए है कि वह लम्बे समय तक आत्मा के साथ रहने के बाद एक दिन स्वय को विसर्जित कर देता है सदा उसके साथ जुडा नही रह पाता। सदा साथ मे जुडा वही रह सकता है जो स्थायी है। स्थायी वही हो मकता है जो सहज होता है। कम सहज नही होता, उसका स्वभाव ऐसा नही है। महज है चेतना, सहज है आनन्द, सहज है शक्ति। आत्मा का जो स्वाभाविक गुण है वह है सज्ञान (चैतन्य)। कर्म आया हुआ है, सहज उत्पन्न नही हुआ है। वह एक दिन आता है, सम्बन्ध स्थापित करता है और जब तक वह अपना प्रभाव पूरा नही डाल देता तब तक वह अपना अस्तित्व बनाये रहता है। जिस दिन वह व्यक्ति पर अपना प्रभाव डाल देता है अर्थात् अपना फल भोग लेता है उस दिन उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और वह विसर्जित हो जाता है। उसके विसर्जित होने का क्षण वर्तमान का क्षण है और आने का क्षण अतीत का क्षण है। उसके विनाश का क्षण वर्तमान का क्षण है और सम्बन्ध स्थापित करने का क्षण अतीत का क्षण है। इन दोनो क्षणो को ठीक से समझने का प्रयत्न करें तो कर्म बन्ध व उदय की पूरी प्रक्रिया हमारी समझ मे आ सकती है।

कर्म उदय होने की अवस्था :—हमने कोई भी क्रिया की उसके तत्काल बाद ही कर्मों का बन्धन हो जाता है। ऐसा कभी नही होता कि क्रिया अभी हो रही है और कर्मों का बन्धन बाद मे फिर कभी हो। कर्म अर्जित होने और उसके विपाक मे

आने तक हमारे साथ मे उसके रहने के सम्बन्ध मे नियम है। इस नियम के अनुसार कर्म अर्जन का काम उसी क्षण (जब कार्य किया जाता है) हो जाता है और उसके विपाक मे आने का एव उसके उपभोग का काल बहुत लम्बा है, आगे का है, कई वर्षों का है। अर्जित कर्मों के विपाक मे आने पर व्यक्ति उनका उपभोग दीर्घकाल तक करता रहता है। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति एक साथ बहुत सारा धन कमा लेता है उसे वह एक ही साथ उसी समय खर्च कर दे ऐसी बात नही है, वह उसे दीर्घ समय तक उपयोग मे लाता रहेगा। आस्रव का मुख्य कार्य है कर्मों का अर्जन किन्तु अर्जित कर्म पुद्गल कब सक्रिय होगे, कब तक निष्क्रिय रूप से रहेगे इसका नियम अर्जन करने के नियम से भिन्न है। कर्म–पुद्गलो की सक्रियता तत्काल नही होती। उदाहरणार्थ आज जन्मा हुआ बच्चा कानून की दृष्टि से यद्यपि सपत्ति का अधिकारी हो जाता है किन्तु उस सम्पत्ति पर पूरा अधिकार तभी प्राप्त होगा जब वह व्यस्क हो जाएगा। बीज रोपण के तुरन्त बाद फल नही दिखाई देते। वह अ कुरित होकर, पल्लवित होगा, फलेगा, फूलेगा, तब फल लगेगे। सभी कर्मों का निजी अस्तित्व काल होता है। जब यह अस्तित्वकाल पूरा होता है तब कर्म विपाक या उदय की स्थिति मे आते है और अपना फल देने लगते है और प्राणी शुभ या अशुभ फल भोगने लगता है।

> जीव खोटा खोटा कर्त्तव्य करे, जब पुदगल लागे ताम।
> ते उदय आया दु ख उपजे, ते आप कमाया काम॥
> पाप उदय थी दुख हुए, जब कोई मत करज्यो रोष।
> किया जैसा फल भोगवे, पुद्गल नो सु दोष॥

हम भोजन करते है। भोजन करने के बाद भोजन करने की क्रिया से निवृत्त हो जाते है। आगे की सारी क्रियाए स्वत

शरीर मे होती रहती हैं। भोजन नीचे उतरा, पाचन हुआ, छना भोजन को पचाने वाली रस की क्रिया हुई, रस बना, सारे शरीर मे फैला। जो सार तत्व था वह फैला, रक्त बना, सभी क्रियाएँ सचालित हुई। जो असार तत्त्व था, वह बडी आँत मे आ गया। उत्सर्ग की क्रिया समाप्त हुई। इस शरीर की सारी क्रियाएँ स्वत सम्पादित होती चली जाती है जिसका हमे पता भी नही चलता। निप्पादन के लिए कोई प्रयत्न किये बिना भी ये क्रियाएँ सम्पादित होती रहती हैं क्योकि ये शरीर की स्वचालित क्रियाएँ है।

कर्म-पुद्गलो का अदृश्य रूप से ग्रहण किया जाना भी जीव के लिए एक प्रकार का आहार है। जब हम कोई क्रिया करते है, तब क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। शारीरिक चचलता यानि मन, वाणी अथवा तन से किसी प्रकार की प्रवृत्ति होने के कारण जो अदृश्य कर्म-पुद्गल हमारी ओर आकृष्ट होते हैं ये सब हमारे आहार है। ये पुद्गल हमारे साथ घुल मिल जाते है, चिपक जाते हैं। चिपकने के बाद उनमे जो व्यवस्था होती है वह स्वत होती है। अर्थात् उनमे फल देने की शक्ति आ जाती है और समय आने पर कर्म-पुद्गल उदय मे आने लग जाते है।

कर्म का परिपाक और उदय अपने आप भी होता है और दूसरो के द्वारा भी। सहेतुक भी होता है और निर्हेतुक भी। कोई बाहरी कारण नही मिला, क्रोध-वेदनीय पुद्गलो के तीव्र विपाक से अपने आप क्रोध आगया,-यह उनका निर्हेतुक उदय है। इसी प्रकार हास्य, भय, वेद (विकार) और कषाय के पुद्गलो का भी दोनो प्रकार का उदय होता है।

१ अपने आप उदय मे आने वाले कर्म के हेतु —

गति-हेतुक उदय —नरक गति मे असाता (असुख) का उदय तीव्र होता है। यह गति-हेतुक विपाक उदय है। स्थिति-हेतुक उदय —मोह कर्म की सर्वोत्कृष्ट स्थिति मे मिथ्यात्व मोह का तीव्र उदय होता है। यह स्थिति हेतुक विपाक उदय है। भव-हेतुक उदय —दर्शनावरण (जिसके उदय से नीद आती है) सब के होता है, फिर भी नीद मनुष्य और तिर्यंच दोनो को आती है, देव और नरक को नही आती, यह भव (जन्म) हेतुक विपाक उदय है। गति, स्थिति और भव के निमित्त से कई कर्मो का अपने आप विपाक-उदय हो जाता है।

२ दूसरो द्वारा उदय मे आने वाले कर्म के हेतु —

पुद्गल-हेतुक उदय —किसी ने पत्थर फेका, चोट लगी, असाता का उदय हो गया। यह दूसरो के द्वारा किया हुआ असाता-वेदनीय का पुद्गल-हेतुक विपाक उदय है। किसी ने गाली दी, क्रोध आ गया। यह क्रोध वेदनीय-पुद्गलो का सहेतुक विपाक उदय है।

३ पुद्गल-परिणाम के द्वारा होने वाला उदय —भोजन किया वह पचा नही, अजीर्ण हो गया, उससे रोग पैदा हुआ। यह असाता-वेदनीय का विपाक उदय है।

४ मदिरा पी, उन्माद छा गया, ज्ञानावरण का विपाक-उदय हुआ। यह पुद्गल परिणमन हेतुक-विपाक उदय है। इस प्रकार अनेक हेतुओ से कर्मो का विपाक-उदय होता है। अगर ये हेतु नही मिलते तो उन कर्मो का विपाक-रूप मे उदय नही होता। जो कर्म-बन्धन होता है, वह अवश्य भोगा जाता है।

६. उदीरणा

यह कर्म की छठी अवस्था है। निश्चित उदय-काल से पहले विशेष पुरुषार्थ का प्रयोग कर कर्मो को उदय मे लाना उदीरणा कहलाती है। अबाधा-काल पूर्ण होने पर जो कर्म-दलिक बाद मे उदय मे आने वाले है, उनको प्रयत्न विशेष से खीच कर उदय-प्राप्त दलिको के साथ भोग लेना उदीरणा है।

जैन दर्शन के अनुसार कर्मो का उदय समय पर ही हो यह आवश्यक नही, समय से पहले भी हो सकता है। यदि कर्मो का उदय निश्चित समय पर ही हो तो कर्मवाद एक प्रकार का नियतिवाद हो जाता है। नियतिवाद मे पुरुषार्थ की सार्थकता नही होती क्योकि मनुष्य अपने भाग्य को बदल नही सकता। परन्तु भगवान् महावीर ने बतलाया कि मनुष्य अपने आंतरिक प्रयत्न द्वारा कर्मो के उदय की अवधि को घटा भी सकता और बढा भी सकता है। फल शक्ति को मन्द भी कर सकता है और तीव्र भी। तात्पर्य यह है कि तीव्र फल देने वाले कर्म मन्द फल देने वाले के रूप मे और मन्द फल देने वाले कर्म तीव्र फल देने वाले के रूप मे भोगे जा सकते है। कर्मो की स्थिति और रसको मन्द कर देना उदीरणा के द्वारा ही हो सकता है। यदि ऐसा सम्भव नही होता तो तपस्या का कोई अर्थ नही रहता। नियत समय से पूव कर्मो को उदय मे लाने के लिये ही तपस्या की जाती है। पातजलयोग भाष्य मे भी अदृष्ट जन्म-वेदनीय कर्म की तीन गतिया बताई गई है। उनमे कई कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। एक गति यह है और इसी को जैन दर्शन मे उदीरणा कहा है। तेरापथ सम्प्रदाय के चतुर्थ जयाचार्य रचित प्रसिद्ध ढाल "आराधना" मे कहा है —

"जिन कल्पिक साधु लेवे कष्ट उदीरो रे
तो आव्या उदय किम थाय अधीरो रे ।। भावे भावना ।।
सही चरम जिनेश्वर वेदन असरालो रे ।
सम भावे करी, तोडिया अघ जालो रे ।। भावे भावना ।।

जिन कल्पिक साधु कष्ट उदेड कर लेते है तो अगर सहज ही कष्ट उदय मे आ जाय तो अधीर क्यो होता है ? जिनेश्वर भगवान् ने असह्य वेदना सम भाव से सहन कर कर्मों के वृन्द के वृन्द तोड डाले । इसलिए तपस्या करना व समभाव से कष्टो को सहन करने से कर्मो को उदीरणा होती है ।

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा–भगवन् !
क्या जीव उदीर्ण कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है ?
क्या जीव कनुदीर्ण कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है ?
क्या जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा योग्य कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है ?
क्या जीव उदयानन्तर पश्चात्-कृत कर्म पुद्गलो की उदीरणा करता है ?

भगवान महावीर ने उत्तर मे कहा—गौतम !
हाँ, जीव उदीर्ण की उदीरणा नही करता ।
जीव अनुदीर्ण की उदीरणा भी नही करता ।
जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा योग्य कर्मो की ही उदीरणा करता है ।
जीव उदयान्तर पश्चात्-कृत कर्म की उदीरणा भी नही करता ।
गौतम स्वामी ने फिर भगवान् महावीर से पूछा —

"भगवन् ! अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा योग्य कर्म-पुद्गलो की जो उदीरणा होती है क्या वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम के द्वारा होती है अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम के द्वारा ?"

भगवान् महावीर ने उत्तर मे कहा—"गौतम ! जीव उत्थान आदि के द्वारा अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है, किन्तु अनुत्थान आदि के द्वारा नही करता।"

यह भाग्य और पुरुषार्थ का समन्वय है। पुरुषार्थ द्वारा कर्मो मे परिवर्तन लाया जा सकता है, यह स्पष्ट है। परन्तु कर्म की उदीरणा 'करण' के द्वारा होती है। 'करण' का अर्थ है 'योग'। योग के तीन प्रकार है—शारीरिक, वाचिक व मानसिक व्यापार। उत्थान आदि इन्ही के अन्तर्गत है। योग शुभ और अशुभ दोनो प्रकार का होता है। आस्रव-चतुष्टय मे अप्रवृत्ति शुभयोग और उसमे प्रवृत्ति अशुभ योग। शुभ योग तपस्या है, सत् प्रवृत्ति है। यह उदीरणा का हेतु है। क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रवृत्ति अशुभ योग है। उससे भी उदीरणा होती है।

यद्यपि पुरुषार्थ द्वारा कर्म-बन्धन के उदय की अवधि को घटाया भी जा सकता है और बढाया भी जा सकता है परन्तु कुछ कर्म ऐसे भी है जो लाख प्रयत्न के उपरान्त भी भोगे बिना कट नही सकते। आगम की भाषा मे उन्हे निकाचित कर्म कहते हैं। जैसे कपडे पर लगने वाले दाग कोई थोडे प्रयत्न से उतर जाते है और कई दाग ऐसे होते है जो कपडा फटने तक नही उतरते। कर्म के उदय और उदीरणा मे भेद इतना ही है कि एक मे प्रयत्न बिना ही स्वाभाविक क्रिया व क्रम से कर्म के फल को भोगा जाता है और दूसरे मे प्रयत्न करके उसके फल को पहले भोगा जाता है।

अपने संचित कर्म की, जब उदीरणा होय।
तब समता से वेदने, सहज निर्जरा होय॥

पुरुषार्थ का सिद्धान्त

कर्मो का बन्धन और उदय अगर ये दो ही अवस्थाएँ होती तो कर्मो का बन्धन होता और वे वेदना के बाद निर्वीर्य होकर आत्मा से अलग हो जाते। परिवतन को कोई अवकाश ही नहीं मिलता और न कोई पुरुषार्थ की आवश्यकता होती। कर्म की अवस्थाएँ-बन्धन और उदय-इन दो के अतिरिक्त और भी है – अपवर्तन के द्वारा कर्म-स्थिति का अल्पीकरण (स्थिति-घात) और रस का मन्दीकरण (रसघात) होता है। उदवर्तन के द्वारा कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रोकरण होता है। उदीरणा के द्वारा लम्बे समय के बाद तीव्र भाव से उदय मे आने वाले कर्म तत्काल और मन्द-भाव से उदय मे आते है। सक्रमण के द्वारा एक कर्म-प्रकृति की दूसरो सजातीय कर्म प्रकृति मे परिर्वातित होता है। अपवर्तन उदवतन, उदीरणा और सक्रमण ये चारो उदय-क्षण के वहिर्भूत कर्म-पुद्गलो के ही होते है। उदय-क्षण मे प्रविष्ट कर्म-पुद्गल के उदय मे कोई परिवर्तन नही होता। अनुदित कम के उदय मे परिवर्तन होता है। पुरुपार्थ के सिद्धान्त का यही ध्रुव आधार हे। यदि यह नही होता तो कोरा नियतिवाद ही होता।

पुरुषार्थ मे इतनी शक्ति होती है कि वह भाग्य को बदल मकता है। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से प्रबल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा भी कर सकगा है। अगर वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से निर्बल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा नहीं कर सकता।

विश्व मे कोई भी तत्व ऐसा नही है जो परिवर्तनशील न हो जो वस्तु नित्य है वह अनित्य भी है और जो वस्तु अनित्य है वह

नित्य भी है। भगवान् महावीर की ऐसी धारणा थी कि जिस तरह पारे को सोने मे बदला जा सकता है उसी तरह कर्म के रूप को भी बदला जा सकता है। अगर व्यक्ति के पुण्य के सस्कार प्रबल हो तो वह पाप के परमाणुओ को पुण्य के परमाणुओ मे बदल सकता है और अगर उसके पुण्य के सस्कार प्रबल न हो तो पुण्य के परमाणु पाप के परमाणुओ मे भी बदल सकते हैं। यह सब व्यक्ति की सकल्प शक्ति पर निर्भर है जिसके कारण ऐसे परमाणुओ का सक्रमण किया जा सकता है और होने वाली दुर्घटना भी टाली जा सकती है।

जब मनुष्य आत्म-चैतन्य की अवस्था मे यानि राग-द्वेष आदि विकार रहित अवस्था मे होता है तो उसका चित्त आलोकित हो उठता है। उस समय उसके पुण्य के सस्कार प्रबल होकर पाप के परमाणुओ को पुण्य के परमाणुओ मे बदल डालते है परन्तु यह साधना की स्थिति बहुत ऊँची है।

७. सक्रमण

यह कर्म की सातवी अवस्था है। सक्रमण का अर्थ है एक का दूसरे मे समावेश। एक ही कर्म की भिन्न-भिन्न प्रकृतिया जब परस्पर सक्रान्त हो जाती है तब उस स्थिति को सक्रामण कहा जाता है। जिस अध्यवसाय से जीव कर्म-प्रकृति का बन्ध करता हैं, उसकी तीव्रता के कारण वह पूव-बद्ध सजातीय प्रकृति के दलिको के साथ सक्रान्त कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता हैं वह सक्रमण है। जैसे क्रोध का मान के रूप मे और मान का क्रोध के रूप मे बदल जाना सक्रमण है। आयुष्य कर्म का सक्रमण नही होता। दर्शन-मोह और चारित्र-मोह का परस्पर सक्रमण नही होता। सक्रमण के

चार प्रकार है –प्रकृति, स्थिति, अनुभाव व प्रदेश। प्रकृति सक्रमण से पहले बधी हुई प्रकृति (कर्म-स्वभाव) वर्तमान मे बधने वाली प्रकृति के रूप मे बदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव व प्रदेश सक्रमण का परिवर्तन होता है।

स्थानाङ्ग सूत्र (पेज ७०२) मे कहा गया है —

सुभे णाम मेगे सुभ विवागे सुभे णाम मेगे असुभ विवागे।
असुभे णाम मेगे सुभ विवागे असुभे णाम मेगे असुभ विवागे॥

एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है।
एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक अशुभ होता है।
एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है।
एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक शुभ होता है

जो कर्म शुभ रूप मे ही बधता है और शुभ रूप मे ही उदित होता है, वह शुभ और शुभ विपाक वाला होता है।

जो कर्म शुभ रूप मे बधता है और अशुभ रूप मे उदित होता है, वह शुभ और अशुभ विपाक वाला होता है।

जो कर्म अशुभ रूप मे बधता है और शुभ रूप मे उदित होता है, वह अशुभ और शुभ विपाक वाला होता है।

जो कर्म अशुभ रूप मे बधता है और अशुभ रूप मे ही उदित होता है, वह अशुभ और अशुभ विपाक वाला होता है।

कर्म के बध और उदय मे जो यह अन्तर आता है, उसका कारण सक्रमण है यानि वध्यमान कर्म मे कर्मान्तर का प्रवेश।

८ उपशम

यह कर्म की आठवी अवस्था है। मोह कर्म की सर्वथा

अनुदयावस्था को उपशम कहते हैं। जिस समय मोहनीय कर्म का प्रदेशोदय व विपाकोदय नही रहता, उस अवस्था को उपशम कहते है।

९. निधत्ति

यह कर्म की नवमी अवस्था है। जिसमे उद्‌वर्तन, अपवर्तन के सिवाय सक्रमण आदि नही होता उसे निधत्ति कहते है। जैसे गुड बनने से पूर्व गन्ने की राब वनती है फिर गुड जमता है। जो राब है वह है निधत्ति और गुड है वह निकाचना। आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को प्रगाढ वनाना निधत्ति का काम है।

१०. निकाचना

यह कर्म की दशवी अवस्था है। जिन कर्मो का फल निश्चित स्थिति और अनुभाग के आधार पर भोगा जाता है, जिनके विपाक को भोगे बिना छुटकारा नही मिल सकता वे निकाचित कम कहलाते हैं। इनको दूसरे शब्दो मे निरुपक्रम भी कहते है, जिनका विपाक अन्यथा नही हो सकता। निरुपक्रम का कोई प्रतिकार नही होता। आज भी यदि कोई व्यक्ति जघन्य अपराध करे और उसको सत्र न्यायालय द्वारा फासी की सजा हो जाय, तो उच्चतम न्यायालय भी उस सजा को बहाल रखता है। यहा तक कि ऐसे अपराधी को राष्ट्रपति भी क्षमा नही करता और उस सजा को भोगकर ही व्यक्ति इस जीवन से छुटकारा पाता है। ऐसे कर्मो का आत्मा के साथ बहुत गाढा सम्बन्ध होता है और उनका उद्‌वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा आदि कुछ भी नही होता। निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के आधीन होता है। दलिक कर्म जिन्हे सोप क्रम भी कहते है यह उपचार साध्य है। उनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है। दलित कर्मो की

चार प्रकार है –प्रकृति, स्थिति, अनुभाव व प्रदेश। प्रकृति सक्रमण से पहले बधी हुई प्रकृति (कर्म-स्वभाव) वर्तमान मे वधने वाली प्रकृति के रूप मे बदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव व प्रदेश सक्रमण का परिवर्तन होता है।

स्थानाङ्ग सूत्र (पेज ७०२) मे कहा गया है —

सुभे णाम मेगे सुभ विवागे सुभे णाम मेगे असुभ विवागे।
असुभे णाम मेगे सुभ विवागे असुभे णाम मेगे असुभ विवागे ॥

एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है।
एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक अशुभ होता है।
एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है।
एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक शुभ होता है

जो कर्म शुभ रूप मे ही बधता है और शुभ रूप मे ही उदित होता है, वह शुभ और शुभ विपाक वाला होता है।

जो कर्म शुभ रूप मे वधता है और अशुभ रूप मे उदित होता है, वह शुभ और अशुभ विपाक वाला होता है।

जो कर्म अशुभ रूप मे बधता है और शुभ रूप मे उदित होता है, वह अशुभ और शुभ विपाक वाला होता है।

जो कर्म अशुभ रूप मे बधता है और अशुभ रूप मे ही उदित होता है, वह अशुभ और अशुभ विपाक वाला होता है।

कर्म के बध और उदय मे जो यह अन्तर आता है, उसका कारण सक्रमण है यानि वध्यमान कर्म मे कर्मान्तर का प्रवेश।

८. उपशम

यह कर्म की आठवी अवस्था है। मोह कर्म की सर्वथा

अनुदयावस्था को उपशम कहते हैं। जिस समय मोहनीय कर्म का प्रदेशोदय व विपाकोदय नही रहता, उस अवस्था को उपशम कहते हैं।

९. निधति

यह कर्म की नवमी अवस्था है। जिसमे उद्वर्तन, अपवर्तन के सिवाय सक्रमण आदि नही होता उसे निधति कहते है। जैसे गुड बनने से पूर्व गन्ने की राब बनती है फिर गुड जमता है। जो राब है वह है निधति और गुड है वह निकाचना। आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को प्रगाढ बनाना निधति का काम है।

१०. निकाचना

यह कर्म की दशवी अवस्था है। जिन कर्मो का फल निश्चित स्थिति और अनुभाग के आधार पर भोगा जाता है, जिनके विपाक को भोगे बिना छुटकारा नही मिल सकता वे निकाचित कम कहलाते हैं। इनको दूसरे शब्दो मे निरुपक्रम भी कहते हैं, जिनका विपाक अन्यथा नही हो सकता। निरुपक्रम का कोई प्रतिकार नही होता। आज भी यदि कोई व्यक्ति जघन्य अपराध करे और उसको सत्र न्यायालय द्वारा फासी की सजा हो जाय, तो उच्चतम न्यायालय भी उस सजा को बहाल रखता है। यहा तक कि ऐसे अपराधी को राष्ट्रपति भी क्षमा नही करता और उस सजा को भोगकर ही व्यक्ति इस जीवन से छुटकारा पाता है। ऐसे कर्मो का आत्मा के साथ बहुत गाढा सम्बन्ध होता है और उनका उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा आदि कुछ भी नही होता। निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के आधीन होता है। दलिक कर्म जिन्हे सोप क्रम भी कहते है यह उपचार साध्य है। उनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है। दलित कर्मो की

अपेक्षा दोनो पक्ष हैं। जहाँ जीव उनको अन्यथा करने के लिये कोई प्रयत्न नही करता, वहा जीव उन कर्मो के आधीन हो जाता है और जहाँ जीव अपने प्रबल धृति मनोबल, शरीरबल आदि सामग्री की सहायता से सत्प्रयत्न करता है वहाँ कर्म जीव के आधीन होता है। इस तरह जीव और कर्म का सघर्ष चलता रहता है। जहाँ जीव के काल आदि अवस्थाओ मे लब्धियो की अनुकूलता होती है, वह कर्मो को परास्त कर देता है और जब जीव के कर्मो की बहुलता होती है तब जीव लब्धियो से दब जाता है। इसलिये यह मानना पडता है कि कभी जीव कर्म के आधीन होता है और कभी कर्म जीव के आधीन।

इस प्रकार कर्मो की और भी अवस्थाएं हो सकती है पर यहा दस अवस्थाओ की चर्चा की गई है।

संकल्प शक्ति का महत्व

शुभ व अशुभ कर्म निमित्त कारणो मे परिवर्तन तो ला देते हैं किन्तु मन का सकल्प इन निमित्तो मे सब से बडा निमित्त कारण है। इससे जितना परिवतन सभव है उतना किसी और निमित्त से नही हो सकता। जो व्यक्ति अपने निश्चय मे एकनिष्ठ होता है उसके लिए कठिन से कठिन कार्य भी सरल बन जाता है।

सकल्प मे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्ति की सभी शक्तियाँ निहित है। सकल्प एक कल्प वृक्ष है जिसकी साधना से व्यक्ति अनन्त आनन्द को प्राप्त कर सकता है। दृढ सकल्पी महाराणा प्रताप मुगलो को चुनौती हेतु कई वर्षो तक जगल मे भूखे-प्यासे घूमते रहे। सकल्प बिना श्रद्धा के नही हो सकता। श्रद्धा के अभाव मे सकल्प मे दृढता नही आ सकती। श्रद्धा

मकल्प की पृष्ठ भूमि है, मेरु दण्ड है, किसी भी मजिल का प्रथम सौपान है। जहाँ श्रद्धा है, वहाँ सिद्धि है। किसी कार्य की सिद्धि के लिए पहली शर्त है श्रद्धा। जितना विश्वास बढता है, उतनी सिद्धि की आशा बढती है। विश्वास के आधार पर सकल्प मे दृढता आती है। महात्मा गाँधी का कथन है, "सकल्प से व्यक्ति अपने भाग्य को बना सकता है व दिव्य ज्योति को प्रज्वलित कर सकता है।"

भगवान बुद्ध के एक शिश्य ने एक बहुत बडी तथा कठिन चट्टान को देखकर भगवान से पूछा—"भगवन्! इस चट्टान पर भी कोई शासन कर सकता है?"

बुद्ध ने कहा,—"लोहा इस चट्टान को खड खड कर सकता है। अत चट्टान से लोहा श्रेष्ठ है।"

शिष्य ने पूछा,—"लोहे से श्रेष्ठ क्या है?"
बुद्ध ने बताया—"आग लोहे के अभिमान को पिघला देती है।"

शिष्य ने पुन जिज्ञासा की,—"आग से बढकर क्या होगा?"
बुद्ध बोले—"आग से पानी श्रेष्ठ है क्योंकि वह आग को बुझा देता है।"

शिष्य का कौतुहल बढा और उसने निवेदन किया,—"भगवन्! पानी पर भी कोई प्रभाव जमा सकता है?"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"पानी के ऊपर वायु है। वायु का प्रवाह पानी की गति को वदल देता है। वायु ही प्राण सचालक है।"

शिष्य ने फिर जानना चाहा,–"वायु से भी श्रेष्ठ कोई है ?"

बुद्ध ने मुस्कान के साथ कहा—"वायु को भी वश मे करने वाली मनुष्य की सकल्प शक्ति है जो सब पर शासन करती है।"

जब तक हमारी सकल्प शक्ति दृढ नही होती हमारा अध्यवसाय भी दृढ नही होता और प्राय हमारी गति मे अवरोध आ जाता है। जो काम सभव है वह भी असभव बन जाता है। यदि हमारे जीवन मे सकल्प शक्ति जागृत हो जाती है तो हमारे लिए कठिनाइयो के पहाड को पार करना कोई बडी बात नही और सही प्रयत्न से असभव कार्य भी सभव बन जाता है। सकल्प शक्ति को जगाने के लिए सयम को अपनाना आवश्यक है।

एक समय गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा,—"भते! सयम (Self-control) से जीव क्या प्राप्त करता है ?"

भगवान महावीर ने कहा– 'सयम से जीव आस्रव का निरोध करता है। सयम रखने का परिणाम होता है अनास्रत्व।"

जिस व्यक्ति मे सयम की शक्ति विकसित हो जाती है उसमे विजातीय द्रव्य का प्रवेश नही हो सकता और वह बाहरी दुष्प्रभावो से प्रभावित नही होता।

सयमी बनने के लिए यह आवश्यक है कि हम सब काम ठीक समय पर करे। भोजन के समय हम भोजन करे, सोने के समय हम सोएँ। अगर हम हमेशा प्रात काल ध्यान करते है तो प्रति दिन उसी समय और उसी प्रकार ध्यान करे। यदि हम मन की किसी अन्य माग को स्वीकार नही करेंगे तो हमारी सकल्प शक्ति प्रबल हो सकती है। सयमी बनना या न बनना हमारी सकल्प

शक्ति की दृढता या शिथिलता पर निर्भर करता है। यदि नियम पूर्वक सयम अपनाया जाय तो कर्मो के उदय मे भी परिवर्तन लाया जा सकता है यानि तीव्र परिणाम वाले कर्मो को मन्द परिणाम वाले कर्मो मे परिवर्तन किया जा सकता है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनत्मैवात्मनाजिन ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव व शत्रुवत ॥

जिसने अपने मन को जीत लिया है उसके लिए उसका मन सबसे अच्छा मित्र है। परन्तु जो ऐसा करने मे असफल हुआ है उसके लिए वही मन सब से बडा शत्रु है। जिस व्यक्ति का अपने मन पर नियन्त्रण है उसकी सकल्प शक्ति दृढ होनी ही चाहिये।

सदर्भ —

साध्वी कथन कुमारी "सकल्प' प्रेक्षाध्यान फरवरी १६८२ पेज १८

कर्म-सिद्धान्त की व्यवहारिक प्रामाणिकता

इस चैतन्य जगत मे वहुत विविधता है और इसका एक प्रमुख निमित्त है कम। यदि कर्म-परमाणु नही होते तो जीव के साथ कर्मो का बन्धन नही होता और ये विविधताएं जैसे कोई धनवान होना, कोई गरीव होना, कोई रोगी होना, कोई निरोगी होना, कोई सुखी होना, कोई दुखी होना, नही होती। सब कुछ समान ही होता। किसी भी तरह का परिवर्तन नही होता। इस समार का विभाजन होना कर्मो के अस्तित्व का वहुत वडा प्रमाण है।

मनुष्य कर्मों से बधा है इसलिए उसमे रागात्मक और द्वेषात्मक परिणाम होते है और ऐसे परिणाम भी कर्मों के अस्तित्व का प्रमाण है। कर्म-बन्धन चैतन्य का मूल स्वभाव नही है। यह स्वभाव का अतिक्रमण है। स्वभाव के विरुद्ध जो कुछ काम किया जाता है उसका प्रेरक तत्त्व कर्म है।

जीव मे चचलता का होना भी कर्मों के अस्तित्व का पुष्ट प्रमाण है। जीव मे सक्रियता तो होती है क्योकि यह जीव का मूल लक्षण हैं। चचलता जीव का मूल लक्षण नही है इसलिए इसका होना कर्मो का अस्तित्व है। कम है इसलिए यह शरीर है और शरीर है इसके लिए शरीर के साथ-साथ मन और वाणी मे भी चचलता है।

पुद्गल और जीव का जो परस्पर सम्बन्ध है वह भी कर्मो के कारण है। जीव मे जो राग-द्वेषात्मक परिणाम है वे पुद्गल को सहयोग देते है और पुद्गल राग-द्वेषात्मक परिणाम को सहयोग देते है। जीव का इस तरह पुद्गलो से प्रभावित होना इस बात का द्योतक है कि कर्मो का अस्तित्व है।

कर्मों के कारण ही एक व्यक्ति स्वामी बनता है और दूसरा सेवक। इस विषमता का कारण उसका शुभ और अशुभ कर्म ही है। कर्म किसी भी प्राणी को नही छोडते। उदाहरणार्थ मर्यादा पुरुषोत्तम राम को एक ओर से तो राज्याभिषेक का प्रस्ताव आया और दूसरी ओर से चौदह वर्ष का बनवास का प्रस्ताव। अनुकूलता एव प्रतिकूलता यह सब कर्मो की गति के आधीन है। समता और विषमता जो इस जगत मे दिखाई देती है वह सब कर्मो के कारण है। हम देखते है कि कही अत्यन्त सम्पन्नता है तो कही सीमातीत विपन्नता है, कही ऐश्वर्य अठखेलिया

कर रहा है तो कही दरिद्रता मासूम बच्चो के प्राण नोच रही है, कही बेशुमार पकवान सड रहे है तो कही क्षुधा से पीडित प्राणी मर रहा है। कही ऊ चा सिर किये हुए गगन चुम्बी अट्टालिकाएँ खडी मुस्कुरा रही है तो कही टूटी-फूटी झोपडियाँ सिसकिया भर रही हैं। कही सुन्दरता मद मे झूम रही है तो कही कुरूपता औंधे मुँह पडी तडप रही है। यह सब कर्म सत्ता के वैचित्र्य को प्रमाणित करती है। इस विचित्रता और उसके कारण का बडा ही गभीर और तलस्पर्शी वर्णन तेरापथ सप्रदाय के आद्याचार्य सत भिक्षु ने चन्द भावपूर्ण सोरठो मे किया है जो इस प्रकार है —

एक नर पडित प्रवीण रे, एक ने आखर न चढे।
एक नर मूर्ख दीन रे, भाग बिना भटकत फिरे ॥१॥
एकण रे भरिया भडार रे, ऋद्ध सम्पत घर मे घणी।
एकण रे नही लिगार रे, दीधा मो ही पाइये ॥२॥
एकण रे आभूषण अनेक रे, गहणा विविध प्रकार ना।
एकण रे नही एक रे, वस्त्र बिना नागो फिरे ॥३॥
एक नर जीमे कूर रे, सीरो पूरी लापसी।
एकण रे नही बूर रे भीख मागत भटकत फिरे ॥४॥
एक नर पोढे खाट रे, सेज बिछाई ऊपरे।
एक नर ढूढे हाट रे, आदर मान किहाँ नही ॥५॥
एक नर हय असवार रे, चढे हस्ती ने पालखी।
एकण रे सिर भार रे, गाव गाव भटकत फिरे ॥६॥
एकण रे रहे हजूर रे, हाथ जोड हाजर रहे।
एक नर ने कहे दूर रे, निजर मेलै नही तेहस्यू ॥७॥
एक नर सुन्दर रूप रे, गमतो लागे सकल ने।
एकज कालो कुरूप रे, गमतो न लागे केहने ॥८॥
एक बालक विधवा नार रे, रात दिवस झूरे घणी।

एक सझ सोले सिणगार रे, रुन रुन ना फल भोगवे ।।९।।
एक नर छत्र धराय रे, श्राण मनावे देश मे ।
एक नर अलाणै पाय रे, फिरे घर घर टुकडा मागतो ।।१०।।
एक बैस सिघासन पाट रे, हुकम चलावे लोक मे ।
एक फिरेज हाटो हाट रे, एक कोडी रे कारणे ।।११।।
एक नर निरमल देह रे, एक ने रोग पीडा घणी ।
किसो कीजै अहमेव रे, किया सोई पाइये ।।१२।।
एक सारै निज काज रे, सजम मारग आदरे ।
एकज बिलसे राज रे, काज बिगाडे आपरो ।।१३।।
एक रमै नर नार रे, मद मास तणो भक्षण करे ।
त्यारे दया न दिसै लिगार रे, ते सुख पावे किण विधै ।।१४।।
एक नर पालै शील रे, साध तणी सेवा करे ।
पावे अविचल लील रे मोख तणा सुख सासता ।।१५।।
निरफल रुँखज होय रे निरफल हो ज्यावे असतरी।।
सुणज्यो भवियण लोय रे, करणी कदै निरफल नही ।।१६।।

मनुष्य जैसा करता है वैसा ही पाता है। रूख-वृक्ष निष्फल हो सकता है, स्त्री निष्फल हो सकती है पर हे भविजन ! करणी-धर्म-क्रिया कभी निष्फल नही होती।

जोधपुर मे जन्मे साह सोहनराज रचित 'चकरिये की चहक" मे कुछ सोरठे कर्मो की विचित्रता को प्रकट करते है वे इस प्रकार है —

सब रै होत समान, नाक, कान, कर, पद, नयन ।
पावत भाग्य प्रमान, चिणा, चूरमा, चकरिया ।।
घर रह, रह पर ग्राम, करले उद्यम क्रोड विध ।
कुछ भी सरै न काम, चोखा दिन बिन चकरिया ।।

राखै जिण विध राम, राजी हुय उण विध रहो ।
कोई सरै न काम, चीचायाँ सु चकरिया ।।
हरि चिन्तै सो होय, नर चिन्त्या होवै नही ।
रह्यो दुशासन रोय, चीर घट्यो नही चकरिया ।।
भूँडो अपणो भाग, सब चोखा ससार मे ।
राखे न किणसुँ राग, चूक करम मे चकरिया ।।
भाग्य लिख्योडा भोग, भला बुरा सब भोग ।
झूठा हुवै न जोग, चतुरानन रा चकरिया ।।
माँगी मिलै न मौत, माल मिलै किम माँगियाँ ।
निज करमाँ री नौत, चूक किण री चकरिया ।।
बीती करो न बात, आशा करो न आगली ।
होणी हरि रै हाथ, चोखी भूँडी चकरिया ।।

दो व्यक्तियो के समान साधन, समान परिस्थितियाँ होने एव समान परिश्रम करने के उपरान्त भी एक व्यक्ति को इच्छित फल की प्राप्ति शीघ्र एव सुगम रूप से हो जाती है परन्तु दूसरे व्यक्ति को ध्येय की प्राप्ति इतनी सरलतापूर्वक नही होती । इसका क्या कारण है ? स्पष्टतया इस प्रकार की फल प्राप्ति की विषमता मे कोई वस्तु निमित्त है जो बाधक बन रही है । इस वैषम्य का निमित्त कर्म-बन्धन हो सकता है ।

किसी स्थान पर चाहे कितना ही गहन अ धकार क्यो न हो, यदि छोटी सी प्रकाश की रेखा उस स्थान पर प्रकट हो जाती है तो वह अन्धकार लुप्त हो जाता है–प्रकाश के सम्मुख टिक नही सकता । ठीक यही बात कर्मो के प्रभाव के सम्बन्ध मे भी लागू होती है । कर्मो के उदयकाल की भीषणता कितनी ही प्रबल हो यदि उस जीव के भीतर चैतन्य जागृत हो गया है, आत्मा की स्वानुभूति

को प्रबलता है तो इन कर्मों के विपादपूर्ण प्रभाव का कुछ भी जोर नही चलेगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कर्मो की प्रबलता ही सर्वोपरो नही है उसके बन्धन को विच्छेद करने वाली भी सत्ता है और वह है जीव मे आत्म-ज्योति जिसके प्रकट होते ही कर्म-बन्धन रूपी समस्त अन्धकार समाप्त हो जाता है। परन्तु इस प्रकार की ज्योति को अनुभव करना जीव के लिए बहुत कठिन कार्य है क्योकि वह अज्ञान के अन्धकार मे डूबा हुआ है। यहा भाविक के पुरुषार्थी होने की बात सामने आती है। कर्मो की प्रबलता से निश्चित तौर पर हमारे ध्येय की प्राप्ति मे वाधा पडती है परन्तु यदि हमारा पुरुषार्थ प्रबल है, परिश्रम अथक है, साधना शक्तिशाली है तो कर्मो की प्रबलता क्षीण होगी, अज्ञान रूपी अन्धकार दूर होगा और आत्म-ज्योति स्वत प्रकट होगी। इस प्रकार भाविक के पुरुषार्थी होने पर कर्मो का भयावना बन्धन ढीला पड जाता है।

सदर्भ —

श्रीचन्द रामपुरिया—"आचार्य भिक्षु जीवन कथा और व्यक्तित्व"
शाह सोहनराज—"चकरिये की चहक"

कर्म, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म

कर्म, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का परस्पर सम्बन्ध है और वह अविच्छेद्य है। अपने पूर्वजन्म के शुभाशुभ कर्मो के अनुसार ही व्यक्ति को वर्तमान मे सुख दुख की अवस्था मे से होकर गुजरना पडता है। अपने पूर्व पुण्य कर्म फल के कारण ही व्यक्ति को तीर्थंकर, चक्रवर्ती, सम्राट, राष्ट्रपति आदि उच्च पद प्राप्त होता है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि जब तक मनुष्य मे कषाय का अस्तित्व रहता है तब तक जन्म और मृत्यु की श्रृंखला का अन्त नही होता। कषायो के पूर्णतया समाप्त होने पर ही आत्मा कर्मो से मुक्त होती है और जन्म-मरण से छुटकारा मिलता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुनर्जन्म भी प्राणी मे कार्मण सस्कारो का सयोग होने से होता है। हम देखते है कि पूर्व-जन्म मे सचित सस्कारो की स्मृति के कारण ही नवजात शिशु कभी हर्षित होता है, कभी भयभीत हो उठता है, तो कभी शोक विह्वल हो जाता है। इस प्रकार की भिन्न भिन्न स्थितिया, जो प्राणी की आत्मा से सम्बन्धित है, उसके पुनर्जन्म और पूर्वजन्म सम्बन्धी क्रियाओ के कारण घटित होती हैं। ऐसी क्रियाओ का घटित होना पुनर्जन्म के सिद्धान्त का द्योतक है। साथ ही आत्मा का शरीर से पृथक होने का तथ्य भी प्रकट करता है।

पुनर्जन्म के निश्चित सिद्धान्त के कारण ही मनुष्य को मृत्यु का भय लगा रहता हैं। इसका कारण हैं भविष्य के प्रति अनिश्चितता कि अगले जन्म मे न जाने उसे किन किन परिस्थितियो मे जीवन बिताना पडे। इस जन्म मे यदि परिस्थितिया सुखद है, साधन व सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है तो यह आशका

सताने लगती है कि पता नही अगले जन्म मे भी वैसे ही साधन व सुविधाएँ मिलेगी अथवा नही। यदि कोई मनुष्य दु खद परि-स्थितियो मे रह रहा है तो वह यह सोचता है कि न मालूम कही अगले जन्म मे उसे उससे भी बुरी स्थिति मे न रहना पडे। यद्यपि कर्म फल के सिद्धान्त का स्वरूप अटल और ध्रुव सत्य है, फिर भी लोग इस बात का निर्णय नही कर पाते कि कौन से कर्म का किस समय अच्छा फल मिलेगा और कौन से कर्म का किस समय बुरा फल मिलेगा। इसलिए साधारणतया इस प्रकार का भय मनुष्य को मरणोत्तर जीवन के प्रति सशकित करता रहता है।

भारतीय सस्कृति मे पला व्यक्ति यह मानता है कि व्यक्ति के जीवन पर कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष के सिद्धान्तो का प्रभाव पडता है। कर्म के द्वारा उसका कर्त्तव्य बोध कराया गया है। जो जिस स्थिति मे है उसमे वह अपने कर्त्तव्य को निभाता रहे यही उसका कर्म है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त से यह बोध कराया गया है कि इस जन्म मे जो प्राप्त होना रह गया वह कही आगे मिल सकता है और आगे यह बताया गया है कि मोक्ष का सैद्धान्तिक अर्थ व्यक्ति के जीवन को परम सन्तुष्ट और इच्छा आकाक्षाओ से शून्य बनाने मे है।

धार्मिक ग्रन्थो मे यह भी बनाया गया है कि पुनर्जन्म मे विश्वास करने वाला व्यक्ति एहिक जीवन के लिए अनर्थ हिंसा, विलासिता आदि दुष्प्रवृत्तियो मे आसक्त नही होता। वह कम से कम हिसा और अल्प परिग्रह से अपना जीवन निर्वाह कर लेता है। अध्यात्मवाद की भित्ति पर टिकी हुई समाजिक और राजनैतिक प्रणाली मे अर्थ-लोलुपता और पर-शोषण नही होता, ऐसे लक्षण उस व्यक्ति के जीवन मे पाये जाते हैं।

पाँच तरह के वैषम्य साधारणतया हरेक प्राणी मे पाये जाते हैं —व्यवस्था वैषम्य, स्वास्थ्य वैषम्य, ज्ञान वैंपम्य, आयु वैषम्य और ऐश्वर्य वैषम्य।

कोई प्राणी मनुष्य है, कोई पशु और कोई पक्षी यह व्यवस्था वैषम्य है। कोई प्राणी सुखी है और कोई दुखी यह स्वास्थ्य वैषम्य है। एक व्यक्ति विद्वान है और दूसरा निरक्षर यह ज्ञान वैषम्य है। एक प्राणी किशोरावस्था तक ही नही पहुच जाता पहले ही चल बसता है इससे भिन्न दूसरा व्यक्ति अस्सी वष की अवस्था तक पहुँच जाता है यह आयु वैषम्य है। एक व्यक्ति लाखो करोडो व्यक्तियो पर शासन करता है, दूसरा जन जन का मोहताज है। एक धनी है दूसरा गरीब है यह ऐश्वर्य वैषम्य है। पूर्व जन्म व पुनर्जन्म के सदर्भ मे जानने योग्य ये तथ्य है।

'पद्म भूषण' से सम्मानित फादर बाबा कामिक बुल्के का जीवन प्रसग उस सम्बन्ध मे बहुत उपयोगी है। उनके बारे मे लिखा गया हैं कि बी एस सी की परीक्षा समाप्त होने के पहले ही बेल्जियम मे जन्मे युवक कामिल ने सन्यास लेने का निश्चय कर लिया था। कई वर्ष पूर्व उनके पडोस मे एक लडकी की मृत्यु हो गई थी। माँ ने अन्तिम सस्कार मे किशोर पुत्र कामिल को आग्रह पूर्वक भेजा था। पडोस की बात थी और वही उसी क्षण ससार की असारता मे प्रथम साक्षातकार कामिल को हुआ था। सन्यास के बीज मन की कोमल धरती पर वही पडे। उसके कई वर्ष पश्चात उन्होने अन्त चक्षुओ से एक दिव्य ज्योति के दर्शन किये। सन्यास का निश्चय निर्णय बन गया। इन्जीनियर युवक धर्म पुरोहित बनने को ललक उठा। वैसे कुछ पूर्व जन्म के सस्कार भी थे। उन्ही के शब्दो मे "मैंने कभी स्त्री प्रसग नही किया, विवाह का ध्यान ही नही आया,

स्वेच्छा से समर्पित होना इतना कठिन नही यदि मन मे समर्पण का भाव विद्यमान हो। विश्व विद्यालय मे चार हजार विद्यार्थी थे। वैश्यालय भी थे। मै कभी नही गया, नग्न चित्र भी नही देखे, समय हो नही था। सेक्स की फिल्म कभी नही देखी। समुद्र के किनारे अल्प वस्त्रो मे स्त्री को देखकर भी मन मे दुर्भाव नही आया। सेक्स अनिवार्य है, मै नही मानता। भूख प्यास की तरह काम वासना सच नही है "तन आधार सब सृष्टि भवानी" इस धारणा के अनुसार व्यवहार करना चाहिये।

फादर बुल्के सुदर्शन और भव्य व्यक्तित्व के स्वामी थे। अपने सौन्दर्य पर बच्चो का सा मान था उन्हे। वे कहते थे सुन्दर वास्तव मे वही है, जो बुढापे मे सुन्दर लगे क्योकि तब शरीर की नही, मन की सुन्दरता चेहरे पर आती है। उन्होने १९५० मे 'रामकथा का उद्भव और विकास" पर पी एच डी की उपाधि ली थी।

पूर्वजन्म के सिद्धान्त मे सत्यता की पुष्टि मे प० मिलापचद टाटिया का लेख "जीव तत्त्व विवेचन" मे यह प्रश्नोत्तर बहुत उपयोगी है —

प्रश्न —यदि प्रत्येक शरीर मे जीव भवातर से आता है तो उसका अर्थ यही हुआ कि इस जन्म के शरीर मे जो जीव है वही पूर्वजन्म के शरीर मे था। शरीर बदला है जीव तो वही का वही है तो फिर सभी जीवो को पूर्वजन्म की बाते याद क्यो नही है ?

उत्तर —जैसे वृद्धावस्था मे किन्ही को अपनी बाल्य अवस्था की बाते याद रहती है और किन्ही को नही रहती है इसी प्रकार

किसी जीव को भवान्तर की बाते याद आ जाती है किसी को नही। इसमे कारण जीव की धारणा शक्ति की हीनाधिकता है। दूसरी बात यह है कि जिन बातो पर अधिक सूक्ष्म उपयोग लगाया गया हो वे सुदूरभूत की होने पर भी याद आ जाती है और जिन पर मामूली उपयोग लगाया गया हो वे निकट भूत की भी स्मरण मे नही रहती है। मनुष्य को अपना गर्भावस्था का स्मरण इसीलिए नही रहता कि वहाँ उसको किसी विषय पर गम्भीरतापूर्वक सोचने की योग्यता ही पैदा नही होता है। इसके अतिरिक्त पूर्व शरीर को छोड कर अगले शरीर को धारण करने मे प्रथम तो बीच मे व्यवधान पड जाता है। दूसरे अगला शरीर पूव शरीर से भिन्न प्रकार का होना है और उसके विकसित होने मे भी समय लगता है। चू कि जीव की ज्ञानोत्पत्ति मे शरीर और इन्द्रियो का बहुत बडा हाथ रहता है। यदि पूर्वजन्म मे जीव असज्ञी रहा हो तो वहा किसी विषय का चितन ही न हो सका, अतएव अगले जन्म मे याद आने का प्रश्न ही नही रहता है। इन कारणो मे प्रत्येक प्राणी को जाति स्मरण ज्ञान का होना सुलभ नही है।

'पुनर्जन्म तथा जन्म निरोध" लेख मे श्री मगल बिहारी (अवकाश प्राप्त प्रशासन सेवा अधिकारी) लिखते है —

"भारतीय दार्शनिक परम्पराओ एव अवस्थाओ के सदर्भ मे पुनर्जन्म के विषय पर अत्यन्त अल्प मथन हुआ दिखता है। हम लोग कर्म विज्ञान व पुनजन्म मे दृढ विश्वास करते है। हमारे शास्त्रो मे मनुष्य जन्म को सुर-दुर्लभ माना है। चौरासी लाख योनियो मे घूमता घूमता जीव मनुष्य जन्म पाता है। तथा मनुष्य योनि मे भी यदि वह सत्कर्म नही करता तो पुन कूकर-शूकर

योनि मे पतित हो जाता है। अन्य योनियो मे सत्कर्म या कुकर्म नही होते, केवल फल भोग होता है। सडक की नाली मे से खाद्य खोजता श्वान तथा रईस के घर ऐश करता अलसेशियन सुख दुख भोगने की दृष्टि से भिन्न है पर उनके गुण व कर्मो की समान श्रेणी है। कोई भी सत्कूकर या दुर्कूकर नही होता। दूसरी ओर मनुष्य की क्रियाओ मे धर्म तथा नैतिकता के आधार पर गुण विभाजन होता है। जैन धर्मावलम्बी यह भी मानते है कि आत्माओ अथवा जीवो की सख्या निर्धारित एव स्थिर है। ऐसा नही होता कि आज तो सृष्टि पर दो खरब जीव है और सौ वष बाद वे सख्या मे घट या बढ जाय। गिनती के लिए केवल समस्त योनियो की सख्या का जोड सही करना होगा।"

श्री मगल विहारी आगे लिखते है, "जीव को चौरासी लाख योनियो मे घूमने मे कितना समय न्यूनतम रूप मे लगता है इसका भी कही हिसाब नही है, पर हमारे यहा दशावतार का जो सिद्धान्त है उसके आधार पर मोटे रूप मे तीन साढे तीन हजार वर्ष का समय आका जा सकता है। दशावतार की पौराणिक गाथाएं जीव के विकास की सीढियो के रूप मे है। पहले पहल मत्स्यावतार जलमय सृष्टि मे जीवन के प्रथम स्फुरण का द्योतक है फिर शनै शनै अनेक रूपो मे होता हुआ जीव नरसिह रूप मे आता है जहा वह अर्द्ध पशु तथा अर्द्ध मानव का का रूप है"।

"मरते समय मनुष्य की सारी अतृप्त वासनाएं एव अफलीभूत कर्म उसके अगले जीवन के सस्कार बीज बनते हैं। ये मृत आत्माएं अपनी अन्दरूनी व्यथा के कारण शीघ्र अनुकूल जगह जन्म लेना चाहती है। यद्यपि मृतात्मा काल व स्थान से

बाधित नही होती तथापि अनुकूल वातावरण मे जन्म पर प्रतिबन्ध होने से ये उस वायुमडल मे तडप कर घूम सकती है। इनकी इस तडपन का अक्षत प्रभाव मानव समाज की मानसिकता पर तथा विशेषत उस परिवार की मानसिकता पर पड सकता है, जो जान बूझकर अपने यहा आगे जन्म नही होने देना चाहता। उसका भौतिक वातावरण ऐश्वर्यमय हो सकता है, पर उसकी मानसिकता इस मृतात्मा की तडफन से अवश्य प्रभावित हो सकती है। आज के युग के स्नायु व मानसिक रोगो का सभवत यही अपरिचित प्रबल कारण है।'

सदर्भ – १ मंगल विहारी–'पुनर्जन्म तथा जन्म निरोध''-राजस्थान पत्रिका १२-४-८३

२, शैल सक्सेना-''बाबा कामिले बुल्के का जीवन प्रसग'' साप्ताहिक हिन्दुस्तान १२-६ ८२ से १८-६-८२

३ अखंड ज्योति-जून १९८०

४ मिलाप चद टाटिया, ''जीव तत्व विवेचन,'' मुनि श्री हजारीमल ग्रन्थ

कर्म-सिद्धान्त एव व्यक्ति के जीवन की घटनाएँ

प्रश्न उठता है—हमारे जीवन मे जो घटनाएँ घटित होती है क्या वे केवल हमारे पूर्व-जन्म के उपार्जित कर्मो के विपाक का ही फल है या उन पर वर्तमान जीवन के हमारे अच्छे या बुरे आचरण का भी असर पडता है ? यह एक गम्भीर प्रश्न है जिसका समाधान आवश्यक है, उदाहरणत जैसे कोई व्यक्ति दूसरे से असत्य बात कहता है, कोई व्यक्ति किसी प्रकार की चोरी करता है, कोई व्यक्ति दूसरे के माल को हडप जाता है या उस पर डाका डालता है तो क्या इन सब प्रवृत्तियो मे इस प्रकार के व्यवहार करने वाले व्यक्ति का दोष नही छिपा है ? क्या उसके इस आचरण को पूर्ववर्ती कर्मो का परिणाम ही समझा जाय जिसके कारण उसे ऐसे घृणित कार्य करने पडे । एक व्यक्ति ने किसी अन्य व्यक्ति पर प्रहार किया और प्रहार करके उसे समझाने की चेष्टा की कि भाई ! तुम्हारे साथ इस प्रकार का मेरा आचरण तुम्हारे पूर्वाजित अशुभ कर्मो का ही फल है । तुम्हारे किये हुए कर्मों का ऐसा ही सयोग है । मैं क्या कर सकता हू ? ऐसा कह कर क्या प्रहार करनेवाला व्यक्ति अपने किये हुए अपराध से दोष मुक्त हो सकता है ? यदि पूर्वकृत कर्मों के उदय के कारण ही व्यक्ति ऐसे अपराध या अन्य दूसरी क्रियाएँ करता है तो फिर वह इस प्रकार के अपराध का दोषी कैसे ? परन्तु अगर हम इसे सही रूप मे समझने की कोशिश करे तो मालूम होगा कि वास्तव मे यह सारा भ्रम है । प्राय हर अपराधी अपने अपराध को छिपाने का प्रयत्न करता है या अपने किये अपराध के परिणाम से बच निकलने का प्रयास करता है । पूर्णतया कर्मो पर विश्वास करने वाला अपने आप को निर्दोष मानता है । वह समझता है

कि उसने स्वय कुछ भी नही किया। जैसा पिछले किए हुए कर्म उससे करवाता है वैसा ही व्यक्ति को करना ही पडता है। परन्तु यह धारणा भी कुछ अ श तक सही नही है। व्यक्ति की अपनी स्वतत्र सत्ता भी है, स्वय का व्यवहार भी है। ऐसी अनेक घटनाएं घटित होती है जो पहले के कर्मो से नियत्रित नही होती। कर्म पक्ष की अपेक्षा इनमे हमारा व्यवहार पक्ष अधिक काम करता है। ऐसे अनेक उदाहरण धार्मिक ग्रन्थो मे है। स्थानाग सूत्र मे रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बतलाये है। वे इसी कोटि मे आते है —

१ निरन्तर बैठे रहना।
२ अहितकर भोजन करना व अति भोजन करना।
३ अति निद्रा।
४ अति जागरण।
५ मल का निरोध करना।
६ प्रसव का निरोध करना।
७ पथ गमन।
८ भोजन की प्रतिकूलता।
९ काम विकार।

उपर्युक्त कारणो से रोग की उत्पत्ति हो सकती है इनमे एक भी कारण ऐसा नही है जिसे हम पूर्व-कृत कर्म का फल कह सके। भोजन करना, नीद लेना और जागरण करना आदि ये सभी हमारे क्रिया पक्ष है। ये किसी भी कर्म के उदय के कारण नही है। कोई भी पूर्व-कृत कर्म इन पर प्रभाव नही डालता। ये लौकिक एव दैनिक क्रियाओ के व्यावहारिक रूप है। पूर्व-कृत कर्म इस प्रकार की क्रियाओ के फल का घटक नही हो सकता क्योकि इन क्रियाओ की फल प्राप्ति मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता कार्य

कर्म-सिद्धान्त एव व्यक्ति के जीवन की घटनाएँ

प्रश्न उठता है—हमारे जीवन मे जो घटनाएँ घटित होती है क्या वे केवल हमारे पूर्व-जन्म के उपार्जित कर्मो के विपाक का ही फल है या उन पर वर्तमान जीवन के हमारे अच्छे या बुरे आचरण का भी असर पडता है ? यह एक गम्भीर प्रश्न है जिसका समाधान आवश्यक है, उदाहरणत जैसे कोई व्यक्ति दूसरे से असत्य बात कहता है, कोई व्यक्ति किसी प्रकार की चोरी करता है, कोई व्यक्ति दूसरे के माल को हडप जाता है या उस पर डाका डालता है तो क्या इन सब प्रवृत्तियो मे इस प्रकार के व्यवहार करने वाले व्यक्ति का दोष नही छिपा है ? क्या उसके इस आचरण को पूर्ववर्ती कर्मो का परिणाम ही समझा जाय जिसके कारण उसे ऐसे घृणित कार्य करने पडे । एक व्यक्ति ने किसी अन्य व्यक्ति पर प्रहार किया और प्रहार करके उसे समझाने की चेष्टा की कि भाई ! तुम्हारे साथ इस प्रकार का मेरा आचरण तुम्हारे पूर्वाजित अशुभ कर्मो का ही फल है । तुम्हारे किये हुए कर्मो का ऐसा ही सयोग है । मैं क्या कर सकता हू ? ऐसा कह कर क्या प्रहार करनेवाला व्यक्ति अपने किये हुए अपराध से दोष मुक्त हो सकता है ? यदि पूर्वकृत कर्मो के उदय के कारण ही व्यक्ति ऐसे अपराध या अन्य दूसरी क्रियाएँ करता है तो फिर वह इस प्रकार के अपराध का दोषी कैसे ? परन्तु अगर हम इसे सही रूप मे समझने की कोशिश करे तो मालूम होगा कि वास्तव मे यह सारा भ्रम है । प्राय हर अपराधी अपने अपराध को छिपाने का प्रयत्न करता है या अपने किये अपराध के परिणाम से बच निकलने का प्रयास करता है । पूर्णतया कर्मो पर विश्वास करने वाला अपने आप को निर्दोष मानता है । वह समझता है

कि उसने स्वय कुछ भी नही किया। जैसा पिछले किए हुए कर्म उससे करवाता है वैसा ही व्यक्ति को करना ही पडता है। परन्तु यह धारणा भी कुछ अ श तक सही नही है। व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी है स्वय का व्यवहार भी है। ऐसी अनेक घटनाएं घटित होती है जो पहले के कर्मो से नियन्त्रित नही होती। कर्म पक्ष की अपेक्षा इनमे हमारा व्यवहार पक्ष अधिक काम करता है। ऐसे अनेक उदाहरण धार्मिक ग्रन्थो मे है। स्थानाग सूत्र मे रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बतलाये है। वे इसी कोटि मे आते है —

१ निरन्तर बैठे रहना।
२. अहितकर भोजन करना व अति भोजन करना।
३ अति निद्रा।
४ अति जागरण।
५ मल का निरोध करना।
६ प्रसव का निरोध करना।
७ पथ गमन।
८. भोजन की प्रतिकूलता।
९ काम विकार।

उपर्युक्त कारणो से रोग की उत्पत्ति हो सकती है इनमे एक भी कारण ऐसा नही है जिसे हम पूर्व-कृत कर्म का फल कह सके। भोजन करना, नीद लेना और जागरण करना आदि ये सभी हमारे क्रिया पक्ष है। ये किसी भी कर्म के उदय के कारण नही है। कोई भी पूर्व-कृत कर्म इन पर प्रभाव नही डालता। ये लौकिक एव दैनिक क्रियाओ के व्यावहारिक रूप है। पूर्व-कृत कर्म इस प्रकार की क्रियाओ के फल का घटक नही हो सकता क्योंकि इन क्रियाओ की फल प्राप्ति मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता कार्य

करती है। जैसे हम अगर आहार, नींद या जागरण आदि क्रियाओं सम्बन्धी किसी प्रकार का अतिक्रमण करते है तो रोग होने की सम्भावना है। इसी प्रकार अकाल मृत्यु के भी शास्त्रों मे सात कारण बतलाये गये हैं —

१ राग, स्नेह, भय आदि की तीव्रता।
२ शस्त्र का प्रयोग।
३ आहार की न्यूनाधिकता।
४ आँख, कान आदि की तीव्रतम वेदना।
५ पराघात, गड्ढे आदि मे गिरना।
६ साप आदि का स्पर्श एव दशन।
७ प्राण-अपान वायु का निरोध।

कई प्रकार की आकस्मिक घटनाएँ हमारे दैनिक जीवन मे घटित होती है जैसे किसी व्यक्ति को साँप का अचानक डसने पर उसकी मृत्यु हो जाना या किसी शात बैठे हुए व्यक्ति पर यकायक भारी भरकम वस्तु के गिरने से उसकी मृत्यु हो जाना या किन्ही दो चार मजदूरो का काम करते समय पत्थर या अन्य भारी वस्तु के ऊपर से गिरने से दब जाना या विमान दुर्घटना के कारण कई व्यक्तियो का एक साथ मर जाना आदि। इस प्रकार की घटनाओ का आधार क्या पूर्व जन्म कृत कार्यो का कर्म फल ही समझा जा सकता है? नही, क्योकि ये घटनाए पूर्व-कृत कर्मों के कारण घटित नही होती।

रोग या मृत्यु का होना किसी विशेष कारण का परिणाम है। जैसे रोग का कारण अपथ्य भोजन। दूषित आटा या विष मिश्रित पदार्थ खाने से भी बीमारी हो सकती है। रोग होना अप्रत्यक्ष रुप से असाता वेदनीय कर्म के उदय का फल है। अहित-

कर भोजन एक घटना है, व्यक्ति की स्वतन्त्र क्रिया है और दूषित भोजन से रोग हो जाना कर्म सयोग से सम्बद्ध है। इधर उसके कर्मो को विपाक मे आना था और उधर उसका दूषित भोजन खाकर रुग्ण होना था। रोग कर्म का निमित्त बन गया। उसी तरह विमान की दुर्घटना व्यक्ति के आयुष्य कर्म के कारण घटित नहो हुई किन्तु विमान की दुर्घटना हुई इसलिये व्यक्ति के आयुष्य कर्म की उदीरणा हो गई। प्रश्न है क्या सैकडो व्यक्तियो का आयुष्य एक साथ समाप्त हो सकता है ? हाँ, हो सकता है। आयुष्य कर्म के दो प्रकार है - सोप क्रम आयुष्य कर्म और निरूप क्रम आयुष्य कर्म। कुछ आकस्मिक कारणो से आयुष्य कर्म मे परिवर्तन हो सकता है वह सोप क्रम आयुष्य कर्म है। जहाँ कोई भी निमित्त कारण नही होता, व्यक्ति इतना शक्तिशाली होता है कि निमित्त का उस पर कोई प्रभाव नही पडता, वह ऊपर तैरता रहता है यह है निरूपक्रम आयुष्य कर्म। जैसे विमान दुर्घटना मे या अन्य कोई ऐसी घटना मे कभी कोई व्यक्ति बच जाता है।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरीजी विरचित कर्म-ग्रन्थ मे लिखा है कि देव, नारकी, चरमशरीरी जीव (उस शरीर से मोक्ष जाने वाले जैसे तीर्थ कर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि तैसठ श्लाका पुरुष) जिनकी आयु असख्य वर्षो की होती है ऐसे मनुष्य देव और तिर्यञ्च की आयु अपरिवर्तनीय ही होती है। किसी व्यक्ति का जल मे डूब कर मर जाना, किसी का आग से जल कर मर जाना, किसी के शस्त्र की चोट लग कर मर जाना, किसी का जहर खाकर मर जाना आदि मृत्यु के बाह्य निमित्त है। इन कारणो से मृत्यु होने पर व्यक्ति की शेष आयु जो कि पच्चीस या पचास वर्षो तक भोगी जा सकती थी उसे उसी अन्तर्मुहूर्त मे भोगनी

पडती है। यह आयु का अपवर्तन है—इसे अकाल मृत्यु भी कहते है।

इसी तरह का एक दूसरा प्रश्न उठता है–हमारे जीवन मे जो कुछ घटित होता है उसका कारण क्या पूर्व-कृत कर्म ही है या और भी शक्तियाँ काम करती है? हाँ, काल, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति, क्षेत्र और कर्म ये सब मिल कर ही किसी एक घटना को घटित होने मे सहायक बनते है, अलग अलग रह कर कुछ नही कर सकते।

जैन दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर ने एकान्त कालवाद् स्वभाववाद, नियतिवाद, पूर्वकृतवाद, पुरुषार्थवाद आदि की अलग अलग एकान्त मान्यता को मिथ्यावाद कहते हुए इन सब के समुदाय को ही कार्यसाधक माना है।

*कालो सहाव णियई पुव्वकय पुरिसकारणेगता।
मिच्छत्त ते चेव उ समासओ होति सम्मत॥

गीताकार ने भी किसी भी कर्म को सिद्धि के लिए अधिष्ठन, कर्त्ता, भिन्न भिन्न साधन व चेष्टाएँ तथा देव ये पॉच हेतु माने है।

जैन ग्रन्थो मे इस सम्बन्ध मे एक सवाद आता है वह इस प्रकार है :—

एक दिन भगवान महावीर अचानक शकडाल के घर पधारे। शकडाल मिट्टी के बतन बनाता था। महावीर शकडाल

*सन्मतितर्क प्रकरण ततीय खड–मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रथ पेज ४२२

के मिथ्यात्व को दूर करना चाहते थे। उसी उद्देश्य से पूछा,—"शकडाल! ये बर्तन कौन बनाता है?"

शकडाल,—"कोई नही बनाता। नियति से अपने आप बनते है।"

महावीर—"मानलो, एक व्यक्ति ककर लेकर इन्हे फोड डालता है तो शकडाल! कौन फोडता है तेरी दृष्टि मे?"

शकडाल असमजस मे पड गया। बात तो रहस्य की है। यदि फोडनेवाला व्यक्ति है तो निर्माता भी व्यक्ति है फिर नियति कहाँ रही? यह नियति बेकार है। उसी दिन से पुरुषार्थ और नियति की यथार्थता शकडाल के समझ मे आ गई।

प्राय यह कहा जाता है कि जो कुछ व्यक्ति के जीवन मे घटता है वह पूर्व कृत-कर्म से ही होता है। यह भ्रात धारणा है। सच तो यह है कि कुछ शक्ति काल मे निहित है, कुछ स्वभाव मे, कुछ नियति मे कुछ क्षेत्र मे और कुछ कर्म मे एव एक बडी शक्ति पुरुषार्थ मे निहित है। पुरुषार्थ मे तो कर्म को बदलने की शक्ति है, ऐसी मान्यता है।

यदि केवल कर्म के प्रभाव के कारण ही सब कुछ सभव होता तो एक प्राणी जो अविकसित प्राणियो की श्रेणी मे है वह वहाँ से निकल कर विकसित प्राणियो की श्रेणी मे कभी नही आ सकता और कर्म के बन्धन को तोड कर कभी मुक्त नही हो पाता। इसलिये कर्म ही सब कुछ नही है। इसके अतिरिक्त भी अनेक तत्व ऐसे है जो अपनी-अपनी सीमा मे कार्यकारी होते है। ह्रास से विकास की ओर बढना, बन्धन से मुक्ति की ओर अग्रसर होना, आवरण को हटा कर अनावरण करना, अधकार को दूर

कर प्रकाश की ओर जाना, परतन्त्रता का निवारण कर स्वतन्त्रता को ओर बढना ये सब पुरुषार्थ के ही परिणाम है। काल मर्यादा, स्वभाव मर्यादा, पुरुपार्थ मर्यादा, क्षेत्र मर्यादा, और नियति मर्यादा का कर्मों के साथ सह अस्तित्व है। जिस व्यक्ति मे काल, स्वभाव नियति या भाग्य का योग अधिक होता है वह विचार मे स्वतन्त्र होते हुए भी कार्य करने मे परतन्त्र होता है। जिस व्यक्ति मे पुरुषार्थ का योग अधिक होता है वह स्वभाव, काल, नियति आदि के योगो के नियत्रण मे परतत्र होते हुए भी कार्य करने मे स्वतत्र होना है। इस प्रकार मनुष्य की कार्य करने की स्वतन्त्रा सापेक्ष ही होती है निरपेक्ष नही होती। यदि वह निरपेक्ष होती तो मनुष्य इस ससार को सुदूर अतीत मे ही अपनी इच्छानुसार बदल देता और यदि वह कार्य करने मे स्वतत्र नही होता तो वह ससार को कुछ भी नही बदल पाता। यह सच है कि मनुष्य ने ससार को बदला है परन्तु वह ससार को अपनी इच्छानुसार एक चुटकी मे नही बदल पाया है। उसे ऐसा करने मे समय लगा है। इन दोनो वास्तविकताओ मे मनुष्य के पुरुषार्थ की सफलता और असफलता, क्षमता और अक्षमता के स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई देते है। पुरुषार्थ से काल व भाग्य के योग को पृथक नही किया जा सकता किन्तु काल की अवधि मे व भाग्य मे परिवर्तन लाया जा सकता है।

इन सत्यो को हम इतिहास और दर्शन की कसौटी पर कस सकते है। जैसे जैसे मनुष्य का ज्ञान विकसित होना गया वैसे वैसे मनुष्य मे पुरुषार्थ की मात्रा बढती गई। सभ्यता के आदिम युग मे मनुष्य का ज्ञान अल्प था, बुद्धि अविकसित थी। प्रयोग मे लिये जाने वाले उसके उपकरण भी अपरिष्कृत थे। प्रस्तर युग की तुलना मे अणुयुग के मनुष्य का ज्ञान एव बुद्धि बहुत विकसित है,

कार्य सचालन के लिए उसके उपकरण शक्तिशाली है, जिनके कारण मनुष्य मे पुरुषार्थ से कार्य करने की क्षमता बहुत बढी है। आदिम युग का मानव केवल प्रकृति पर निर्भर रहता था, वर्षा होती तो खेती हो जाती अन्यथा नही। एक एकड भूमि मे जितना अनाज उत्पन्न होता था उससे ही वह सन्तोष कर लेता, अधिक उत्पन्न करने का प्रयास नही करता। अनाज के पकने मे अधिक समय लगता तो भी मनुष्य उस विलम्ब को सह लेता किन्तु वह अनाज को शीघ्र पकने के साधन ढूढने का प्रयत्न भी नही करता। परन्तु आज का पुरुषार्थी मनुष्य केवल प्रकृति के साधनो पर ही निर्भर नही है, वह कृत्रिम साधनो का भी उपयोग करता है। उसने सिचाई के स्रोतो का विकास कर फसल के लिये वर्षा पर निभर रहने की आदत मे परिवर्तन किया है। रासायनिक खादो का निर्माण कर उसने अनाज के उत्पादन मे अत्याधिक वृद्धि कर ली है और कृत्रिम उपायो का प्रयोग कर फसल के पकने की अवधि को भी उसने कम करने का प्रयत्न किया है। उसने सकर पद्धति द्वारा खेती करके अनाज की फसल के स्वभाव मे भी परिवर्तन किया है। पुरुषार्थ के द्वारा काल की अवधि मे परिवर्तन करने के और वस्तु के स्वभाव मे परिवर्तन करने के सैकडो उदाहरण मानव जाति की सभ्यता के विकास के इतिहास मे खोजे जा सकते है। एक पुरुषार्थी मानव भाग्य के ढाँचे को बदल सकता है। वह अशुभ कर्मो के प्रभाव को शुभ कर्मो द्वारा नष्ट करके वाछित परिवर्तन ला सकता है।

काल, स्वभाव आदि को ज्ञान का वरद हस्त प्राप्त नही है इसलिये वे पुरुषार्थ को कम प्रभावित करते है। पुरुषार्थ को ज्ञान का वरद हस्त प्राप्त है इसलिये वह काल, स्वभाव आदि को अधिक प्रभावित करता है और उसको प्रभावित कर वर्तमान

कर प्रकाश की ओर जाना, परतन्त्रता का निवारण कर स्वतन्त्रता को ओर बढना ये सब पुरुषार्थ के ही परिणाम है। काल मर्यादा, स्वभाव मर्यादा, पुरुपार्थ मर्यादा, क्षेत्र मर्यादा, और नियति मर्यादा का कर्मों के साथ सह अस्तित्व है। जिस व्यक्ति मे काल, स्वभाव नियति या भाग्य का योग अधिक होता है वह विचार मे स्वतन्त्र होते हुए भी कार्य करने मे परतन्त्र होता है। जिस व्यक्ति मे पुरुषार्थ का योग अधिक होता है वह स्वभाव, काल, नियति आदि के योगो के नियत्रण मे परतत्र होते हुए भी कार्य करने मे स्वतत्र होता है। इस प्रकार मनुष्य की कार्य करने की स्वतन्त्रा सापेक्ष ही होती है निरपेक्ष नही होती। यदि वह निरपेक्ष होती तो मनुष्य इस ससार को सुदूर अतीत मे ही अपनी इच्छानुसार बदल देता और यदि वह कार्य करने मे स्वतत्र नही होता तो वह ससार को कुछ भी नही बदल पाता। यह सच है कि मनुष्य ने ससार को बदला है परन्तु वह ससार को अपनी इच्छानुसार एक चुटकी मे नही बदल पाया है। उसे ऐसा करने मे समय लगा है। इन दोनो वास्तविकताओ मे मनुष्य के पुरुषार्थ की सफलता और असफलता, क्षमता और अक्षमता के स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई देते है। पुरुषार्थ से काल व भाग्य के योग को पृथक नही किया जा सकता किन्तु काल की अवधि मे व भाग्य मे परिवर्तन लाया जा सकता है।

इन सत्यो को हम इतिहास और दर्शन की कसौटी पर कस सकते हैं। जैसे जैसे मनुष्य का ज्ञान विकसित होता गया वैसे वैसे मनुष्य मे पुरुषार्थ की मात्रा बढती गई। सभ्यता के आदिम युग मे मनुष्य का ज्ञान अल्प था, बुद्धि अविकसित थी। प्रयोग मे लिये जाने वाले उसके उपकरण भी अपरिष्कृत थे। प्रस्तर युग की तुलना मे अणुयुग के मनुष्य का ज्ञान एव बुद्धि बहुत विकसित है,

कार्य सचालन के लिए उसके उपकरण शक्तिशाली है, जिनके कारण मनुष्य मे पुरुषार्थ से कार्य करने की क्षमता बहुत बढी है। आदिम युग का मानव केवल प्रकृति पर निर्भर रहता था, वर्षा होती तो खेती हो जाती अन्यथा नही। एक एकड भूमि मे जितना अनाज उत्पन्न होता था उससे ही वह सन्तोष कर लेता, अधिक उत्पन्न करने का प्रयास नही करता। अनाज के पकने मे अधिक समय लगता तो भी मनुष्य उस विलम्ब को सह लेता किन्तु वह अनाज को शीघ्र पकने के साधन ढूढने का प्रयत्न भी नही करता। परन्तु आज का पुरुषार्थी मनुष्य केवल प्रकृति के साधनो पर ही निर्भर नही है, वह कृत्रिम साधनो का भी उपयोग करता है। उसने सिंचाई के स्रोतो का विकास कर फसल के लिये वर्षा पर निभर रहने की आदत मे परिवर्तन किया है। रासायनिक खादो का निर्माण कर उसने अनाज के उत्पादन मे अत्याधिक वृद्धि कर ली है और कृत्रिम उपायो का प्रयोग कर फसल के पकने की अवधि को भी उसने कम करने का प्रयत्न किया है। उसने सकर पद्धति द्वारा खेती करके अनाज को फसल के स्वभाव मे भी परिवर्तन किया है। पुरुषार्थ के द्वारा काल की अवधि मे परिवर्तन करने के और वस्तु के स्वभाव मे परिवर्तन करने के सैकडो उदाहरण मानव जाति की सभ्यता के विकास के इतिहास मे खोजे जा सकते है। एक पुरुषार्थी मानव भाग्य के ढाँचे को बदल सकता है। वह अशुभ कर्मो के प्रभाव को शुभ कर्मो द्वारा नष्ट करके वाछित परिवर्तन ला सकता है।

-

काल, स्वभाव आदि को ज्ञान का वरद हस्त प्राप्त नही है इसलिये वे पुरुषार्थ को कम प्रभावित करते है। पुरुषार्थ को ज्ञान का वरद हस्त प्राप्त है इसलिये वह काल, स्वभाव आदि को अधिक प्रभावित करता है और उसको प्रभावित कर वतमान

को अतीत से भिन्न रूप मे प्रस्तुत करता है। पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य को बदला जा सकता है, ससार को अच्छा या बुरा बनाया जा सकता है क्योकि यह पुरुषार्थ की सीमा के भीतर का कार्य है परन्तु किसी द्रव्य के अस्तित्व को बनाना या बिगाडना मनुष्य के हाथ की बात नही क्योंकि वह मनुष्य की पुरुषार्थ की सीमा से परे है।

पुरुषार्थ के द्वारा सब कुछ किया जा सकता है परन्तु नियति-निकाचित कर्म की भी अद्भुत शक्ति है।

उदयति यदि भानु पश्चिमाया दिशाया।
प्रचलति यदि मेरु शीतता याति बह्नि ॥
विकसति यदि पदम पर्वताग्रे शिलाया।
तदपि न चलती य भाविनी कर्म रेखा ॥

चाहे सूर्य पश्चिम मे उदय हो जाय, मेरु पर्वत चलायमान हो जाय, अग्नि शीतल हो जाय, पर्वत पर पद्म उग जाये परन्तु भावी-होनहार की जो कर्म रेखा है वह कभी टल नही सकती।

नियति के बल पर जो कुछ भी शुभ अथवा अशुभ होने वाला है, वह होकर ही रहेगा। प्राणी चाहे जितना भी बडा प्रयत्न क्यो न करे, जो कुछ नही होने वाला होगा नही होगा और जो होने वाला है उसका नाश भी नही हो सकेगा। जो भवितव्य नही है नही होगा और जो भवितव्य है वह बिना प्रयत्न के भी होगा। अनाज की फसल का फल पाने के लिए कितना ही प्रयत्न करे परन्तु नियत्ति का निर्णय विपरीत हो तो कोई न कोई विघ्न जैसे पाला टिड्डी, वर्षा का अभाव, अति वर्षा, महामारी, पैदा होकर उसकी फसल नष्ट करने

मे निमित्त वन जाता है। नियनि को घडने वाला नो पुरुपार्थ ही है परन्तु घडने के बाद नियति पूर्ण स्वतन्त्र है। नियति निकाचित बध वाले कर्मो का समूह रूप हे। जो कर्म अवश्य भोगना पडे वह निकाचित कर्म है। जिस कार्य का फल तदनुकूल पुरुषार्थ के विपरीत दशा मे गमन करे उसको नियति का कार्य मानना चाहिये। पुरुषार्थ सिर्फ नियति के सामने निष्फल होता हे।

एक वार हमारे प्रधानमत्री स्व पडित जवाहरलाल नेहरू ने नियतिवाद और स्वतत्र इच्छा शक्ति का तारतम्य वतलाते हुए लिखा था, "इस विश्व मे नियतिवाद और स्वतन्त्र इच्छा शक्ति दोनो के लिए स्थान है। उदाहरण स्वरूप ब्रिज के खेल मे प्रत्येक खिलाडी को जो ताश के पत्ते मिलते है, उसमे स्वतत्र इच्छा शक्ति का कोई हाथ नही रहता किन्तु उन्ही पत्तो की सहायता से अपने अनुभव और बुद्धि कौशल द्वारा चतुर खिलाडी जो खेल खेलता है उसमे उसकी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का पूरा योग है।"

Rational Mysticeism के लेखक ने भी नियति के प्रभुत्व को स्वीकार किया है, "Individual man can modify the course of nature of the earth in many minor ways, but he cannot alter the course of nature as a whole, that is to say, those casmic happenings which are determined by a higher power, or by higher powers" अर्थात बहुत से छोटे-मोटे रूपो मे तो व्यक्ति प्रकृति के कार्य व्यापार रूपान्तर उपस्थित कर सकता है किन्तु कुल मिलाकर वह प्रकृति की पद्धति को नही बदल सकता अर्थात् विश्व की जो घटनाएँ किसी उच्चतर शक्ति या शक्तियो द्वारा नियत कर दी जाती है, उनमे परिवर्तन करना व्यक्ति के वश का रोग नही।

नियतिवाद और पुरुषार्थवाद का विपय चिरकाल से ही दार्शनिक क्षेत्र मे वाद विवाद का विषय रहा है। नियतिवादी नियनि को कार्यकारण की नियामक शक्ति के रूप मे ग्रहण करते है। यदि नियति न हो तो कार्य कारण की व्यवस्था ही भग हो जाय।

रोग भी देश काल की स्थिति से पैदा नही होता परन्तु देश काल की स्थिति से कर्मो की उत्तेजना (उदीरणा) होती है यानि बाहर की परिस्थितिया भीतर के कर्म-पुद्गलो मे उत्तेजना पैदा करती है। उत्तेजित कर्म-पुद्गल रोग पैदा करते है और आत्मा मे विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाते है।

हमारा जीवन विघ्न-बाधा, दुख व विपत्तियो से भरा पडा है। इनके आने पर व्यक्ति घबरा जाता है और मन चचल हो जाता है। बाहरी निमित्त कारणो को हम दु ख का प्रधान कारण समझ बैठते है और उनको भला-बुरा कहते है व कोसते हैं। ऐसी जटिल परिस्थिति मे कर्मवाद का सिद्धान्त ही हमे सही मार्ग पर ला सकता है और इस निष्कर्ष पर लाता है कि आत्मा ही अपने भाग्य का स्वय निर्माता है। सुख-दुख स्वय के किये हुए कर्मो का फल है। कोई भी बाहर की शक्ति आत्मा को सुख-दुख नही दे सकती, वह तो केवल निमित्त मात्र बन सकती है। इस विश्वास के दृढ होने पर हम दुख और विपत्ति के समय घबराते नही परन्तु दृढता के साथ उन विपत्तियो का सामना करते है। इस प्रकार कर्मवाद का सिद्धान्त हमे निराशा से बचाता है, दुख सहने की शक्ति देता है और मन को शान्त एव स्थिर रख कर प्रतिकूल परिस्थितियो का सामना करने की शक्ति प्रदान करता है।

इस सम्बन्ध मे जयाचार्य रचित कुछ पंक्तियाँ हृदय-स्पर्शी है —

लाभ अलाभ सहैं सम भावे, जीतव मरण समानो रे ।
निंदा स्तुति सुख दुख में समचित, समो मान अपमानो रे ।।
सुख नो कारण वेदन समचित ए वेदन थी करे कर्मो रे ।
पुण्य रा थाट बधे समभावा, एथी एकत निर्जरा धर्मो रे ।।

अति रोग पीडाणा जग बहु दुख पावैं रे ।
ते सभरी सहै, वेदन सम भावँ रे ।।
शूली फासी फुन, भाला सु भेदे रे ।
बहु जन जग विखैं, अति वेदन वेदे रे ।।
ते तो जीव अज्ञानी, हूँ तो ज्ञान सहितो रे ।
समभावे सहूँ, वेदन धर प्रीतो रे ।। भावे भावना ।

संदर्भ — १ डा० कन्हैयालाल सहल, "नियति का स्वरूप", मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृष्ठ ४१८
२ जयाचार्य—आराधना की ढाल ।

कर्म-पुद्गल और शरीर रचना विज्ञान

आज के वैज्ञानिक युग मे प्रत्येक जिज्ञासु व्यक्ति कर्म-सिद्धान्त (जो प्राय आगम वाणी पर आधारित है) को भी विज्ञान की कसौटी पर कस कर सत्य की गहराई तक पहुँचने का प्रयास करता है। इसलिए जो सिद्धान्त शास्त्र सम्मत है वह अगर विज्ञान सम्मत हो तो किसी भी बौद्धिक व्यक्ति को समझने मे आसानी हो जाती है। मनुष्य के शरीर मे जो ग्रन्थिया (glands) स्थित है उनके स्रवण से शरीर का जो विकास व ह्रास होता है और कर्म शरीर मे स्थित नाम कर्म के उदय से जो शरीर रचना होती हे इन दोनो मे मिलान करने का प्रयास यहाँ किया गया है।

हमारे शरीर मे पाँच अन्त स्रावी ग्रन्थियाँ (Endocrine glands) है जो कई प्रकार के सक्रिय रसायन पदार्थों को स्रावित करती हैं। यह पदार्थ हारमोन (Harmones) कहलाते है। हारमोन शरीर की विभिन्न क्रियाओ पर नियन्त्रण रखते है। इन ग्रन्थियो मे नालिकाएँ नही होती, अत इनसे स्रवित हारमोन रुधिर (blood) मे सीधे ही चला जाता है। पीयूष ग्रन्थि (Pituitary gland) मस्तिष्क के नीचे के भाग पर होती है। यह ग्रन्थि हारमोन का स्रोत है। पीयूष ग्रन्थि से कई हारमोन स्रावित होते है जो शरीर की विभिन्न क्रियाओ को प्रभावित करते है। पीयूप ग्रन्थि मे उत्पन्न हारमोन की अधिकता से व्यक्ति विशालकाय तथा उसकी कमी से बौना हो जाता है। पीयूष ग्रन्थि से स्रावित हारमोन अन्त स्रावी ग्रन्थियो पर नियन्त्रण रखते है।

थाइराइड ग्रन्थि (Thyroid gland) श्वास नली के नीचे के भाग मे स्थित होती है। उसके हारमोन को थाइराक्सिन (Thyroxin) कहते है। इस हारमोन मे आयोडीन (Iodine) की मात्रा अधिक होती है। थाइराक्सिन भोजन के आक्सीकरण पर नियन्त्रण करता है। थाइराक्सिन की कमी से गलगड (घेघा) रोग हो जाता है तथा शारीरिक वृद्धि भी कम होती है। इसके विपरीत थाइराक्सिन की मात्रा अधिक होने पर हृदय की धडकने बढ जाती है जिससे बेचैनी होती है। एड्रीनल ग्रन्थि (Adrenal gland) वृक्क के ऊपर स्थित होती है। इससे उत्पन्न हारमोन को एड्रीनेलिन Adrenalinकहते है जो हृदय की धडकनो और भोजन के पाचन पर नियन्त्रण रखता है। वृषण नर जनन ग्रन्थि तथा अन्डाशय मादा जनन ग्रन्थि है। वृषण से उत्पन्न हारमोन नर लक्षण तथा अ डाशय से उत्पन्न हारमोन मादा लक्षण उत्पन्न करते है।

इस तरह आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने शरीर मे अवस्थित ग्रन्थियो के सम्बन्ध मे बहुत सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है। नये जन्म के आरम्भ से ही कर्म-शरीर ओज या ऊर्जा आहार ग्रहण करता है। उसके साथ ही स्थूल शरीर का निर्माण शुरु हो जाता है। शरीर के विकास के साथ नाडिया व चक्र बनते है। और भी अनेक प्रकार के सघटन (अवयव) बनते रहते है व इन्द्रियो का विकास होता है। इस शरीर मे जितने स्रोत है, शक्ति व विकास के केन्द्र है, ग्रन्थिया है, उन सब का सवेदी है स्थूल शरीर। शरीर के विकास व ह्रास के लिए ग्रन्थिया ही निमित्त है। यह हुआ शरीर विज्ञान के आधार पर ग्रन्थियो का विश्लेषण। अब इसे शास्त्रीय या आगम भाषा मे जानने का प्रयत्न करे।

आठ प्रकार के कर्मों मे एक है नाम कर्म। इसकी अनेक प्रकृतिया हैं, अनेक विभाग है। मनुष्य का लम्बा होना या बौना होना, सुन्दर या असुन्दर होना, सुस्वर या दु स्वर वाला होना, हल्का या भारी शरीर वाला होना, यह सब नाम कर्म की विभिन्न प्रकृतियो पर निर्भर करता है। शरीर का जैसा भी निर्माण व विकास हुआ है वह नाम कर्म के विपाक के कारण है। इस सूक्ष्म शरीर मे जितने प्रकार के रस-विपाक विद्यमान है या नये बन रहे हैं उन सभी रस-विपाको के आधार पर ही शरीर रूपी चक्र चलता है। अतीन्द्रिय ज्ञानी ऋषियो ने गहराई मे जाकर इन सूक्ष्मताओ का अध्ययन किया है, उसी के आधार पर यह विश्लेषण किया गया है।

अगर हम उपर्युक्त शरीर और कर्म सम्बन्धी विश्लेषण का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करे तो हमे प्रतीत होगा कि दोनो के तथ्यो मे समानता है। कर्म-शास्त्र के तत्त्वज्ञो ने 'मूल बिम्ब' का विश्लेषण कर अपने सिद्धान्त का निर्धारण किया और शरीर-वैज्ञानिको ने उसके प्रतिबिम्ब' को देख कर अपने सिद्धान्त का निर्धारण किया, ऐसा लगता है। जैसे आदमी दर्पण के सामने खडा है परन्तु दर्पण पर पडने वाला प्रतिबिम्ब तो मूल बिम्ब का ही होगा। "अन्त स्रावी ग्रन्थिया रस स्रावित करती है जिसे हारमोन कहते है" ऐसा शरीर वैज्ञानिक कहते है। कर्म-शास्त्री उसे कर्मो का विपाक की दशा मे आना या उसका अनुभाव बन्ध होना कहते है। भौतिक शरीर की ग्रन्थियो का स्रवण भी रस है और कर्म शरीर का रस-विपाक भी रस है। इस प्रकार कर्म-विपाक को कर्म-शास्त्र की पृष्ठ भूमि के आधार पर और उसके साथ ही भौतिक शरीर के अ त स्रावी ग्रन्थियो के स्रवण का प्रसग देकर मानव शरीर की बनावट मे एक दूसरे की विभिन्नता का कारण समझने का प्रयत्न किया गया है।
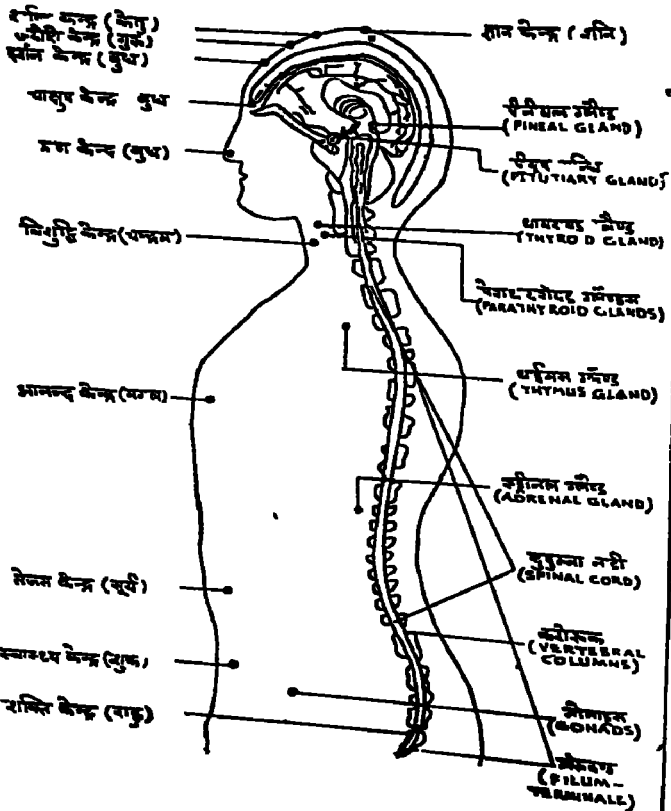
शरीर और मन का पारस्परिक सम्बन्ध

आत्मा अरुपी है इसलिए अदृश्य है। शरीर मे आत्मा की सभी क्रियाओ की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरण स्वरूप आत्मा विद्यु त है तो शरीर बल्ब। ज्ञान-शक्ति आत्मा के गुण है और उसके साधन है शरीर के अवयव। आत्मा बोलने का प्रयत्न करती है, हलन चलन का कार्य भी करती है पर इनका माध्यम शरीर है। देखने की शक्ति आत्मा मे है फिर भी आँखो के बिना व्यक्ति देख नही सकता। आँख मे रोग हो गया तो देखने की क्रिया विकृत हो गई। आँख की चिकित्सा की, आँख स्वस्थ हो गई फिर से दिखाई देने लगा। यह इसलिए हुआ कि आत्मा की शक्ति नष्ट नही हुई। आत्मा के बिना चिन्तन जल्प (कथन) और विवेकपूर्ण गति व अगति नही हो सकती तथा शरीर के बिना अभिव्यक्ति नही हो सकती।

जब कभी हमारा मानस चिन्तन मे प्रवृत्त होता है तो उसे पौद्गलिक मन के द्वारा पुद्गलो को ग्रहण करना ही पडता है अन्यथा उसकी प्रवृत्ति नही हो सकती। हमारे चिन्तन मे जिस प्रकार के इष्ट या अनिष्ट भाव आते है उसी प्रकार के इष्ट या अनिष्ट पुद्गलो को द्रव्य मन (पौद्गलिक मन) ग्रहण करता चला जाता है। चिन्तन के समय परिणत होकर मन मे अगर अनिष्ट पुद्गल आते है तो शरीर की हानि होती है और इष्ट या अच्छे पुद्गल आते है तो शरीर को लाभ पहुँचता है। इस प्रकार शरीर पर मन का असर होता है।

श्रीमद् भगवत गीता मे भी एक जगह आया है कि हमारे स्थूल शरीर मे मन अत्यधिक सूक्ष्म है। उसी मन के अच्छे बुरे

का परिणाम हमारे शरीर पर पडा करता है। जैसा मन वैसी ही बुद्धि और कर्म होगे। हमारे मन ही के द्वारा हम अपना सम्बन्ध सूक्ष्म लोको और उनके लोकवासियो या दिव्यात्माओ मे कर पाते हैं।

मन एक ऐसी क्षमता वाली शक्ति है जो स्मृति, चिन्तन और कल्पना को सचालित करती है। मन की यह शक्ति चेतना मे जुडी हुई है इसलिए मन चेतन है। चेतन मन के अनेक स्तर है जैसे चेतन, अर्धचेतन, अवचेतन (Conscious sub-conscious and unconscious mind)। अवचेतन मन मे सस्कारो का प्रगाढ भडार है जिससे अर्ध चेतन मन मे सस्कार उभरते हैं। अर्धचेतन से सचेतन जगत पर सस्कार आते हैं और इस तरह एक वृत्त (चक्र) बन जाता है। चेतन मन किसी एक अवयव जैसे मस्तिष्क आदि मे ही सीमित नही रहता परन्तु सम्पूर्ण शरीर मे परिव्याप्त रहता है। इसलिए शरीर की प्रत्येक कोशिका सचेतनता से पूर्ण है। वह स्वतन्त्र एव सयुक्त रूप दोनो तरह से कार्य करती है। मस्तिष्क का जो ढाचा है वह मन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है।

शरीर सम्बन्धी कुछ बीमारियाँ मन के विकृत दशा मे होने से उत्पन्न होती है। पाश्चात्य आधुनिक चिकित्सको का यह मत है कि व्यक्ति की ७५ प्रतिशत बीमारियाँ मनोशारीरिक होती हैं। उनकी इस धारणा के अनुसार स्वस्थ मन के बिना स्वस्थ शरीर की कल्पना करना ही गलत है। यदि किसी व्यक्ति का मस्तिष्क क्रोध के कारण तनावयुक्त रहता है तो उसकी पाचन शक्ति बिगड जाती है अथवा यदि कोई विद्यार्थी उसी तरह के तनाव की दशा मे रहता हुआ कोई परीक्षा मे बैठता है या साक्षातकार के लिए

जाता है तो उसे सफलता शायद ही मिल सकती है। मानसिक तनाव से मुक्त व्यक्ति ही स्वस्थ कहा जाता है। "सायकोसौमेटिक रोग' (sycosis) ही मनोशारीरिक रोग है। ऐसे रोग की उत्पत्ति विकृत मन से होती है और उसका निदान रोगी के लक्षणो की जाच कर किया जाता है और उसी के आधार पर उसका उपचार किया जाता है। लगातार अत्यधिक मानसिक तनाव एव कार्य की अधिकता के कारण उत्पन्न थकान होने के उपरान्त भी कुछ समय तक मनुष्य स्वय को स्वस्थ अनुभव कर फिर भी काम करता रहता है। इस प्रकार कार्यरत होने से अन्ततोगत्वा जब शरीर का रक्षात्मक पक्ष टूटने लगता है तो शरीर किसी न किसी बीमारी का शिकार हो जाता है। जो व्यक्ति हमेशा चिन्ताओ से घिरा रहता है उसमे रक्तचाप (high blood pressure) व मधुमेह का रोग (diabetes) प्राय पाया जाता है।

भारतीय जीवन विज्ञान–"आयुर्वेद" के मतानुसार मानसिक रोगो की उत्पत्ति मे "रज और तम" दोष प्रधान कारण हैं। इसके बढने पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्यामिय अति-चिन्ता और मनोदैन्य (दिमागी कमजोरी) उत्पन्न होती है। इन विकारो का जनक मनुष्यो का प्रज्ञापराध है। महर्षि चरक के अनुसार "प्रज्ञापराधो हि मूल रोगाणाम" अर्थात् रोगो की उत्पत्ति का मूल कारण ही प्रज्ञापराध है यानि अन्तकरण द्वारा अपराध करना ही सब तरह के रोग उत्पन्न करता है।

जिस प्रकार शरीर कमजोर होने पर व्यक्ति विविध प्रकार के रोगजनक जीवाणुओ (viruses) का शिकार बन जाता हे उसी प्रकार मन कमजोर होने पर व्यक्ति सासारिक, आर्थिक, राजनैतिक

परिवर्तनो के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाले विचार चक्रो का ग्रास बन जाता है और उन्माद और विषाद जैसे रोगो को जन्म देकर शरीर की रोग-निरोध-क्षमता को कमजोर बना देता है। जैसे बीज अनुकूल भूमि मे ही पनपता है वैसे ही रोगो के कीटाणु निर्बल और अस्वस्थ शरीर मे ही पनप कर अपना प्रभाव डालते है। पुरानी कहावत है कि शत्रु और रोग को शुरु से ही दबाना चाहिये क्योकि रोग बीमार एव उसके परिवार को दुखी कर देता है।

आधुनिक औषधि निर्माण करने वाली कम्पनियो का उद्देश्य ऐसे रसायनो को तैयार करने मे रहता है जो कि शरीर की कोशिकाएँ उत्पन्न नही करता। मूलरूप से इन औषधियो से शरीर के व्याधिग्रस्त अवयव ठीक नही हो पाते। यदि वे ठीक हो भी जाते है तो उनसे मानसिक निदान नही हो पाता और शरीर पुन- क्षीण-होने लगता-है। इसी प्रकार कुछ रसायन शरीर मे एक विष की तरह भी व्यवहार करते है। यही कारण है कि मन और शरीर का आपस मे घनिष्ट सम्बन्ध है जो कि चिकित्सा के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

इतनी भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध होते हुए भी मनुष्य दिन-प्रति-दिन विक्षिप्त होता जा रहा है। क्यो? यह एक प्रश्न है। उसकी मानसिक पीडा को देख कर ऐसा लगता है कि विज्ञान और वैभव की उपलब्धि के पश्चात् भी मनुष्य इसी तरह मानसिक यातनाओ को सहता रहा तो यह विश्व का एक विशाल भाग पागलखाने मे परिवर्तित हो सकता है। इस मानसिक वेदना और तनावग्रस्त स्थिति की उपशान्ति के लिए अध्यात्म जगत ने जो समाधान खोजा है, वतमान व आने वाली

पीढी अध्यात्म जगत के इन आविष्कारो से ही अपने आपको तनाव से मुक्त रख सकती है। तनाव ग्रस्तता भयकर स्थिति है। यह मानसिक उद्धेलन पैदा करती है जिसका अगला चरण विक्षिप्तता है। इससे शारीरिक क्षति होती है। इस समस्या के समाधान मे श्रीमद् जयाचार्य ने जो चिन्तन प्रस्तुत किया वह मनुष्य जाति के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है। "मन विकल्पना मोह थी मन थी मोह दबाया"। मन के सारे विकल्प मोह कर्म के उदय से होते है। मोहनीय-कर्म-प्रकृति के कारण व्यक्ति मूढ बन कर जो भी क्रिया करता है, उसकी प्रतिक्रिया चित्त पर सस्कार रूप मे अ कित हो जाती है। यह सस्कार जब प्रकट होता है तब व्यक्ति नाना अकृत-कर्म कर पाप-कर्म का बन्धन करता है। श्रीमद् जयाचार्य आगे बताते है कि तनाव मुक्ति के उपाय मोह-उपशमन अथवा बाह्य और आभ्यान्तर सयम हैं।

भूख तृषा सी ताव ना कष्ट करी तन ताय।
तन बस कर मन बस करैं बहिरगा एह उपाय॥

भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी और सूर्य का आतप सहन कर शरीर और मन को वश मे करना बाह्य और अभ्यान्तर सयम है। मन ऐसा दर्पण है, जिसके सम्मुख जो कुछ आता है वह प्रतिबिम्बित हो जाता है। प्रतिबिम्बित होना सहज प्रक्रिया है। इसको रोका नही जा सकता। रोकने की आवश्यकता भी नही क्योकि यह तो ज्ञान का क्षयोपशम भाव है। किसी स्थिति का अनुभव होना मन की विकसित अवस्था है। सर्दी, गर्मी अथवा अन्य विषमताओ की स्थिति से चित्त का समता मे लीन होना ही अन्तरग उपशमन की प्रक्रिया है। जयाचार्य लिखते है —

मोह उपशम उपाय समपणो, मान सीरया हितकारी।
समता भाव निरन्तर, आनन्द हुवे अपारी॥

अर्थात् ममता भाव की निरन्तर आराधना से तनाव का विलय हो जाता है चाहे क्रोध की अवस्था हो अथवा मान, माया, लोभ की।

मानसिक चिकित्सा के उत्सुक व्यक्ति को जयाचार्य का सकेत है, "प्रथम तू स्वय स्थिति को समझ कि तुम्हारे चित्त पर मूढता ने साम्राज्य जमा रखा है वही तुमको क्लेग मे गिराता है। तू अदि इस क्लेश से मुक्त होना चाहता है तो सब से पहले मूढ दृष्टि का परित्याग कर, यथार्थ द्रष्टा बन। जो वस्तु सत्य है उसे उसी रूप मे देख, अपनी मूढता का आरोपन उसमे मत कर। वस्तु और घटना अर्थात् भाव अवस्था को जैसा है वैसा ही तू देख, तो तू सम्यक् दृष्टा बन जाता है। सम्यक दर्शन ही मानसिक चिकित्सा का पहला सूत्र है। दूसरा सूत्र है चित्त की जागरूकता क्योकि जागरुकता का एक क्षण पुन नए क्षणो को उत्पन्न करता है। तीसरा सूत्र है निर्मल व शुद्ध समता। यह ऐसा अस्त्र है कि इससे मोह का उन्माद एव विकलता दोनो उपशान्त होने लगते है। निर्मल व शुद्ध समता स्वीकार करने से मानसिक समाधि उपलब्ध होती है और मानसिक समाधि से शरीर अवश्य ही स्वस्थ होगा।

सदर्भ —मुनि श्री किशनलाल "जयाचार्य का जीवन चरित्र"

कर्म शास्त्र का एकांगी दृष्टिकोण

भारतीय दर्शन का मुख्य रूप तत्व-दर्शन या मोक्ष-दर्शन रहा है इसलिए भारतीय दार्शनिको ने केवल विश्व की व्याख्या और मोक्ष के साधक-बाधक तत्वो की मीमासा की है, जीवन के वर्तमान और यथार्थ पक्ष की व्याख्या या तो नही की है या अल्पाश मे की है। फलत अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीति शास्त्र दर्शन शास्त्र से विच्छिन्न हो गये। व्यापक अर्थ मे ये सभी दर्शन की शाखाएँ है किन्तु दर्शन को मोक्ष दर्शन के अर्थ मे ही रूढ करने के कारण उनका पारस्परिक सम्बन्ध विलग हो गया। मोक्ष-दर्शन मे समाज को बदलने की कल्पना नही है। भारतीय दर्शनो के प्रणेता प्राय मुमुक्षु साधक हुए है। वे सामाजिक भूमिका से दूर थे। उनका लक्ष्य था मोक्ष और वे मोक्ष – लक्षी दृष्टि का ही मुख्यता प्रतिपादन करते थे। इसलिए दर्शन का झुकाव समाज-व्यवस्था को बदलने की दिशा मे नही है और नही रहा है। काम और अर्थ, मोक्ष और धर्म,—इन चार पुरुषार्थो पर भारतीय मनीषियो ने चितन किया है फिर भी उनका झुकाव मोक्ष की ओर रहा है। समाज मे गरीबी है इस पर भी उन्होने चिन्तन किया है। वह व्यक्ति द्वारा किये गए कर्मो का फल है इस सूत्र मे उसका हेतु भी बतलाया है परन्तु उसे बदला जा सकता है—इस पर्याय की दिशा का उद्घाटन नही हुआ। इसका कारण रहा कर्म-शास्त्र का एकागी दृष्टिकोण। यदि अनेकान्त की दृष्टि से कर्म-शास्त्र का अध्ययन किया जाता तो शायद यह निष्कर्ष नही निकलता और व्यवस्था परिवर्तन के द्वारा गरीबी समाप्त या कम की जा सकती है यह दृष्टि सम्भवत उन्हे प्राप्त हो जाती। इसलिए अनेकान्त की दृष्टि से आज कर्म-शास्त्र का अध्ययन किया जाना आवश्यक है। कर्मवाद की अनेकान्त दृष्टि बतलाती है कि जो कर्म आज

की समाज-व्यवस्था मे गरीबी और दुख का कारण है, व्यवस्था परिवर्तन हो जाने पर वे ही कर्म विपिन्नता को फलित करे ऐसा आवश्यक नही है क्योंकि सम्पन्नता और विपिन्नता केवल कर्मों पर ही निर्भर नही करती क्योंकि कर्मो का विपाक भी अपने आप नही होता बल्कि वस्तु, क्षेत्र, काल, भाव, नियति आदि की युति से होता है। अनेकान्त दर्शन के अनुसार किसी भी कार्य की निष्पत्ति एक हेतु से नही होती पर हेतु-समुदाय से होती है।

समाज के सामने अनेक समस्याएँ हैं। सामाजिक विषमता, गरीबी, शस्त्रीकरण, युद्ध, जातीयता, साम्प्रदायिकता, आवश्यक वस्तुओ की कमी, आदि समस्याओ के समाधान के लिये चिन्तन और प्रयत्न दोनो जरूरी है और दोनो चल रहे है। परन्तु फिर भी समाधान की दिशा मे भारतीय दार्शनिको व चिन्तको की दृष्टि स्पष्ट नही है ऐसा लगता है। किसी एक महापुरुष या अवतार या महान चिन्तक की शिक्षा मानने से समाज की सारी समस्याएँ सुलझ सकती हैं—यह एकागी चिन्तन प्रतीत होता है और कोई प्रत्यक्ष हल निकलना सभव नही लगता। हमारी समस्याएँ शाश्वत भले ही हो पर उनका आकार शाश्वत नही लगता। समस्याएँ देश व काल के अनुरूप बदलती रहती हैं। यह एकल आग्रह कि हमारी समस्याओ के पीछे महज हमारे पिछले जन्मो के कर्म ही है हमे अकर्मण्य बना रहा है। समस्याओ का बदला हुआ आकार हर समय नया दृष्टिकोण चाहता है। हमारे अतीत के अनुभव वर्तमान वातावरण के चिन्तन से सिंचित होकर ही प्राणवान रह सकते है। अगर हमने यह मान लिया है कि दर्शन का विकास हो चुका है और उसके अनुसार हमारी समस्याओ का समाधान मिल जाएगा तो ऐसा

सोचना शायद भूल होगी क्योकि यह दृष्टि एकान्तिक है और इससे आज की ज्वलत समस्याओ का समाधान मिलना कठिन है, इसलिए हम केवल कर्मो के विपाक पर ही निर्भर न रह कर आज के वातावरण मे अनेकान्त दृष्टि से चिन्तन करे, वर्तमान समस्याओ के सदर्भ मे मानसिक बदलाव करे, आवश्यक उपाय करे, पुरुषार्थ करे तो हम केवल पूर्व-कृत कर्मो के कारण गरीब है इस चिन्तन से मुक्त होने मे सक्षम हो सकेगे और सचमुच गरीबी दूर हो सकेगी। सत्य को जानने के लिये अनेकान्त दृष्टि और उसे पाने के लिये अध्यात्मिक धर्म—यह जैन धर्म की मौलिक उपलब्धि है।

निश्चय और व्यवहार—

एक कोण है निश्चय नय और दूसरा कोण है व्यवहार नय। यदि सूक्ष्म सत्यो को जानना हो तो निश्चय नय का सहारा लो और स्थूल नियमो को जानना हो तो व्यवहार नय का। जब ये दोनो नय सापेक्ष होते है, समन्वित होते हैं, तब हम इस सच्चाई तक पहुच जाते हैं कि भेद और अभेद भिन्न-भिन्न नही, किन्तु समन्वित रहते है। अस्तित्व और नास्तित्व भिन्न नही होते, किन्तु समन्वित होते रहते है।

सदर्भ —युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन दर्शन मनन और मीमासा—प्रस्तुति, "अनेकान्त तीसरा नेत्र।"

मुक्ति की क्रिया

(Libration of soul)

आचार्य श्री उमास्वाति ने तत्वार्थ सूत्र मे लिखा है, "कृत्स्न कर्म क्षयो मोक्ष " अर्थात् सम्पूर्ण कर्म-बन्धनो के नष्ट होने को मोक्ष कहते है। मोक्ष की सूचक है सिद्धावस्था। मानव-आत्मा की अध्यात्मिक उन्नति की चरम सीमा तक पहुचने का नाम मुक्ति है। आत्मा के गुणो को कलुषित करने वाले दोपो को दूर करके शुद्ध आत्मा की प्राप्ति को सिद्ध या मुक्ति की दशा कहते हैं। मुक्तावस्था मे आत्मा के स्वाभाविक गुण जैसे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य (शक्ति) विकसित होते है। इस अवस्था मे जीव कर्म-बन्धन से छूट कर उर्ध्वगमन करता है और लोक के अग्र भाग मे स्थिर हो जाता है और फिर वहाँ से लौट कर नही आता। आत्मा जिस अन्तिम शरीर से मोक्ष प्राप्त करती है उसके दो-तिहाई भाग, जो ठोस होता है, जितने जीवात्मा के प्रदेश सिद्ध-स्थान मे फैल जाते है। इस सिद्ध-स्थान को जीवात्मा की अवगाहना कहते है। भिन्न-भिन्न सिद्धात्माओ के प्रदेश अव्याघात रहने से आपस मे एक दूसरे से टकराते नही। प्रत्येक आत्मा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। जैसे एक कमरे मे सैकडो दीपक रहने पर भी उनका प्रकाश एक दूसरे से टकराता नही परन्तु समूचे कमरे मे व्याप्त हो जाता हैं उसी तरह आत्मा के प्रदेश सिद्ध-स्थान मे फैल जाते है परन्तु टकराते नही। यही सिद्ध या मुक्त आत्मा की स्थिति है।

महाकवि ब्रह्म जिनदास ने निम्न द्विपदी मे इस स्थान को "शिवपुर पाटण' कहा है और उसकी प्राप्ति के लिये वह विनती करता है.—

"सिवपुर पाटण रूबडुं, अविचल ठाम अभग।
देऊँ स्वामी मुझ निर्मलु, ब्रह्म जिनदास भणी चग ॥
"पछि मनुष जन्म लही करी, उत्तम कुल उत्त ग।
सयम लेई जिणवर तणु, मुगति साधसी गुण चग ॥"

ब्रह्म जिनदास ही नही समस्त जैन दर्शन की यही मान्यता है कि मनुष्य जन्म से ही मुक्ति सिद्ध हो सकती है। मुक्तावस्था मे बिना शरीर के केवल शुद्धात्मा रहती है। सभी शारीरिक अवस्थाएँ जैसे जीवन-मरण, यौवन-बुढापा, रोग, शोक, दुख, भय, आधि, व्याधि कुछ भी नही रहता क्योकि ये अवस्थाएँ शरीर से सम्बन्ध रखती है और शरीर वहा होता नही। मुक्तावस्था आत्मा की शुद्धावस्था का ही नामान्तरण है। वहाँ आत्मा सर्वदा निराकुल होकर आत्म-सुख मे निमग्न रहती है।

सभी प्रकार के भौतिक सुख उपलब्ध होने पर भी मनुष्य को कर्मो से मुक्त होना है। मुक्त होने पर ही व्यक्ति को आत्म-शान्ति मिलेगी, बार-बार जन्म-मरण की शृ खला टूटेगी, सहज ही सुख मिलेगा एव अनन्त आनन्द की अनुभूति होगी। प्रश्न है मुक्ति कैसे मिले ?

राग और द्वेष - विस्तार मे क्रोध, मान, माया और लोभ—ये कषाय कर्म-बन्धन के मूल कारण है। इन कषायो को कम कैसे करे ? इनका अल्पीकरण कैसे हो ? कर्मो का क्षय कैसे हो ?

यावन्नान्तर्मुखी वृत्ति र्बाहिर्व्यापारवर्जनम् ।
तावत्तस्य न धाशेऽपि, प्रादुर्भाव समश्नुते ॥

जब तक मनुष्य की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी नही बनती और उनका बहिर्मुखी व्यापार नही रुकता, तब तक उसमे आत्मिक आनन्द का अ श भी प्रकट नही हो सकता । हमारी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी कैसे बने ? ऐसे सम्बन्धित कई प्रश्न है जिनका समाधान पाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य है। इस सम्बन्ध मे गुणस्थान, लेश्या, सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र सवर, निर्जरा आदि का अध्ययन करना आवश्यक है ।

गुणस्थान (Spiritual development)

आत्माएँ तीन है —बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । बहिरात्मा अपनी मिथ्यादृष्टि को छोड कर किस प्रकार अन्तरात्मा या सम्यग्दृष्टि बनती है और किस प्रकार आत्म-विकास करते हुए परमात्मा बन जाती है, उसके क्रमिक विकास का नाम ही गुणस्थान है । "आत्मन क्रमिक विशुद्धि गुण-स्थानम्" जीव के अध्यात्मिक क्रमिक विकास को जैन दर्शन मे गुणस्थान कहते हैं। आत्मिक गुणो के अल्पतम विकास को लेकर उसके सम्पूर्ण विकास तक की समस्त भूमिकाओ को चौदह भागो मे बाँटा गया है। यह ससारी जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा चौदह गुणस्थान रूपी नसैनी (सीढी-staircase) पर चढता हुआ लोक के अग्र भाग मे अवस्थित सिद्धालय तक पहुचता है और अनन्त दुखो से छूट कर अनन्त आत्मिक सुख का अनुभव करता है। प्रारम्भ मे तीन गुणस्थान वाले जीवो की सज्ञा बहिरात्मा है, चौथे से लेकर बारहवे गुणस्थान वाले जीवो

को अन्तरात्मा कहते हैं और तेरहवें व चौदहवे गुणस्थान वाले जीव परमात्मा कहलाते है।

इन गुणस्थानो के निर्माण का दूसरा पहलू यह है –आत्मा मे पाँच प्रकार के मालिन्य है जिन्हे जैन परिभाषा मे आस्रव कहते हैं। पहला मिथ्यात्व जो सम्यक् श्रद्धा को आच्छादित कर मनुष्य की बुद्धि को विपरीत बनाता है। दूसरा मालिन्य है अविरत, जो व्यक्ति को आशा-तृष्णा के पाश मे डालता है। तीसरा मालिन्य है प्रमाद जो व्यक्ति के सतत धर्म-उत्साह को भग कर उसे प्रमादी बनाता है। चौथा मालिन्य है कषाय, जो आत्मा को क्रोध, मान, माया व लोभ की अग्नि से प्रज्वलित करता है और पाँचवा मालिन्य है योग, जो आत्मा को चचल बनाता है। इन मालिन्यो एव मोहनीय कर्म की प्रबलता व निर्बलता पर जीव को चौदह अवस्थाओ का निर्माण होता है। जैसे-जैसे और जितना मालिन्य हटता है व मोहनीय कर्म क्षीण होता है वैसे-वैसे और उतनी आत्म-विशुद्धि होती है। आत्मा की निर्बलता से गुण स्थानक्रमश ऊँचे होते है और मलिनता से नीचे। चौदह गुणस्थान (fourteen stages) इस प्रकार है —

१. **मिथ्यादृष्टि** (Wrong belief or delusion) — जब तक जीव को आत्म-स्वरूप का दर्शन नही होता तब तक वह मिथ्या-दृष्टि कहलाता है। ससार के बहुभाग प्राणी इसी प्रथम गुणस्थान की भूमिका मे रहते है। ये शरीर की उत्पत्ति व मरण को ही आत्मा की उत्पत्ति व मरण मान लेते है। वे शरीर की सुरूपता-कुरूपता, सबलता-निर्बलता व शारीरिक इन्द्रिय जनित सुख-दुख की परिणति को ही सब कुछ मान लेते है। शरीर मे

आत्मा है या आत्मा अमर है ऐसी मान्यता या ऐसा अनुभव उन्हे नही होता।

मिथ्यादृष्टि जीव का दर्शनमोहनीय कर्म अनादिकाल मे एक मिथ्यात्व के रूप मे चला आ रहा था परन्तु करण लब्धि के प्रताप से यानि सुगुरू के निमित्त से जीव को प्रथम बार जो सम्यक् दर्शन होता है उसे प्रथमोपशम-सम्यक्त्व कहते है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। इस काल के समाप्त होते ही यह जीव सम्यक्त्व रूप मे पर्वत से गिरता है। उस काल मे यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जाए तो वह तीसरे गुणस्थान मे पहुचता है और यदि अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषाय का उदय आ जाये तो दूसरे गुणस्थान मे पहुचता है। तदनन्तर मिथ्यात्व कर्म का उदय आता है और यह जीव पुन मिथ्यादृष्टि बन जाता है अर्थात् पहले गुणस्थान मे आ जाता है। इस सब का सार यह है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान जीव के उत्थान काल मे नही होते, किन्तु पतनकाल मे ही होते हैं।

२. सासादन सम्यग्दृष्टि (Down fall from the fourth stage) —इस गुणस्थान की प्राप्ति जीव को सम्यक्त्व दशा से पतित होते समय होती है। सासादन का अर्थ है सम्यक्त्व की विराधना। सम्यक्त्व के विराधक जीव को सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उसे सास्वादन सम्यग्दृष्टि भी कहते है। जैसे कोई जीव मीठी खीर खाये और तत्काल उसे वमन हो जाय, तो वमन करते हुए भी वह खीर की मिठास का अनुभव करता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जब कर्मोदय की तीव्रता से सम्यक्त्व का वमन करता है, तो उस वमनकाल मे भी उसे सम्यग्दर्शनकाल भावी आत्मविशुद्धि का आभास होता रहता है। किन्तु जैसे किसी ऊँचे स्थान से गिरने वाले व्यक्ति

का आकाश मे अधर रहना अधिक काल तक सभव नही है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शन से गिरते हुए जीव का दूसरे गुणस्थान मे छ *आवलिकाल से अधिक अवधि तक रहना सभव नही है। तत्पश्चात् जीव नियमानुसार पहले गुणस्थान मे जा पहुचता है।

३ **सम्यग्मिथ्यादृष्टि** (Belief in right or wrong at the same time) —चौथे गुणस्थान की असयत सम्यग्दृष्टि दशा मे रहते हुए जब जीव के मोहनीय कर्म की सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होता है, तो वह जीव चौथे गुणस्थान से गिरकर तीसरे गुणस्थान मे आ जाता है। ऐसे जीव के परिणाम न तो शुद्ध सम्यक्त्वरूप ही होते है और न शुद्ध मिथ्यात्वरूप किन्तु मिश्र रूप होते है। जैसे दही और चीनी का मिला हुआ स्वाद न तो केवल दही रूपी खट्टा ही प्रतीत होता है और न चीनी रूपी मीठा ही किन्तु एक तीसरी तरह का खटमीठा स्वाद आता है। इसी प्रकार तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव के यथार्थ-अयथाथ के सम्मिश्रित परिणाम होते हैं। इस गुणस्थान का काल भी अधिक से अधिक एक अन्तर्मुहूर्त है। इतना अवश्य सम्भव है कि इस गुणस्थान वाला जीव यदि सम्भल जाये तो चौथे गुणस्थान मे पहुच सकता है अन्यथा उसका पतन नीचे के गुणस्थानो मे निश्चित है।

---

*सब से सूक्ष्म अविभाज्य काल का नाम समय है। असख्य समय को एक आवलिकाल कहते है। छ आवलि प्रमाण काल भी एक मिनट से बहुत छोटा होता है। दो समय से लेकर दो घडी (४८ मिनट) मे एक समय कम इतने काल को अन्तर्मुहूर्त कहते है। दो समय के काल को या एक समय से अधिक आवलिकाल को जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते है। दो घडी मे एक समय कम काल को उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहते हैं।

४. असंयतसम्यग्दृष्टि (Vowless right belief) – जीव को यथार्थ या सम्यग् दृष्टि प्राप्त होते ही चौथा गुणस्थान मिल जाता है। सम्यग् दृष्टि (दर्शन) तीन प्रकार की होती है – उपशम, क्षयिक और क्षयोपशमिक। दशन मोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन प्रकृतियो तथा चरित्र मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकृतिया, कुल सात प्रकृतियों के उपशम से उपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। जीव को सर्वप्रथम इसी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है किन्तु इसका काल अन्तर्मुहूर्त ही है। अत उसके पश्चात् वह सम्यक्त्व से गिर जाता है और मिथ्यादृष्टि बन जाता है। पुन यह जीव ऊपर चढने का प्रयत्न करता है और सातो प्रकृतियो का क्षयोपशम करके क्षयोपशमिक सम्यग्दृष्टि बनता है। उसका काल अन्तर्मुहूर्त से लगा कर ६६ सागर तक का है।

इस गुणस्थानवर्ती जीव की और मिथ्यादृष्टि की बाहरी क्रियाओ मे कोई खास अन्तर दिखाई नही देता, पर अन्तरग मे आकाश-पाताल जैसा अन्तर हो जाता है। मिथ्यादृष्टि की परिणति सदा मलिन रहती है और सम्यग्दृष्टि की परिणति विशुद्ध और धर्मध्यानमय होती है। असयत सम्यग्दृष्टि जीव घर मे रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है जैसे जल मे रहता हुआ कमल जल से अलिप्त रहता है। वह इन्द्रिय भोगो को भोगते हुए भी उनमे अनासक्त रहता है।

५. देशसंयत (Partial vows–Anuvirati) –चौथे गुणस्थान मे रहते हुए जीव आत्म-विकास की ओर अग्रसर होता है। वह सोचता है कि जिन भोगो को वह भोग रहा है वे

कर्म-बन्धन के कारण है। इसलिए वह हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पाँच पापो का स्थूल त्याग करता है जैसे मैं किसी भी त्रसजीव का सकल्पपूर्वक घात नही करूगा, राज्य-विरुद्ध, समाज-विरुद्ध, देश-विरुद्ध व धर्म-विरुद्ध असत्य नही बोलूगा, बिना दिये किसी की वस्तु को नही लूगा, भागीदार का हक नही छीनूगा, आदि, अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्री मात्र पर बुरी दृष्टिपात नही करूगा, अपनी आवश्यकताओ को सीमित रखता हुआ अनावश्यक परिग्रह के सग्रह का त्याग करूगा। इन पाँचो अणुव्रतो की रक्षा और वृद्धि के लिए तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत रूपी सात शील व्रतो को भी वह धारण करता है। इस तरह श्रावक के उक्त बारह व्रतो का पालन करते हुए वह आदर्श गृहस्थ जीवन व्यतीत करता है।

इस गुणस्थान वाला जीव ससार से उत्तरोत्तर विरक्त होते हुए अपने आरम्भ और परिग्रह को भी घटाता है और अपने आत्मिक गुणो का विकास करता रहता है। अन्त मे सर्व आरम्भ का त्याग कर, शुद्ध ब्रह्मचर्य को धारण कर, तथा घरबार को भी छोड कर साधु बनने की ओर अग्रसर होता है या समाधि मरण पूर्वक अपने शरीर को विसर्जित करता है।

६. **प्रमत्त-संयत** (observance of the great vows i e becoming a monk) —गृहस्थ धर्म पालन करते हुए जब जाव यह अनुभव करता है कि इतनी सावधानी रखते हुए भी गृहस्थ जीवन मे आत्म-शान्ति मे बाधा पडती है, तब वह अपने परिवार से नाता तोड कर साधु बनने को तैयार होता है। अवसर आने पर वह अहिंसादि पच महाव्रतो को अगीकार करता है और

सयम की साधना मे सलग्न हो जाता है। सयम पालन करने से वह सयत तो है तथापि जब तक उसमे प्रमाद रहता है तब तक उसे प्रमत्त सयत कहते है। साधु मे सदा प्रमाद भी नही रहता, वह सावधान होकर आत्म-चिन्तन भी करता है। आत्म-चिन्तन के समय उसे अप्रमत्त दशा आ जाती है। इस प्रकार वह कभी प्रमत्तदशा मे तो कभी अप्रमत्तदशा मे आता जाता रहता है। क्योकि वह साधु बन जाने के कारण पाँचो पापो को यावज्जीवन सर्वथा त्याग कर चुका है अत वह सयत है। प्रमाद के कारण वह प्रमत्त सयत कहा जाता है।

७. **अप्रमत्त सयत** (observance of the great vows with perfect heedfullness)–साधु की सावधान दशा का नाम सातवा गुणस्थान है। जितने समय तक वह आत्म-चिन्तन और उसके मनन मे जागरूक रहता है उतनी देर के लिए वह सातवे गुणस्थान मे रहता है। जब कभी उसमे प्रमाद रूप परिणति प्रकट हो जाती है तो वह छठे गुणस्थान मे आ जाता है। जिन साधुओ की प्रवृत्ति निरन्तर बहिर्मुखी देखने मे आती है, जो निरन्तर खान-पान की चर्चा मे, विकथाओ मे व्यस्त और निद्रा मे मस्त रहते है उनको भी कभी-कभी तो ऐसा विचार आता ही है कि 'आत्मन तुम कहाँ भटक रहे हो ! प्रमाद मे रहना हितकर नही है, यह तुम्हारा स्वभाव नही है" ऐसा विचार आते ही वह आत्माभिमुख हो जाता है। इस तरह वह छठे से सातवे मे और सातवे से छठे गुणस्थान मे आता जाता रहता है।

सातवे गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक का काल परम समाधि का है। आठवें गुणस्थान से दो श्रेणिया प्रारम्भ

होती है। उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणी – आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ गुणस्थान। क्षपक श्रेणी – आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और बारहवाँ गुणस्थान। क्षपक श्रेणी पर केवल तद्भवमोक्षगामी क्षयिक सम्यग् दृष्टि साधु ही चढ सकता है, अन्य नही। उपशम श्रेणी पर तद्भव मोक्षगामी व अतद्भव मोक्षगामी तथा उपशमिक व क्षयिक सम्यग्दृष्टि दोनो प्रकार के जीव चढ सकते है।

८. अपूर्वकरण संयत (New thought activity which the saint's soul had never before acquired) जब कोई सातिशय अप्रमत्त सयत मोहकर्म का उपशमन करने के लिए इस गुणस्थान मे प्रवेश करता है तब उसके परिणाम प्रत्येक क्षण अपूर्व ही होते है। इसके पहले ऐसे परिणाम कभी प्राप्त नही हुए थे इसलिए उन्हे अपूर्व कहते हैं। इस गुणस्थान मे प्रविष्ट सभी जीवो के परिणाम अपूर्व और अनन्तगुणी विशुद्धि को लिये हुए होते है, इसीलिए इसका नाम अपूर्वकरण है। इस गुणस्थान मे मोहकर्म की किसी भी प्रकृति का उपशम या क्षय नही होता है तथापि आत्मा स्थूल रूप से कषाय—क्रोध, मान, माया व लोभ-से मुक्त हो जाती है।

९. अनिवृत्तिकरण-संयत (Advanced thought activity of a still greater purity) —आठवे गुणस्थान मे अन्तर्मुहूर्त काल रह कर और अपूर्व विशुद्धि को प्राप्त कर विशिष्ट आत्म-शक्ति का सचय करके यह जीव नौवे गुणस्थान मे प्रवेश करता है। कर्मो के सत्व का भी बहुत परिमाण मे ह्रास होता है और प्रति समय कर्म प्रदेशो की निर्जरा असख्यातगुणी

बढती जाती है। उपशम श्रेणी वाला जीव इस गुणस्थान मे मोह कर्म की एक सूक्ष्म लोभ प्रकृति को छोड कर शेष सर्व प्रकृतियो का उपशमन कर देता है। क्षपक श्रेणी वाला जीव उन्ही का क्षय करके दसवें गुणस्थान मे प्रवेश करता है और विशेषतया मोहकर्म की प्रकृतियो के साथ अन्य कर्मो की भा अनेक प्रकृतियो का क्षय करता है।

१०. सूक्ष्म साम्पराय (Absence of all passions except the most subtle greed) इस गुणस्थान मे परिणामो की उत्कृष्ट विशुद्धि के द्वारा मोह कम की जो एक सूक्ष्म लोभ-प्रकृति शेष रह गई है, वह प्रतिसमय क्षीण-शक्ति होती जाती है। उसे उपशम श्रेणी वाला जीव तो अन्तिम समय उपशमन करके ग्यारहवे गुणस्थान मे जा पहुचता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव क्षय करके बारहवे गुणस्थान मे पहुचता है। साम्पराय का अर्थ है लोभ। उस गुणस्थान मे परिणामो द्वारा लोभ कषाय क्षीण या शुद्ध होते हुए अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे रह जाता है अत इस गुणस्थान को सूक्ष्म साम्पराय कहते है। इतना विशेष ज्ञातव्य है कि क्षपक श्रेणी वाला जीव इस गुणस्थान मे अन्तिम समय मे सूक्ष्म लोभ के साथ अन्य कर्मो की अनेक प्रकृतियो का क्षय करता है।

११. उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ (subsided delusion i e subsidence of the entire right conduct deluding 'Karmas') :—दसवे गुणस्थान के अन्त मे सूक्ष्म लोभ का उपशम होते ही समस्त कषायो का उपशमन हो जाता है और वह जीव उपशान्त कषायी बन कर ग्यारहवे गुणस्थान मे आता है। जिस प्रकार गन्दले जल मे फिटकरी आदि डालने पर उसका मल भाग नीचे बैठ

जाता है और निर्मल जल ऊपर रह जाता है उसी प्रकार उपशम श्रेणी मे शुक्लध्यान से मोहनीय कर्म एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है, जिससे कि जीव के परिणामो मे एक दम वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता आ जाती है, इसी कारण उसे उपशान्तमोह या वीतराग सज्ञा प्राप्त हो जाती है। किन्तु अभी तक वह अल्पज्ञ ही है, क्योकि ज्ञान का आवरण करने वाला कर्म विद्यमान है अत वह वीतराग होते हुए भी छद्मस्त कहलाता है। मोहकर्म का उपशम एक अन्तर्मुहूर्त काल के लिए ही होता है, अत उस काल के समाप्त होते ही इस जीव का पतन होता है और वह नीचे के गुणस्थान मे चला जाता है।

१२. क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ (Delusion annihilated) —क्षपक श्रेणी वाला जीव दसवे गुण स्थान के अन्त मे सूक्ष्म लोभ का क्षय करके एकदम बारहवें गुणस्थान मे जा पहुचता है। इस गुणस्थान मे शुक्ल ध्यान का दूसरा भेद प्रकट होता है। उसके द्वारा वह ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन घातिक कर्मो का क्षय करता है। मोह कर्म का क्षय तो दसवे गुणस्थान के अन्त मे ही हो चुका था। इस प्रकार चारो घाति कर्मो का क्षय होते ही वह कैवल्य दशा को प्राप्त करता हुआ तेरहवे गुण स्थान मे प्रवेश करता है।

१३. सयोगी केवली (Omniscient soul with yogic vibration) बाहरवे गुणस्थान के अन्त तक चारो घात्य कर्मो को एक साथ क्षय करता हुआ जीव विश्व तत्त्वज्ञ और विश्वदर्शी बन जाता है। इसे ही अरहन्त अवस्था कहते हैं। केवल ज्ञान की प्राप्ति हो

जाने के कारण उमे केवली भी कहते है। योग अभी तक बना हुआ है। अत इस गुणस्थान का नाम सयोगी केवलो है। ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण कर्म के क्षय मे अनन्त दर्शन, मोह कर्म के क्षय से अनन्त मुख और क्षायिक सम्यक्त्व, अन्तराय कम के क्षय से अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग और अनन्त वीर्य की प्राप्ति होती है। अरहन्त भगवान् विहार करते हुए भव्य जीवो को अपने जीवन पर्यन्त मोक्षमार्ग का उपदेश देते रहते हैं। इम गुणस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल आठ वर्ष एव अन्तर्मुहूर्त कम एक पूवकोटी वर्ष है।

इस गुणस्थान मे शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद प्रकट होता है और भगवान केवली समुद्घात करते है। प्रथम समय मे चौदह रज्जु प्रमाण लम्बे दण्डाकार आत्म प्रदेश फैलते है, दूसरे समय मे कपाट के आकार के आत्म-प्रदेश चौडे हो जाते है, तीसरे समय मे प्रतल के आकार मे विस्तृत होते हैं और चौथे समय मे उनके आत्म प्रदेश सारे लोकाकाश मे व्याप्त हो जाते हैं। इसे लोक पूरण समुद्घात कहते है। इस प्रकार चार समयो मे आत्म-प्रदेश वापस सकुचित होते हुए शरीर मे प्रविष्ट हो जाते हैं। इस केवली समुद्घात क्रिया से नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मो की स्थिति भी आयु कर्म के बराबर अन्तर्मुहूर्त की रह जाती है तभी भगवान चौदहवें गुणस्थान मे प्रवेश करते हैं।

१४. अयोगी केवली (Vibrationless Omniscient soul)-इस गुणस्थान मे प्रवेश करते ही शुक्लध्यान का चौथा भेद प्रकट होता है और उसके द्वारा उनके योगो का निरोध होता है। योग निरोध के कारण ही उनको अयोगी केवली कहा जाता है। इस

गुणस्थान मे केवली भगवान अघाति कर्मो की सभी प्रकृतियो का क्षय करते है और एक क्षण मे सर्व कर्मो से मुक्त होकर अयोगी केवलो भगवान् सिद्ध या मुक्त सज्ञा को प्राप्त करते हुए सिद्धालय मे जा विराजते है और सदा के लिए आवागमन से मुक्त हो जाते है।

इस तरह बहिरात्मा से परमात्मा बनने के लिए गुणस्थानो पर चढ कर उत्तरोत्तर आत्मविकास के लिए प्रत्येक तत्वज्ञ पुरुष को प्रयत्न करना चाहिये।

लेश्या (Coloured pudgal)

जैन दर्शन 'मन' को आत्मा से भिन्न अनात्म जड और एक विशेष प्रकार के पुद्गलो (मनोवर्गणा के द्रव्यो) मे निर्मित्त पदार्थ मानता है तथा मन को भी पुद्गल की भाँति वर्ण, आकार व शक्ति युक्त मानना है। आगमो मे मन के विभिन्न स्तरो का वर्गीकरण लेश्याओ के रूप मे किया गया है।

१ **कृष्ण लेश्या** (B'ack pudgal) :—अतीव हिंसा, अतीव क्रोध, अतीव क्रूरता आदि अशुभतम भाव कृष्ण लेश्या के अन्तर्गत होते है। इन भावो से कृष्ण वर्ण की मनोवर्गणाएँ पैदा होती है।

सदर्भ —प हीरालाल जैन, 'गुण स्थान" मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रथ पृष्ठ ४२६

२. **नील लेश्या** (Indigo pudgal) :—अति हिसा, अति क्रोध, अति क्रूरता आदि अशुभतर भाव नील लेश्या के अन्तर्गत होते है। इन भावो से नीले रग की मनोवर्गणाएं पैदा होती है।

३ **कापोत लेश्या** (Blue pudgal) :—हिसा, क्रोध, क्रूरता आदि अशुभ भाव कापोत लेश्या के अन्तर्गत होते है। इन भावो से कबूतरी रंग की मनोवर्गणाएं पैदा होती है।

४. **पीत (तैजस्) लेश्या** (Yellow pudgal):—अहिसा, समता, करुणा आदि के शुभ भाव पीत के अन्तर्गत होते है। इन भावो से पीले रग की मनोवर्गणाएं पैदा होती है।

५. **पदम लेश्या** (Rose Colour pudgal) :—अहिसा, समता, करुणा आदि के शुभतर भाव पदम लेश्या के अन्तर्गत होते हैं। इन भावो से हल्के गुलाबी रग की मनोवर्गणाएं पैदा होती हैं।

६. **शुक्ल लेश्या** (White pudgal) :—अहिसा, समता, करुणा आदि के शुभतम भाव शुक्ल लेश्या के अन्तर्गत होते है। इन भावो से शुभ्र या श्वेत रग की मनोवर्गणाएं पैदा होती हैं।

ये मनोवर्गणाएं लेश्या वाले व्यक्ति के चारो ओर बादलो के समान फैल जाती है। इन वर्गणाओ के मेघो के समुदाय मे न केवल वर्ण ही होता है अपितु आकार एव शक्ति भी होती है। आदमी का जैसा विचार या सकल्प होता है वसा ही आकार

होता है और उसी के अनुसार उस आकृति का रग भी होता है। आकाश मे सकल्प द्वारा नाना रूप बनते है। इन रूपो की बाह्य रेखा की स्पष्टता-अस्पष्टता सकल्पो की तीव्रता के तारतम्य पर निर्भर है। रग विचारो का अनुसरण करते है। प्रेम एव भक्ति युक्त विचार गुलाबी रग, तर्क-वितर्क पीला रग, स्वार्थ-परता हरा रग तथा क्रोध लाल मिश्रित काला रग के आकारो को पैदा करते है। अच्छे विचारो के रग बहुत सुन्दर और प्रकाशमान होते है, उनसे रेडियम के समान ही सदैव तेज निकला करता है। विचार के समय मस्तिष्क मे विद्युत उत्पन्न होती है और यह मानव के लिये उपयोगी है क्योकि विचार-विद्युत की लहरो का भी एक विशेष प्रक्रिया से प्रसारण व ग्रहण होता है। इस प्रक्रिया को टेलीपैथी कहते है और टेलीपैथी के प्रयोग से हजारो दूरस्थ व्यक्ति भी विचारो का आदान-प्रदान व प्रेषण-ग्रहण कर सकता है।

प्रथम तीन लेश्याओ के परिणाम अशुभतम, अशुभतर और अशुभ और अन्य तीन लेश्याओ के परिणाम शुभ, शुभतर, और शुभतम होते है। शुक्ल लेश्या मे राग-द्वेष रहित होना, आत्म-लीन होना आदि परिणाम है यानि जीव सभी कर्म-बन्धनो से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

संदर्भ —कन्हैयालाल लोढा, "जैन दर्शन और विज्ञान" मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रथ, पृष्ठ ३३४

म्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र

तत्त्वार्थ सूत्र का प्रथम सूत्र है—"सम्यक् दर्शन, ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्ग."। अर्थात् मोक्ष की सिद्धि सम्यक् दशन, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्र तीनो के द्वारा सहजत हो सकती है। भगवान महावीर ने कहा, "जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् आचरण सम्पन्न होते हैं, वे मुक्त होते हैं।

सम्यक् ज्ञान (Right Knowledge) :—जिन पदार्थो का जैसा स्वरुप है, उनको वैसा ही जानना। इससे स्वय का बोध होता है। ज्ञान वह होता है जहा केवल जानना होता है एव जानने के सिवाय कुछ भी नही होता। जिस ज्ञान का स्वभाव आत्मा मे लीन होना है, वह सम्यक् ज्ञान कहलाता है।

यथायस्तु परिज्ञान, ज्ञानज्ञानिभिरुत्यते।
राग द्वेष मद क्रोधैं सहित वेदन पुन ॥

जो वस्तु जैसी है, वैसा ज्ञान होना अर्थात् सत्य का बोध होना ज्ञान है। जब ज्ञान से राग-द्वेष जुड जाते है तब वह सवेदन या अज्ञान बन जाता है, ज्ञान नही रहता।

सम्यक् दर्शन (Right Faith) —तात्त्विक रुचि, सम्यक् श्रद्धा देखने की व साक्षात्कार की जो पद्धति है वह है दर्शन। दर्शन का पहला आयाम है अतीन्द्रिय चेतना का जागरण। आज केवल तार्किक नियमो के आधार पर दर्शन का समूचा प्रासाद खडा हुआ है। आज केवल तर्क है, अनुभूति नही। प्राचीन दार्शनिक सूक्ष्म सत्य को सूक्ष्म चेतना के द्वारा खोजते थे। आज के वैज्ञा-

निको ने सूक्ष्म यन्त्रो का निर्माण किया है और उनके द्वारा सूक्ष्म सत्यो को खोजने का प्रयास करते है। पुराने जमाने के दार्शनिक ऋषि कहलाते थे। "दर्शनात् ऋषि"—ऋषि का अर्थ है द्रष्टा, देखने वाला। दर्शन-मूलक यानि सम्यक् दर्शन के द्वारा आत्मा उपलब्ध होती है, समन्वय सधता है व मैत्री उपलब्ध होती है। तर्क-मूलक दर्शन के द्वारा सघर्ष बढे है, विवाद और जय विजय की भावना बढी है।

> सम्यग् दर्शन सम्पन्न, श्रद्धावान् योगमर्हति।
> विचिकित्सा समापन्न, समाधिं नैव गच्छति॥

जो सम्यक् दर्शन से सम्पन्न और श्रद्धावान है, वह योग का अधिकारी है। जो सशयशील है, वह समाधि को प्राप्त नही होता।

सम्यक् चारित्र (Right Character) की परिभाषा है :- आस्रव का निरोध करना, अशुभ प्रवृत्तियो का सवरण करना, शुद्ध आचरण करना, चारित्रवान बनना, इन्द्रियो का, मन का व वासनाओ का सयमन करना, सात्विक जीवन जीना। सम्यक् चारित्र से व्यक्ति स्वभाव मे अवस्थित होता है। साध्य के लिए ज्ञान और आचरण (पहले जानो फिर अभ्यास करो) दोनो अपेक्षित है। सम्यक् ज्ञान की अभिव्यक्ति सम्यक् चारित्र मे होती है और सम्यक् आचरण सम्यक् ज्ञान के समुद्घाटन मे योग देता है। इसी कारण भगवान महावीर ने चारित्रोत्थान पर विशेष बल दिया है। "चारित खलु धम्मो" अर्थात् चारित्र ही धर्म है, चारित्र ही ईश्वरीय रूप है और वही मनुष्य को ईश्वरत्व तक ले जाता है। आत्म-धर्म या सम्यक् चारित्र आत्मा का उर्ध्वीकरण करता है।

सम्यक दर्शन ज्ञान से अन्तर सवर होय।
नये कर्म बाधे नाय क्षीण पुरातन होय ॥

जिसने स्वय को जान लिया और स्वय मे अपनी प्रतिष्ठा बना ला, मुक्ति उससे कैसे दूर हो सकती है ?

'सम्बोधि" सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का दिशा बोध है। वह गति भी है और गन्तव्य भी है, वह साधन भी है और सिद्धि भी है, वह पूर्णता भी है और रिक्तता भी है। सत्य एक है और उपलब्धि का मार्ग भी एक है और वह मार्ग है सम्बोधि।

प्रागैतिहासिक काल की घटना है —जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभ इस धरती पर थे। एक दिन उनके अट्ठानवे पुत्र एक साथ मिल कर भगवान के पास आए और प्रार्थना की, "भरत ने हम सब के राज्य छीन लिए है। हम अपना राज्य पाने की आशा लिए आपकी शरण मे आए हैं"।

भगवान ऋषभ ने कहा, "मैं तुम्हे वह राज्य तो नही दे सकता किन्तु ऐसा राज्य दे सकता हू, जिसे कोई छीन न सके।"

पुत्रो ने पूछा, "वह राज्य कौनसा है ?"

भगवान ने कहा, "वह राज्य है-आत्मा की उपलब्धि।"

पुत्रो ने प्रश्न किया, 'वह कैसे हो सकती है ?"

तब भगवान ने उत्तर दिया —

"सबुज्झह कि न बुज्झह, सबोहि खलु पेच्च दुल्लहा।
ना इ वणमति राइओ, णो सुलभ पुणरावि जीविये ॥"

'सम्बोधि" को प्राप्त करो। तुम "सम्बोधि" को प्राप्त क्यो

नही कर रहे हो ? बीती रात लौट कर नही आती । यह मनुष्य जीवन बार बार सुलभ नही है । हम जो पाना चाहते हैं वह हमारे पास है । बाहर से हमे कुछ भी नही लेना है ।

इस प्रकार जैन धम के साथ "सम्बोधि" का प्रागैतिहासिक सम्बन्ध है । सम्बोधि क्या है ? वह है आत्म-मुक्ति का मार्ग । वे सब मार्ग जो हमे आत्मा की सम्पूर्ण स्वाधीनता की ओर ले जाते है, एक शब्द मे "सम्बोधि" कहलाते हैं । जैन दर्शन का यह अभिमत है कि हम कोरे ज्ञान से आत्म-मुक्ति को नही पा सकते, कोरे दर्शन से और कोरे चारित्र से भी उसे नही पा सकते । उसकी प्राप्ति तीनो के समवाय से अर्थात् अविकल 'सम्बोधि" से ही हो सकती है ।

'गीता' का अर्जुन कुरुक्षेत्र के समराङ्गण मे क्लीव होता है तो 'सम्बोधि' का मेघकुमार साधना की समरभूमि मे क्लीव बनता हैं । 'गीता' के गायक योगिराज कृष्ण है और 'सम्बोधि' के गायक है भगवान महावीर । अर्जुन का पौरुष जाग उठा योगिराज का उपदेश सुन कर और भगवान महावीर की वाणी सुन कर मेघकुमार की आत्मा चैतन्य हो उठी । दीपक से दीपक जलता है । कभी कभी ज्योति का एक कण भी जीवन को ज्योतिर्मय बना देता है ।

> इद दर्शनमापन्नो मुच्यते नोति सगतम् ।
> श्रुत शील समापन्नो, मुच्यते नात्र सशय ॥

कुछ लोगो का अभिमत है कि अमुक दर्शन को स्वीकार करने से व्यक्ति मुक्त हो जाता है किन्तु यह सगत नही है । सच्चाई यह है कि जो श्रुत (ज्ञान) और शील (आचार) से मुक्त हो जाता है

वह नि सदेह मुक्त हो जाता है या मोक्ष मार्ग का सर्वथा आराधक है। जो इन दोनो से रहित है वह मोक्ष मार्ग का विराधक है। मुक्ति का किसी सम्प्रदाय से अनुबन्ध नही है, उसका एक मात्र अनुबन्ध है धर्म से।

मोह कर्म की वर्गणाएँ आत्मा के सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को प्रभावित करती है। उसकी प्रबल उदयावस्था मे न सम्यक् दर्शन रहता है न सम्यक् चारित्र और सघनता मे विचार और आचार भी पवित्र नही रह सकते। विचार जब अपवित्र होते है तब असत्य के प्रति आग्रह बढता ह और सत्य मे अविश्वास प्रबल हो उठता है। दुराग्रह से मिथ्यात्व (delusion) प्रबल हो जाता है। आत्मा है या नही, स्वर्ग है या नही, सर्व धर्म समान है, दूध-दूध एक है चाहे फिर वह आक का हो या गाय का – इस प्रकार के प्रश्नो मे उलझ जाने की स्थिति "मिथ्यात्व" है। चेतन को जड और जड को चेतन मानना इस प्रकार की धारणा हो जाती है। इसलिए मोक्ष प्राप्त करने के लिए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का होना या सम्यक् दृष्टि का होना आवश्यक है।

सम्यक्त्व या सम्यक् दृष्टि:— यथार्थ तत्व श्रद्धा को सम्यक्त्व कहते है। उपशम (subsidence) क्षय,(destruction)क्षयोपशम (destruction cum subsidence), सास्वादन और वेदक ये सम्यक्त्व के पाँच प्रकार है। जब तक दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियो (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व) तथा मोहनीय कर्म की चार प्रकृतियाँ (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ) का उदय रहता है तब तक मिथ्यात्व का अस्तित्व रहता है। जब इन सात प्रकृतियो का क्षय-क्षयोपशम होता है तब

सम्यक्त्व – क्षयिक् या क्षयोपशमिक - की प्राप्ति होती है। जीव व अजीव के यथार्थ ज्ञान के बिना साध्य की जिज्ञासा ही नही होती। आत्मवादी ही परमात्मा बनने का प्रयत्न करेगा, अनात्मवादी नही। सम्यक् दृष्टि जिस व्यक्ति को उपलब्ध हो जाती है उसे मोक्ष गमन का 'आरक्षण-पत्र' मिल जाता है। शास्त्रो मे लिखा है कि एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श हो जाने पर "देशोन अर्ध पुद्गलपरावर्ति" मे मुक्त होना निश्चित है। सम्यक्त्व आत्म-विकास की सुदृढ पृष्ठ-भूमि है। इस पर आरूढ होकर ही आत्मा पूर्ण विकास की स्थिति तक पहुच सकती है। सम्यक् दृष्टि का अर्थ है अपनी चेतना का निर्मलीकरण। इसका सम्बन्ध किसी बाहरी वस्तु से नही वह तो हमारी चेतना की परिणति है। जब तक चेतना का परिष्कार नही होता सम्यक् दृष्टि प्राप्त नही हो सकती। किसी भी प्रिय और अप्रिय के प्रति तटस्थ बना रहना, दृष्टि सम्पन्न होना सम्यक् दृष्टि है। जिसको आस्था इष्ट के प्रति हो, "मुझे अर्हत् बनना है" ऐसा सकल्प हो, अर्हत् बनने की साधना मे जो लगा है वह हमारा गुरु है ऐसी उसकी मान्यता हो, अर्हत् व वीतराग के द्वारा प्रवर्तित तत्त्व ही धर्म है यह स्वीकार करता हो, वही व्यक्ति सम्यक् दृष्टि वाला होता है।

सम्यग् दृष्टि पाने के लिए व्यक्ति में पाँच लक्षण होना आवश्यक है —

> आस्तिक्य जायते पूर्वमास्तिक्याज्जायते शम ।
> शमाद् भवति सवेगो, निर्वेदो जायते तत ॥
> निर्वेदादनुकम्पास्यादेतानि मिलितानि च ।
> श्रद्धावतो लक्षणानि, जायन्ते सत्यसेविम ॥

पहले आस्तिक्य (आत्मा, कर्म आदि मे विश्वास) होता है। आस्तिक्य से शम (क्रोध आदि कषायो का उपशम) होता है। शम से सवेग (मोक्ष के प्रति तीव्र अभिरुचि) होता है। सवेग से निर्वेद यानि वैराग्य होता है। वैराग्य के तीन प्रकार है — ससार वैराग्य, शरीर वैराग्य और भोग वैराग्य। निर्वेद से अनुकम्पा उत्पन्न होती है। अनुकम्पा यानि कृपा भाव, सर्वभूत मैत्री – आत्मोपम्य भाव – प्राणी मात्र के प्रति अनुकम्पा। मैत्रीभाव, मध्यस्थता, शल्यवर्जन और वैर वर्जन ये अनुकम्पा के अन्तर्गत है। जो समग्र प्राणियो के प्रति अनुग्रह है, उस अनुकम्पा को दया जानना चाहिये। ये सब सत्यसेवी श्रद्धावान् (सम्यक् दृष्टि) के लक्षण है।

नवही पदार्थ श्रद्धै यथातथ्य, तिण ने कही जे सम्यक्त्व निधान।
पछे त्याग करे ऊंधा सरधण तणा, ते सम्यक्त्व सवर प्रधान ॥

विपरीत श्रद्धान का त्याग करना सम्यंक्त्व सवर है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर भी त्याग किये बिना सम्यक्त्व-सवर नही हो सकता। सम्यक्त्वी के पाँच भूषण होते हैं। –

१ स्थैर्य—तीर्थं कर द्वारा कथित धर्म मे स्वय स्थिर रहना और दूसरो को स्थिर करने का प्रयत्न करना।

२ प्रभावना—धर्म शासन के बारे मे फैली हुई भ्रान्त धारणाओ का निराकरण करना और उसके महत्व को प्रकाश मे लाना।

३ भक्ति—धर्म-शासन की भक्ति या बहुमान करना।

४ कौशल—तीर्थं कर द्वारा कथित तत्वो को समझने और समझाने मे निपुणता प्राप्त करना।

५ तीर्थ-सेवा—साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका ये चार तीर्थ है उनकी यथोचित सेवा करना ।

सम्यक्त्व को स्थिर रखने के लिए पाँच सिद्धान्तो का जानना आवश्यक है —

१ आत्मा है ।
२ आत्मा द्रव्य रूप से नित्य है ।
३ आत्मा अपने कर्मो को कर्त्ता है ।
४ आत्मा अपने कृत कर्म-फल को भोगती है ।
५ आत्मा कर्म-मल से मुक्त होती है ।

सम्यक्त्व की पहचान —

१ भेद विज्ञान – जड चेतन की भिन्नता का बोध ।
२ आत्मोपम्य बुद्धि – सब को आत्म तुल्य समझना ।
३ आग्रह की अल्पता – सत्य के प्रति सहज दृष्टि ।
४ क्रोधादि कषायो की अल्पता – समभाव ।
५ पाप भीरुता – पापात्मक प्रवृत्तियो मे सतत जागरूकता ।

सम्यक्त्व के दूषण —

१ शका – वीतराग के प्रवचनो मे सशय अथवा लक्ष्य के प्रति सदेह ।
२ काक्षा – लक्ष्य के विपरीत दृष्टिकोण के प्रति अनुरक्ति ।
३ विचिकित्सा – लक्ष्य पूर्ति के साधनो के प्रति सशयशीलता अथवा धर्म के फल (परिणाम) मे सदेह ।
४ पर पाखण्ड प्रशसा – लक्ष्य के प्रतिकूल चलने वालो की प्रशसा ।
५ पर पाखण्ड परिचय – लक्ष्य के प्रतिकूल चलने वालो से परिचय ।

सम्यक्त्वी की साधना भोग प्रधान नहीं होती बल्कि त्याग प्रधान होती है। इन्द्रिय और विषयो के सयोग मे प्राप्त होने वाले सुख परापेक्षी होने से "पर" कहलाते हैं। इन सुखो की आकाक्षा किये जाने वाले व्रत "पर पाखण्ड" है। आचार्य हरिभद्र ने पाखण्ड शब्द का अर्थ व्रत लिया है। ऐसे व्रत स्वीकार करने वाले "पर पाखण्डी" कहलाते है। सम्यक्त्वी आत्म-दर्शन चाहता है। वह न तो पर पाखण्ड व्रतो को स्वीकार करता है और न पर पाखण्डो की प्रशसा या परिचय करता है।

सम्यक्त्व से प्रारम्भ हो, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र से गुजरती हुई, आत्मा की पहले गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक की जो यात्रा है उसकी तुलना धरातल से किसी पहाड की चोटी तक पहुचने से की जा सकती है। जिस तरह चोटी तक पहुँचने के लिए धरातल से अनेको जगहो से शुरू हुआ जा सकता है, उसी प्रकार मुक्ति-शिखर तक पहुँचने के लिए आत्मा के लिए अनेक आरम्भ बिन्दु हो सकते हैं जैसे सत्गुरु के प्रति श्रद्धा, अन्तर्निहित पौरुष, किसी घटना के सयोग से सम्यक्त्व की उपलब्धि अथवा कोई और कारण।

इस दुरूह यात्रा मे आत्मा किसी ऊँचाई से गिर भी सकती है जैसे असावधानीवश पहाड से आदमी गिर सकता है। अत चोटी को प्राप्त करने के लिए सतत जागरूकता और प्रयास अनिवार्य है।

सदर्भ —१ युवाचार्य महाप्रज्ञ– सबोधि" पृष्ठ १

२ जयाचार्य– 'नव पदार्थ-सवर ढाल' –गाथा ६

3 साध्वी राजमति–"ज्ञान किरण"–पृष्ठ 3४

४ मुनि श्रीमल्ल–"साम्यग्दर्शन–मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृष्ठ २८७

व्रत (abstenance from evils)

दूसरा मालिन्य या आस्रव अव्रत है उसको दूर करने के लिए व्रत यानि प्रत्याखान करना (हिसा, असत्य आदि पाप कार्यों का त्याग करना) परिग्रह को सीमित करना (सीमा मे बधना), अनासक्त रहना आवश्यक है। उसमे व्यक्त और अव्यक्त आशा का त्याग करना पडता है।

अप्रमाद (alertness)

व्रत के बाद अप्रमाद तीसरा मालिन्य या आस्रव प्रमाद है उसको दूर करने के लिए अप्रमाद का अभ्यास करना यानि हर कार्य मे जागरूक रहना या सावधानी वर्तना आवश्यक है।

प्रमादेन च योगेन, जीवऽसौ बध्यते पुन ।
बद्धकर्मोदयेनैव, सुख दु खञ्च लभ्यते ॥

प्रमाद और योग से जीव पुन कर्मो से आबद्ध होता है और बन्धे हुए कर्मो के उदय से वह सुख दु ख पाता है।

शरीर जायते बद्ध जीवात वीर्यं तत स्फूरेत ।
ततो योगो हि योगाञ्च्य, प्रमादो नाम जायते ॥

कर्म-बद्ध जीव के शरीर होता है, शरीर मे वीर्य (सामर्थ्य) स्फुटित होता-है। वीर्य से योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) और योग से प्रमाद उत्पन्न होता है। आत्म-प्रदेश स्थित अनुत्साह का क्षय हो ऐसा अभ्यास करना चाहिये।

प्रमाद आसव ने कषाय योग आसव, वे तो नहीं मिटे किया पात्त्याखाण ।
ये तो सहज मिटे छे कर्म अलग हुया, तिण री अन्तरग कीजो पहिचान ॥

कर्म-बन्धन का कारण आस्रव के अलावा कषाय भी है। यदि जीव मे कषाय की प्रबलता होती है तो कम-परमाणु आत्मा के साथ अधिक काल तक चिपके रहते है और तीव्र अशुभ फल देते है। कषाय के मन्द होते ही कर्मो की स्थिति कम और फल शक्ति मन्द हो जाती है। निर्जरा अधिक होती है और पाप व पुण्य का बन्धन भी शिथिल होता जाता है। इस तरह राग-द्वेष कषाय यानि क्रोधादि विकारो से निवृत्ति तथा अयोग यानि शरीर मन और वाणी की क्रियाओ से मुक्ति ये सब मोक्ष प्राप्त करने के उपाय हैं।

बढता ही बढता गयो तन का मन का रोग।
राग द्वेस ज्यू ही छुट्या हुङ्ग्यो सहज निरोग।

सवर द्वारा कर्म-बन्धन की पूरी रोक हो जाती है और निर्जरा द्वारा पूर्व सचित समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं और जीव के स्वाभाविक गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य अपनी परिपूर्ण अवस्था मे प्रकट होते हैं। यही मोक्ष है व जीव की परमात्म प्राप्ति है।

सदर्भ —१ जयाचार्य, "नवपदार्थ ढाल १ गाथा ३"
२ दूहाधर्म रा, "विपश्यना" दि २७-४-८३
३ युवाचार्य महाप्रज्ञ, "सम्यग् दृष्टि" जैन भारती दि २४-४-८३

संवर (Arrest of the ınflux of Karmas)

कर्मों मे मुक्त होने का सब से बडा सूत्र है सवर और फिर निर्जरा ।

> निरोध कर्मणामस्ति सवरो निर्जरा तथा ।
> कर्मणा प्रक्षयश्चैषोपादेय - दृष्टिरिष्यते ॥

कर्मों का निरोध करना सवर कहलाता है और कर्मों के क्षय से होने वाली आत्म - शुद्धि निर्जरा कहलाती है । यह उपादेय दृष्टि है ।

"आस्रव निरोध सवर" आस्रव के विरोध को सवर कहते है । सवर आस्रव का विरोधी तत्त्व है । आस्रव कर्म-ग्राहक अवस्था है और सवर कम-निरोधक ।

> पुदगलाना प्रवाहो हि नैष्कर्म्येण निरुद्ध्यते ।
> त्रुटयन्ति पाप-कर्माणि नव कर्म न कुर्वत ॥

पुद्गलो का जो प्रवाह आत्मा मे प्रवाहित हो रहा है वह नैष्कर्म्य (सवर) से रुकता है । जो नये कर्म का सग्रह नही करता, उसके पूवसञ्चित पाप-कर्म का बन्धन टूट जाता है ।

शरीर की प्रवृत्ति का निरोध, प्रकम्पनो का निरोध, बाहर के परमाणुओ को भीतर आने से रोकना सवर है । मनोनुशासन या आत्मोन्मुखता ही सवर है । सवर के द्वारा हम आत्म-स्वभाव की अनुभूति मे प्रवृत्त हो जाते है । जब अपने अस्तित्व का बोध या चैतन्य का अनुभव हमारे हृदय मे जागृत हो जाता है तब वह सवर का रूप धारण कर लेता है । सवर मोक्ष का हेतु है ।

सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग सवर के मुख्य भेद हैं।

सवर कैसे हो ? हम शुद्ध आचरण करे, चारित्रवान बने, इन्द्रियो का, मन का व वासनाओ का सयमन करे। यह सब सवर की प्रक्रिया है। सवर का अर्थ दमन नही, नियमन है। अपने जीवन को नियमित करना है। सात्विक जीवन जिसमे सत्य, सदाचार, विश्व बन्धुत्व की भावना निहित हो वह सयम है। इसमे प्राथमिक अभ्यास की दृष्टि से व्यक्ति को अपनी अशुभ प्रवृत्तियो का सवरण करना होता है। हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह की विरति को सयम कहा है और उनकी प्रवृत्ति असयम है। जितने अ शो मे इनका त्याग होता है उतने ही अ शो मे सयम की प्राप्ति होती है और जितना अत्यागभाव है वह असयम है। यह सब सवर की प्रक्रिया है। महाव्रत और अणुव्रत की साधना अशुभ प्रवृत्ति की विरति की साधना है। जैसे जैसे साधक आगे बढता है सामायिक, समता, सवर आता है और इन्द्रिय और मन के निरोध करने मे कुशल होता चला जाता है। एक क्षण आता है कि वह बाहर से सर्वथा शून्य, बेहोश तथा अन्दर से पूर्ण सचेतन होता है। वही क्षण वास्तविक सयम है। वही क्षण स्वात्मोपलब्धि का है।

प्रायश्चित के तीन क्षण हैं –अतीत, वर्तमान और भविष्य। अतीत का प्रतिक्रमण होता है, भविष्य का प्रत्याखान और सवर वर्तमान का क्षण होता है। प्रायश्चित के समय जिसने अतीत का प्रतिक्रमण और भविष्य का प्रत्याखान किया तो उसके लिये बीच का यानि वर्तमान का जो क्षण है उसमे अपने आप सवर हो जायगा।

भगवान् महावीर ने भी सवर को ही साधना का मुख्य अ ग माना और अपने स्वय के जीवन मे उतारा। उन्होने चित्तातीत साधना को ही प्रमुखता दी थी। उन्होने कहा, "सवर करो," सब से पहिले अपनी शारीरिक स्थिरता से शरीर की प्रवृत्ति का निरोध करो। शरीर के द्वारा ही कर्म-पुदगल आकर्पित होते है, उनका आकर्षण रोकना है। हमे शरीर के प्रकम्पनो का निरोध करना हैं। जैसे कमरे को बाहरी धूल से बचाने के लिये सर्व प्रथम खिडकियो व दरवाजो को बन्द किया जाता है वैसे ही कर्म के बन्धन को रोकने के लिये सवर का सहारा लिया जाता है। सब से पहिले काया का सवर आवश्यक है। मन और वाणी ये दोनो अपने आप नही चल सकते और ये दोनो काया के द्वारा ही भेदन बुद्धि से भेदित है। सारी गति काया से नियोजित है। यह शरीर ही मन व वाणी के पुद्गल ग्रहण करता है। प्रवृत्ति का मूल स्रोत शरीर है। इसलिए शरीर की प्रवृत्ति का निरोध प्रमुख है।

जब हम स्थूल शरीर को शान्त, स्थिर, निष्क्रिय और प्रवृत्तिहीन बना देते है तो कर्म-शरीर प्रकपित हो जाता है। कर्म-परमाणु टूटने लग जाते हैं। ऐसा क्यो होता है ? कारण यह है कि यह स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर के पोषण के लिये सारी सामग्री खीचता है और सूक्ष्म-शरीर स्थूल-शरीर, मन व वाणी की प्रवृत्ति के सहारे टिका है। यदि प्रवृत्ति के तीनो स्रोत बन्द हो जाय यानि स्थूल शरीर शान्त, स्थिर, निष्क्रिय और प्रवृत्तिहीन बन जाय तो सूक्ष्म शरीर को पोषण नही मिल सकता और फलस्वरूप उसका विनाश हो सकता है। शरीर, वाणी और मन चचल है तब ही सूक्ष्म शरीर टिक रहा है। भगवान् महावीर ने इसलिए मूल बात को पकडा और कहा कि अपने

अस्तित्व तक पहुँचना है तो सबसे पहले शरीर की प्रवृत्ति का निरोध करना होगा और यही है सवर की साधना।

यह स्पष्ट है कि स्थूल शरीर की प्रवृत्ति का निरोध किये बिना यह सूक्ष्म शरीर व्यक्ति को अपने अस्तित्व तक नही पहुचने देता। भगवान् महावीर का लक्ष्य था आत्म – साक्षात्कार। उन्होने प्रथम बाह्य शरीर के सहारे ध्यान स्थापित किया। वहाँ से चेतना को हटा कर कर्म – शरीर मे लगाया और फिर वहाँ से आत्मा मे। भगवान् महावीर सोलह दिन तक रात दिन लगातार खडे रहे। मच्छरो ने काटा तो हटाया नही। वे ध्यान की अनुभूति मे इतने लीन हो जाते कि उन्हे भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी का भान ही नही रहता। इस तरह साधना करते करते भगवान महावीर के कर्मो के वृन्द के वृन्द टूटने लगे और एक दिन ऐसा आया कि वे वीतराग बन गये, केवली हो गये आत्म–साक्षात्कार कर लिया, सर्वज्ञ – समदर्शी बन गये। इस तरह सवर की साधना करने से नये कर्मो का बन्धन रुक जाता है, कषायो का अल्पीकरण होता है और पूर्व सचित कर्मो का निर्जरण होता है।

सहज निरपेक्षञ्च, निर्विकारमतीन्द्रियम्।
आनन्द लभते योगी, बहिरव्यापृतेन्द्रिय ॥

जिसकी इन्द्रियो का बाह्य पदार्थो मे व्यापार नही होता, वह योगी सहज, निरपेक्ष, निर्विकार और अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त होता है।

गीता मे भी इसी तरह का उल्लेख है —

जितात्मन प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित ।
शीतोष्ण सुख दुखेषु तथा मानापमानयो ॥

जिसने आत्मा और मन पर विजय पा ली है वह परमात्मा तक पहुँच गया है और उसने शान्ति पा ली है, ऐसे व्यक्ति के लिए सुख - दुख, ग्रीष्म - शीत, मान - अपमान सब बराबर हैं ।

सत बिनोबाजी का गीता प्रवचन एक अनूठा विवेचन कहा जाता है । उन्होने भी साधना का क्रम ऐसा ही बताया है, "तीव्र से सौम्य, सौम्य से सूक्ष्म और सूक्ष्म से शून्य यह है साधना का क्रम" । चित्त शुद्धि के अनुपात मे क्रिया तीव्र से सौम्य, सौम्य से सूक्ष्म और सूक्ष्म से शून्य हो जाती है ।

निर्जरा (Fxhaustıon of Karma)

आत्मा पर कर्मो का आवरण आ जाने से मनुष्य सच्चे सुख का रास्ता भूल जाता है और शरीर के प्रति उसका ममत्व हो जाता है । उस ममत्व को दूर करने के लिए कर्मो से मुक्त होना हमारा लक्ष्य है और मुक्त होने के लिए हमारा दूसरा बडा सूत्र है "निर्जरा" ।

"तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्य निर्जरा" तपस्या के द्वारा कर्ममल का विच्छेद होने से जो आत्म - उज्ज्वलता होती है, उसे निर्जरा कहते है । निर्जरा का अर्थ है, जिसमे जरा न हो, बुढापा

सदर्भ —युवाचार्य महाप्रज्ञ, 'सम्बोधि'

न हो, जिसमे अवस्थागत् बुढापा न आए, वह है निर्जरा। मौत सामने हो तो भी प्रसन्न रहे, यही निर्जरा है।

सवर का हेतु निरोध है, निवृत्ति है। निर्जरा का हेतु प्रवृत्ति है। सवर के साथ निर्जरा अवश्य होती है, सवर के बिना भी निर्जरा होती है। उपवास मे आहार करने का जो त्याग है वह सवर है। उपवास मे शारीरिक कष्ट होता है, शुभ भावना होती है, शुभ प्रवृत्ति है, उससे कर्म - निर्जरण होता है और आत्मा उज्ज्वल होती है। अत यह सवर के साथ होने वाली निर्जरा है। एक व्यक्ति भोजन करने का त्याग किये बिना ही आत्मा - शुद्धि के लिए भूखा रहता है, वह भी निर्जरा है। निर्जरा शुभ - प्रवृत्ति - जन्य है चाहे वह सवर के साथ हो या उसके बिना हो।

> उदीर्णा वेदना यत्र, सहत समभावत
> निर्जरा कुरुते काये, देहे दु ख महाफल ॥

जो व्यक्ति कर्म के उदय से उत्पन्न वेदना को सम भाव से सहन करता है उसके कर्मो की अत्यधिक निर्जरा होती है क्योकि शरीर मे उत्पन्न कष्ट को सहन करना महान् फल का हेतु है।

निर्जरा के दो प्रकार है—सकाम और अकाम। आत्म - विशुद्धि के लक्ष्य से की जाने वाली निर्जरा सकाम निर्जरा है और आत्म विशुद्धि के लक्ष्य के बिना की जाने वाली निर्जरा अकाम निर्जरा है। इस सदर्भ मे गीता का निष्काम कर्म और भगवान महावीर की सकाम निर्जरा – दोनो समान महत्व के है। किसी कामना से जुडी हुई कोई भी प्रवृत्ति सकाम निजरा मे परिगणित नही होती। गोता मे 'कर्मण्ये वाधिकारस्ते माफलेषु

कदाचन' तुम्हारा कर्म करने का अधिकार है, पर फलाकाक्षा का तुम्हे अधिकार नही है – कह कर भगवान श्री कृष्ण ने व्यक्ति को कर्म करने की खुली छूट दी है। उसका वैशिष्ठ्य यही है कि वह कर्म निष्काम हो। जैन दर्शन निष्काम भाव से किये जाने पर भी उपेक्षित (अवाछनीय) कर्म को नियन्त्रण करने का परामर्श देता है।

निर्जरा कर्मो की होती है – यह औपचारिक सत्य है। वस्तु – सत्य यह है कि वेदना की अनुभूति होती है निर्जरा नही होती। निर्जरा अकर्म की होती है। वेदना के बाद कर्म - परमाणुओ का कर्मत्व नष्ट हो जाता है फिर निर्जरा नही होती।

"सामान्यत लोगो की एक धारणा है कि मनुष्य को अकर्मण्य नही होना चाहिये। कुछ न कुछ करते रहना चाहिये यही जिन्दगी है। यही जीवन है। जिस दिन कर्म छूट जायेगा, उस दिन जीने का उल्लास भी छूट जायेगा। किन्तु यह धारणा उन लोगो की हो सकती है, जिन्होने अन्तर्मुखी होने का अभ्यास नही किया। इस मान्यता का समर्थन वे ही व्यक्ति कर सकते है, जो ध्यान की भूमिका से गुजरे न हो। ध्यान साधना व्यक्ति को निष्कर्म रहने की प्रेरणा देती है। मन, वाणी और शरीर की स्थूल क्रियाओ का निरोध ध्यान का प्रथम बिन्दु है। इस स्थिति मे पहुँचने वाला ही मोक्ष को पा सकता है।"

"स्वय भगवान महावीर साढे बारह वर्ष तक अकर्म की साधना मे सलग्न रहे। उस अवधि मे उन्होने न किसी को उपदेश दिया, न कोई प्रवचन। उस समय वे किसी के साथ बात करना भी नही चाहते थे। बहुत बार न बोलने के कारण उन्हे कई प्रकार की यातना सहनी पडी। वे सब कुछ सहते रहे, उपेक्षित

एक शब्द भी नही बोलते थे । जब कभी वे बोलते तो आत्म शोधन की दृष्टि से ही बोलते थे । वे अधिकाश ध्यान मे रहते थे । ध्यान की अवस्था मे चाहे मच्छर काटे, चाहे बिच्छू या सांप, चाहे आग की लपटे उनके शरीर को झुलसादे, वे एक क्षण के लिये भी ध्यान मे विचलित नही हुए । साधारणतया ये बाते समझ मे आने जैसी नही है, फिर भी इन पर अविश्वास करने का कोई कारण नही है । निष्काम कर्म का इससे बढकर कोई उदाहरण नही हो सकता । जिस कर्म मे अपनी दैहिक आसक्ति और परिकर्म भी छूट जाते है, वहाँ कोई कामना रह ही कैसे सकती है ? वैसी अवस्था मे ही निष्कामता पुष्ट होती है ।"

"निष्काम कर्म का परिणाम अध्यात्म है । अध्यात्मवादी व्यक्ति ही इस दृष्टिकोण को विकसित कर सकते है । भौतिक वादी व्यक्ति तो अनेक प्रकार की कामनाओ से घिरा रहता है उसकी एक कामना पूरी होती है, चार दूसरी उभर आती है । अगर इन कामनाओ का सयम कर लिया जाय तो कई समस्याएँ स्वय समाहित हो सकती है । सामान्य जीवन मे काम, क्रोध, लोभ, मोह ये चार कषाय कर्मरूपी शत्रु के प्रेरक हेतु होते है । ये ही नरक के प्रत्यक्ष द्वार हैं । इनसे मुक्त होना ही अपने लिये मोक्ष के द्वार खुलवाना है ।"

निष्काम कर्म से कषाय मुक्ति सम्बन्धित विचार जो "गीता" पर आधारित है, वे भी प्रेरणादायक है —

"ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने का नाम कर्मयोग है । निष्काम कर्मो का अनुष्ठान करने से अन्त करण शुद्ध हो जाता है । अन्त करण शुद्ध होने से आत्मा का ज्ञान हो जाता है । [illegible] का ज्ञान होने से भोगो की आसक्ति निवृत्त हो जाती

कदाचन' तुम्हारा कर्म करने का अधिकार है, पर फलाकाक्षा का तुम्हे अधिकार नही है – कह कर भगवान श्री कृष्ण ने व्यक्ति को कर्म करने की खुली छूट दी है। उसका वैशिष्ठ्य यही है कि वह कर्म निष्काम हो। जैन दर्शन निष्काम भाव से किये जाने पर भी उपेक्षित (अवाछनीय) कर्म को नियन्त्रण करने का परामर्श देता है।

निर्जरा कर्मो की होती है – यह औपचारिक सत्य है। वस्तु – सत्य यह है कि वेदना की अनुभूति होती है निर्जरा नही होती। निर्जरा अकम की होती है। वेदना के बाद कर्म - परमाणुओ का कर्मत्व नष्ट हो जाता है फिर निर्जरा नही होती।

"सामा यत लोगो की एक धारणा है कि मनुष्य को अकर्मण्य नही होना चाहिये। कुछ न कुछ करते रहना चाहिये यही जिन्दगी है। यही जीवन है। जिस दिन कर्म छूट जायेगा, उस दिन जीने का उल्लास भी छूट जायेगा। किन्तु यह धारणा उन लोगो की हो सकती है, जिन्होने अन्तर्मुखी होने का अभ्यास नही किया। इस मान्यता का समर्थन वे ही व्यक्ति कर सकते है, जो ध्यान की भूमिका से गुजरे न हो। ध्यान साधना व्यक्ति को निष्कर्म रहने की प्रेरणा देती है। मन, वाणी और शरीर की स्थूल क्रियाओ का निरोध ध्यान का प्रथम बिन्दु है। इस स्थिति मे पहुँचने वाला ही मोक्ष को पा सकता है।"

"स्वय भगवान महावीर साढे बारह वर्ष तक अकर्म की साधना मे सलग्न रहे। उस अवधि मे उन्होने न किसी को उपदेश दिया, न कोई प्रवचन। उस समय वे किसी के साथ बात करना भी नही चाहते थे। बहुत बार न बोलने के कारण उन्हे कई प्रकार की यातना सहनी पडी। वे सब कुछ सहते रहे, उपेक्षित

एक शब्द भी नही बोलते थे । जब कभी वे बोलते तो आत्म शोधन की दृष्टि से ही बोलते थे । वे अधिकाश ध्यान मे रहते थे । ध्यान की अवस्था मे चाहे मच्छर काटे, चाहे बिच्छू या साँप, चाहे आग की लपटे उनके शरीर को झुलसादे, वे एक क्षण के लिये भी ध्यान मे विचलित नही हुए । साधारणतया ये बाते समझ मे आने जैसी नही है, फिर भी इन पर अविश्वास करने का कोई कारण नही है । निष्काम कर्म का इससे बढकर कोई उदाहरण नही हो सकता । जिस कर्म मे अपनी दैहिक आसक्ति और परिकर्म भी छूट जाते है, वहाँ कोई कामना रह ही कैसे सकती है ? वैसी अवस्था मे ही निष्कामता पुष्ट होती है ।"

"निष्काम कर्म का परिणाम अध्यात्म है । अध्यात्मवादी व्यक्ति ही इस दृष्टिकोण को विकसित कर सकते है । भौतिक वादी व्यक्ति तो अनेक प्रकार की कामनाओ से घिरा रहता है उसकी एक कामना पूरी होती है, चार दूसरी उभर आती है । अगर इन कामनाओ का सयम कर लिया जाय तो कई समस्याएँ स्वय समाहित हो सकती है । सामान्य जीवन मे काम, क्रोध, लोभ, मोह ये चार कषाय कर्मरूपी शत्रु के प्रेरक हेतु होते है । ये ही नरक के प्रत्यक्ष द्वार हैं । इनसे मुक्त होना ही अपने लिये मोक्ष के द्वार खुलवाना है ।"

निष्काम कर्म से कषाय मुक्ति सम्बन्धित विचार जो "गीता" पर आधारित है, वे भी प्रेरणादायक है —

"ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने का नाम कर्मयोग है । निष्काम कर्मो का अनुष्ठान करने से अन्त करण शुद्ध हो जाता है । अन्त करण शुद्ध होने से आत्मा का ज्ञान हो जाता है । आत्मा का ज्ञान होने से भोगो की आसक्ति निवृत्त हो जाती

है, भोगो की आसक्ति निवृत्त होने से वासनाओ की निवृत्ति हो जाती है, वासनाओ की निवृत्ति होने से अधिकारी का ससार निवृत्त हो जाना है। ससार निवृत्त हो जाने से अधिकारी एक ईश्वर की शरण लेता है, ईश्वर की शरण लेने से सब धर्म-अधर्म छूट जाते है क्योंकि समस्त धर्म देह के है, आत्मा का कोई धर्म नही है। सभी धर्माधर्मों के छूट जाने से जिस प्रकार आँख सर्वत्र रूप को देखती है, उसी प्रकार अधिकारी की बुद्धि की वृत्ति सर्वत्र ब्रह्म आत्मा को ही विषय करती है। ऐसा पुरुष जीता हुआ ही निरन्तर मुक्ति के सुख का अनुभव करता है, जीवन मुक्त हो जाता है और शरीर त्यागने के पीछे विदेह मुक्ति के सुख का अनुभव करता है।"

'निष्काम कर्म योग, जो भारतीय दर्शन का चरम उत्कर्ष माना गया है, निर्जरा का ही रूप है। गीता के अनुसार निष्काम कर्म योग तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त उपलब्धियाँ विरक्त सयासियो के जीवन मे ही नही, वरन श्री कृष्ण जैसे राजनयिक की महान सफलताओ मे भली भाँति परिलक्षित होती है। हमारे देशवासी उसे भुला कर स्वार्थ लिप्सा तथा भौतिक चकाचौंध की मरीचिका मे जब से भटक गये, तभी से हमारा राष्ट्रीय पतन प्रारम्भ हुआ। राष्ट्रीय पुर्ननिमाण के इस युग मे सास्कृतिक व अध्यात्मिक पुन निर्माण के कार्य को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होगी क्योकि बिना अध्यात्मिक आधार शिला के हमारा कोई भी निर्माण न सफल होगा और न स्थायी ही होगा।"

निजरा विपाकी भी होती है और अविपाकी भी। कोई फल डाली पर पक कर टूटता है और किसी फल को प्रयत्न करके पकाया जाता हैं। पकते दोनो हैं—किन्तु पकने की प्रक्रिया दोनो की

भिन्न है। जो सहज गति से पकता है उसका परिपक्व काल लम्बा होता है और जो प्रयत्न से पकता है उसका परिपक्वनकाल छोटा हो जाता है। कर्म का परिपाक भी ठीक इसी तरह होता है। निश्चित काल - मर्यादा से जो कर्म परिपाक को प्राप्त होता है उसकी निर्जरा को विपाकी निर्जरा कहते है। यह अहेतुक निर्जरा है। इसके लिये कोई नया प्रयत्न नही करना पडता। इसलिये इसका हेतु न धर्म होता है और न अधर्म। निश्चित काल मर्यादा से पहले शुभ योग के व्यापार से या तपस्या से कर्म का परिपाक होकर जो निर्जरा होती है, उसे अविपाकी निर्जरा कहा जाता है। यह सहेतुक निर्जरा है। इसका हेतु शुभ प्रयत्न या तपस्या आदि है।

निर्जरा के बारह भेद :—

स्वरूप की दृष्टि से निर्जरा एक ही प्रकार की है परन्तु तपस्याओ के भेद से निर्जरा भी बारह प्रकार की कही गई है। इसलिए निर्जरा व तप एक ही है। तैजस और कार्मण शरीर के उत्ताप के लिए तप का आलबन आवश्यक होता है। जैन साधना मे तप के द्वारा शरीर को कसने का विधान है। आज तप का अर्थ शारीरिक कष्ट बन गया है पर उसका उपयोग

सदर्भ :—१ आचार्य तुलसी, "निष्काम कर्म और अध्यात्मवाद"

२ स्वामी भोलेनाथजी महाराज, "निष्काम कर्म से कषाय मुक्ति"

३ श्री गणपतिराव देवजी तपासे, "निष्काम कर्मयोग निर्जरा" (कल्याण विशेषाक १९८१)

४ युवाचार्य महाप्रज्ञ, "जीव अजीव"

शरीर और मन को साधना के योग्य बनाने मे होना चाहिये। तप मे अगर मन का साथ नही मिलना है तो शरीर से किया हुआ तप काय – क्लेश मात्र ही रह जाता है। शरीर से मन की शक्ति विशेष होने से बाह्य तप से मानसिक (आभ्यतर) तप को अधिक महत्त्व दिया गया है। तप के द्वारा स्थूल व सूक्ष्म शरीर के परमाणु उत्तप्त होते है और अपनी मलिनता छोड कर निर्मल बनते है। बिना ताप के कोई वस्तु नही पिघलती। बर्फ के पिघलने के लिए भी कुछ न कुछ ताप आवश्यक होता है। इसी प्रकार जो मल शरीर से चिपका हुआ है उसे पिघाल कर दूर करने के लिए बाह्य व आभ्यन्तर तप ही एकमात्र साधन है। तपस्या करने से पूर्व-सचित कर्म-मल भी क्षीण होते हैं। जब कर्म-मल क्षीण होते है तब चचलता विछिन्न होती है। जब चचलता शान्त होती है तब सिद्धि प्राप्त होती है या मोक्ष मिलता है। इसलिए साधना की सफलता तपस्या से ही सम्भव है।

भगवान महावीर ने तप के बारह सूत्र बतलाये हैं। प्रथम छ बाह्य तप है और अन्तिम छ आंतरिक तप है।

१. अनशन (temporary or life long) —असन, पान, खाद्य व स्वाद्य ये चार आहार है। इनमे ने तीन या चार आहार का त्याग करना अनशन है। अनशन कम से कम एक दिन - रात का और ज्यादा से ज्यादा छ मास तक का होता है। सामान्यतया मनुष्य जरूरत से ज्यादा ही खाता है इसलिए उसे उपवास करना आवश्यक हो जाता है। उपवास के दौरान अन्न पाचन मे लगने वाली शारीरिक शक्ति बचा कर आत्म - चिन्तन मे लगाई जा सकती है। इसी कारण उपवास को आत्मा के

निकट वास करना माना गया है। आवश्यकता पडने पर आहार का सर्वथा पूर्ण त्याग आजीवन भी हो सकता है। जैसे वीर पुरुष बिना कष्टो की परवाह किये सग्राम के लिए निकल पडता है और मौत मे आँख मिचौनी खेलता हुआ समरागण की अग्रिम पक्ति मे जा कर खडा हो जाता है वैसे ही मुनि कर्म - कटक के साथ युद्ध करने के लिए अनशन जैसे महासमर मे उतर जाता है। उसी ओर सकेत कर रही है जयाचार्य की ये मार्मिक पक्तियाँ —

सूर चढे सग्राम में तिम मुनि अणसण माय ।
कर्म रिपु हणवा भणी शूरवीर अधिकाय ॥

अनशन से सम्बन्धित राष्ट्र सत विनोबा भावे की अन्तिम जीवन यात्रा का वर्णन बहुत महत्वपूर्ण है। '८७ वर्ष का जीवन व्यतीत कर विनोबा भावे दीपावली की सुबह अपने पार्थिव अस्तित्व से मुक्त हो गये। यह विनोबा की इच्छा मृत्यु थी, जिसके लिए उन्हें सदा याद किया जाएगा। प्राणो से बडा कोई मोह नही होता, लेकिन विनोबाजी ने अपने प्राण सकल्प शक्ति पूर्वक, सात दिन की साधना के बाद पूरी चेतना रहते हुए वीतराग की तरह त्याग दिये। जिस तरह अनेक जैन साधु साध्वी व श्रावक श्राविका सथारा किया करते हैं उसी तरह विनोबाजी की मृत्यु भी एक उच्च कोटि की मृत्यु मानी जाती है।"

२. ऊनोदरी (Reduction in the volume of diet) —(अवमोदर्य) "अल्पत्वमूनोदरिका" आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि को कम करना द्रव्य ऊनोदरी और कषाय, आदि को कम करना भाव ऊनोदरी है। जितनी मात्रा मे भोजन करने

की रुची है, उससे कम खाना, पेट को कुछ भूखा रखना ऊनोदरी है। इस सबध मे तेरापथ के आद्याचार्य सत भीखनजी ने लिखा है 'ऊनोदरी ए तप करवो दोहिलो, वैराग्य बिना होवे नही" ऊनोदरी करना कठिन तप है, उसके लिये वैराग्य विरक्ति चाहिये। भोजन के लिये बैठ कर अपने पेट को थोडा खाली रखना, पूर्ण से पहिले ही अपने को सकुचित कर लेना, सरल नही है। उपवास सरल हो जाता है किन्तु ऊनोदरी कठिन। स्वास्थ्य की दृष्टि से परिमित भोजन करना एक महत्व रखता है क्योकि आवश्यकता से अधिक भोजन करने से शरीर मे विकृति की दशा पैदा होती है। हमारा किया हुआ भोजन उतना ही पचता है जितना उसे पाचन रस मिलता है, शेष व्यर्थ जाता है। कई आदमी अनावश्यक वस्तुएँ बहुत खाते है। उसके पीछे देश-गत, परम्परागत, समाजगत कारण या भोजन के ज्ञान के अभाव का भी एक कारण हो सकता है। अनावश्यक भोजन करने से शरीर मे विकृति की दशा पैदा होती है और मल आँतो मे जम जाता है। उससे सारा नाडी मडल दूषित हो जाता है। शरीर, मन और साथ ही विचार भी दूषित हो जाते है। इस प्रकार अधिक भोजन किया हुआ आदमो स्वस्थ चितन नही कर पाता। चेतना पर अस्वस्थता का आवरण बढ जाता है। साधना मे बाधा आ जाती है। ऊनोदरी तप के फल यह है —

१ इन्द्रियो की स्वेच्छारिता मिट जाती है।

२ सयम का जागरण होता है।

३ दोषो का प्रशमन होता है।

४ सतोष की वृद्धि होती है।

५ स्वाध्याय की सिद्धि होती है।

३ भिक्षाचरी या वृति संक्षेप (restiiction in seeking alms i e food and drink etc) — मनुष्य स्वादवश जो जरुरत से अधिक खा लेता है उसके लिये खाने की वस्तुओ का सक्षेप करना आवश्यक है। इसके लिए अभिग्रह किया जाता है। जैसे व्यक्ति यह सोचता है कि अमुक पदार्थ मिले तो आहार करना वरना नही। अमुक व्यक्ति दे तो लेना वरना नही। आहार विषयक सकल्प यानि खाने के विविध प्रयोग करने होते है। भोजन करने से उर्जा उत्पन्न होती है परन्तु वह केवल शरीर यत्र का सचालन मात्र कर सकती है या शरीर की कोशिकाओ को सक्रिय बनाती है। भूखा रहने से भी उर्जा उत्पन्न होती है। तपस्या और सकल्प से जो उर्जा उत्पन्न होती है वह सूक्ष्म होती है और वह चेतना के क्षेत्र मे विस्फोट करने के लिये अपेक्षित है। यह आभ्यान्तरिक प्रयोग है। तपस्या के दौरान अगर पानी नही लिया जाए तो अधिक उर्जा उत्पन्न होती है।

४. रस परित्याग (renunciation of delicious dishes) —रस परित्याग यानि छ विगय का त्याग। छ विगय है —दूध, दही, घी, तेल, शहद-गुड-शक्कर आदि तथा मिष्ठान। जो चीजे तेल घी मे तली भुनी जाती है या दूध-दही-चीनी आदि के साथ मिलकर बनाई जाती है वे सब कडाही विगय मानी जाती है, फिर चाहे वे कडाही मे बनाई जॉय या तवे पर। यही आयम्बिल तप है। इससे जिव्हेन्द्रिय (रसनेन्द्रिय) पर सयम होता है। जिस व्यक्ति को जिव्हा का स्वाद लेना है, जो व्यक्ति अपने मन और मस्तिष्क को विकृत करना चाहता है, वही भोजन के प्रति लापरवाह बन सकता है। जिस व्यक्ति का यह ध्येय हो कि

मुझे अपने मस्तिष्क से बहुत काम लेना है, सुप्त शक्तियों को जागृत करना है और उनसे भी कोई न कोई काम लेना है और दुनिया मे कोई न कोई बडा काम कर दिखाना है, वह व्यक्ति भोजन के प्रति लापरवाह नही रह सकता। जिव्हा का स्वाद उसके लिए गौण वस्तु है। उसके लिए मुख्य बात है शरीर का पोषण कर उसे बनाये रखना, उसके लिए वह भोजन करता है न कि रसना के लिए। यह चार तप भोजन से सम्बन्धित तप हैं और स्थूल शरीर के माध्यम से होते हे और निर्जरा के हेतु हैं ।

५. काया क्लेश (Mortification of flesh) — योग सम्बन्धी आसन आदि का प्रयोग करना तथा शरीर के ममत्व का त्याग करना। सर्दी, गर्मी, वेदना को समभाव से सहन करना। शरीर को साध लिया जाय, कि हम इतने कष्ट-सहिष्णु बन जायँ, आसन व्यायाम आदि से इतनी शक्ति पैदा कर ले कि कैसी भी स्थिति सम्मुख आये तो भी शरीर उसे झेल सके। गर्मी को सहने से अधिक ऊर्जा उत्पन्न होती हैं। ऊर्जा को उत्पन्न करने, ऊपर ले जाने और उसका व्यय न करने का उपाय है शरीर की प्रवृत्ति कम करना और शरीर को अधिक समय तक स्थिर रखना। यह पाँचो सूत्र देहासक्ति से मुक्त होने के है।

६. प्रतिसंलीनता(Living and sleeping in unfrequented and isolated places) —इन्द्रियो को अन्तर्मुखी बनाना। जिस रास्ते से इन्द्रियाँ (श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शना) बाहर जाने का प्रयत्न करती है उस बन्द करना है। मार्गान्तरीकरण करना है। उन्हे भीतर की ओर अग्रसर करना है। मन जो बाहर भटकने का प्रयत्न करता है उसे भी अन्तर्मुखी

बनाना है। यह भीतर प्रवेश की क्रिया है। इसलिए साधक ऐसे स्थान मे रहे जहा का वातावरण और परिस्थिति साधना के लिए अनुकूल हो यानि उसका एकान्त मे रहना आवश्यक है।

प्रेक्षा ध्यान मे कहा जाता है कि शरीर को देखो। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के भीतर जो प्रकपन हो रहे है उन्हे देखना। इन्द्रियो की शरीर के भीतर की ओर न होकर बाहर की ओर देखने की जो हमारी आदत है उसे बदलना है। दूसरे शब्दो मे अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है बाह्य दृष्टि की नही। यह प्रेक्षा की क्रिया या देखने की क्रिया बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जो कर्म-बन्ध के द्वार हैं यानि आस्रव है वे ही सवर के द्वार हैं। दर्शन की प्रक्रिया से हम कर्मो के आगमन के द्वारो को बद करते है। यह बात भी सही है कि इन्द्रिय विषयो को पूर्णतया रोका नही जा सकता परन्तु अगर उनके प्रति हमारी प्रियता या अप्रियता का भाव नही जुडता तो कर्म-बन्धन काफी रुक जाता है। यह छह सूत्र बाह्य तप हैं। ये प्राय बाह्य शरीर को तपाने वाले है अत आत्म शुद्धि के बहिरग कारण है।

७. प्रायश्चित (expiation of sins or to bid good bye to unwholesome activities & resent to wholesome ones) —मन मे विचार आते ही रहते है। अनुचित कार्य से मलिन आत्मा को शुभ प्रवृत्ति के द्वारा विशुद्ध करना। ज्यो ही मन मे विचार आया तत्काल उसको साफ कर देना चाहिये। यदि ऐसा नही किया जाय, अपनी जागरूकता नही रखी, उस विचार को दूर न करके पल्ले बाध लिया तो कर्म रूपी मल की गाँठ बध जायगी। ज्यो ही विचार आया त्यो ही उसका प्रक्षालन कर देना चाहिये, उसे धो डालना चाहिये, तो

जो कर्म-परमाणु आए गे वे टूट जाए गे। इस तरह प्रायश्चित करते रहने से मन मे कर्म रूपी गाँठ नही बधती। जैन दर्शन में प्रतिक्रमण करना इसीलिए आवश्यक बतलाया गया है।

मनुष्य सावधान होकर अपने दैनिक कार्यो का निरीक्षण करे, जाने या अनजाने होने वाली भूलो की आलोचना कर वैसी भूले फिर से न हो इसके लिए सकल्प करे। आत्म - विकास की साधना के लिए ऐसा सकल्प उपयोगी होता है।

८ **विनय** (modesty or humility) —मानसिक, वाचिक व कायिक अभिमान का त्याग करना, यह विनम्रता है। साधक के मन मे अहभाव नही होना चाहिये। अहकार और ममकार की भावना साधक की उन्नति मे बाधक है। विनम्रता का गुण साधक मे अवश्य होना चाहिये।

> औरो की भूलों को भूलें, भूल स्वय की स्वीकारें।
> करें वृत्तियो का सशोधन, ढहें अह की दीवारें॥
> आत्मा से आत्मा को देखें, प्रतिदिन प्रेक्षाध्यान करें।
> रहे सदा अनजान स्वय से, अब अपनी पहचान करें॥

जैसे सतत ज्ञान प्राप्ति के अभ्यास को ज्ञानविनय कहा है, वैसे ही ज्ञानियो के प्रति आदर भी ज्ञान का विनय है।

९ **वैयावृत्य** (Service) —साधक के लिए सेवावृत्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। विवेकी साधक अपनी आवश्यकताए घटा कर दूसरो से कम से कम सेवा लेता है और दूसरो के लिए

' प्रेक्षा गीत लय प्रभाती साध्वी श्री यशोधरा

अधिक से अधिक उपयोगी बनता है। जीवन मे एक दूसरे की सेवा और सहयोग आवश्यक होते है। साधना करने वाले को सहयोग देते रहना एव सहधर्मी बन्धु के प्रति सेवा की भावना रखना वैयावृत्य अथवा सेवा है।

१०. **स्वाध्याय** (Study) —पढना, ज्ञान प्राप्त करना। हमे वही ज्ञान प्राप्त करना है जिससे स्वय की आत्मा जागृत हो। अनुभवियो के अनुभवयुक्त वचन या ग्रन्थो का स्वाध्याय अत्यन्त उपयोगी होता है। स्वाध्याय करते समय यदि यह दृष्टि रहे तो हम बहुत लाभान्वित हो सकते हैं। केवल बाहरी अल्प ज्ञान पर्याप्त नही। हमे कर्म – बन्धन से मुक्ति दिलाने वाला सद्ज्ञान प्राप्त करना है। साधना का प्रथम बिन्दु है पहले सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना और फिर उसका आचरण करना। यही साधना का पथ है।

११. **ध्यान** (meditation or concentration) — जीवन की दो महानतम् घटनाएं – जीवन और मृत्यु – मनुष्य के अकेलेपन के क्षणो मे होती है। ध्यान और काम ये दोनो अनुभूतियाँ भी हमारी निजी है। दोनो ही हमे 'अकेलेपन' का आनन्द देती हैं। मगर जहाँ 'काम' का आनन्द क्षणिक है, भगुर हैं, और उसका अकेलापन मृत्यु के समान है, वही 'ध्यान' का आनन्द चिर स्थाई है, जीवन्त है और उसका अकेलापन अमृतमय जीवन के समान है। मगर जिस तरह मृत्यु की अनिवार्यता ही हमे जीवन की अमरता की उपयोगिता बताती है, ठीक उसी तरह "काम" के आनन्द का अस्थायित्व ही हमे एक ऐसे माध्यम की खोज हेतु प्रेरित करता है जिसके द्वारा वो क्षणिक आनन्द

एक शाश्वत परमानन्द बन जाए। वो साधन और माध्यम है – ध्यान।

स्वस्थित चित्त की अवस्था काम द्वारा प्राप्त करना और वो भी क्षण भर के लिए – एक बहुत ही महगा माध्यम है, क्यो कि इस अवस्था की प्राप्ति की कीमत हमे अपनी उर्जा-शक्ति गवा कर देनी होती है। यही उर्जा, आत्मा को अनावृत कर उसे दिव्य प्रकाश से आलोकित करने हेतु रुपान्तरित की जा सकती है ध्यान द्वारा। अत काम द्वारा हमारी उर्जा का अधोगमन होता है जब कि ध्यान द्वारा होता है उसका उर्ध्वोगमन।

यहाँ यह जानना भी ठीक होगा कि पुराने शैव व जैन मन्दिरो मे आलिगन और मिथुन क्रीडाओ मे रत मूर्ति शिल्प का प्रचलन हुआ और समय समय पर अनुसधान लेख प्रकाशित हुए है।

*"राजस्थान मे उपेक्षित खजुराहो रामगढ" का शिव मन्दिर जिसे भण्ड देवरा कहते है जो कोटा से १३० कि मी दूर किशनगज तहसील मे स्थित रामगढ ग्राम से तीन किलोमीटर दूर प्राकृतिक पहाडो से घिरे तलहटी मे एक प्राचीन अद्भुत शिवालय है। दसवी शताब्दी मे इस अ चल मे शैव मत का बाहुल्य था और वाममार्ग शाखा का प्रभाव शासक से लेकर प्रजा तक था। इस समय मे आलिगन और मिथुन क्रीडाओ मे रत मूर्ति शिल्प का प्रचलन हुआ। यही वह समय था जब कि खजुराहो मे भी शिल्प निर्माण हुआ था। वाम मार्गी मिथुन क्रिया को भगवान

---

*रामस्वरुप जोशी, "राजस्थान का उपेक्षित खजुराहो भण्डदेवरा", "नवनीत" फरवरी ८३ पृष्ठ ५३

के साथ तादात्म्य का एक दैहिक साधन मानते थे। शिव भक्ति का मिलन जीवन की अनिवार्य इच्छा मानते थे। अध्यात्म प्राप्ति अर्थात् मोक्ष का मुख्य स्रोत काम क्रीडा है। उनका मानना था मोक्ष तभी सम्भव है जब भोग से तृप्ति हो।"

"इसी तरह राजस्थान के पाली जिले मे अरावली पर्वत की छोटी छोटी पहाडियो मे उदयपुर मार्ग पर स्थित विशाल आदिनाथ जैन मन्दिर जो शिल्प सौंदर्य का एक सुन्दर नमूना है, के तोरण द्वार पर "भण्ड देवरा" के समान मिथुन क्रीडाओ मे रत मूर्ति शिल्प मे चित्र अंकित किए हुए हैं। उसके पास ही एक छोटा मन्दिर और है उसकी फेरी मे भी इस तरह मिथुन व आलिगन क्रियाओ के मूर्ति शिल्प मे उनके चित्र अंकित किये हुए है। इन्हे आज भी देखा जा सकता है।"

भण्ड देवरा व राणकपुर का जो मूर्त इतिहास है वह भी एक सत्य है। उस समय यही मान्यता थी ऐसा सम्भव लगता है। जैन दर्शन मे इस कथन की कोई पुष्टि नही मिलती और न ही जैन दर्शन मे अब्रह्मचर्य के लिए कोई जगह है। जैन साधुओ मे पूर्ण ब्रह्मचारी होना अनिवार्य है और श्रावको मे स्वय की स्त्री के सिवाय अन्य सभी स्त्रियाँ माँ बहन के समान है। अब्रह्मचर्य के प्रति इतनी दृढ धारणा व श्रद्धा के होते हुए भी मन्दिरो मे इस तरह के चित्र होना आश्चर्यकारी है। इसमे कोई न कोई राज अवश्य है।

खजुराहो मन्दिर की बाहरी भित्ती भी शरीर और इन्द्रियो से जुडी समस्त क्रियाओ को दर्शाती है। मगर भीतर ही भीतर महज शिव की शान्त, आनन्दित मूर्ति अवस्थित है। सम्भवत इस शिल्प के माध्यम से यह तथ्य उजागर किया गया हो कि

मनुष्य को बाहरी रूप से दिखाई देने वाला सत्य जो कि शरीर से जुडा है (जिसे कि पश्चिम मे लोग पूर्ण सत्य मानते है) इसी बात को पूर्ण सत्य नही मान लेना चाहिये। हमारे भीतर शान्त, निराकार, निरन्तर एक और ध्रुव सत्य विराजमान है–आत्मा। शरीर की बाह्य भित्ती से इसका उद्घाटन मनुष्य के लिए महत्त्व पूर्ण होना चाहिये। खलील जिब्रान के शब्दो मे, "Ambition beyond existence should be the essential purpose of the life"

* "ध्यान अर्थात् समाधि एक अत्यत ही दुरूह शारीरिक क्रिया है। वर्षो के अभ्यास और नियन्त्रण के परिणामस्वरूप ही व्यक्ति अपने मस्तिष्क की शक्तियो को अत्यधिक जाग्रत कर अपनी शारीरिक क्रियाओ को शिथिल करने मे कामयाब होता है। यही योग, समाधि या अन्तर्ज्ञान मनन (transdental meditation) की सफलता भी है। सभी अध्यात्म गुरू एक ही उपदेश देते है, "अपने अन्तर मे झाको। तुम्हे अपने सार्थक होने का प्रमाण मिलेगा। स्वय को पहचानने का अवसर मिलेगा। अपनी आत्मा मे झाको और निज की खोज करो।"

ध्यान, मनन और समाधि की अवस्था मे व्यक्ति के मस्तिष्क और शरीर मे कई तरह की जैव – रसायनिक प्रक्रियाएँ सक्रिय होती है अथवा निष्क्रिय होती है। अन्तर्ज्ञति मनन के विषय मे महर्षि महेश योगी कहते है, "ध्यान को अन्तर्मुखी कर इसे विचार के सूक्ष्मतर स्तर तक उस समय तक उतारते चले जाना है, जब तक मन विचार के सूक्ष्मतम अमूर्त्त रूप से भी

---

* श्री रणवीरसिंह "ध्यान स्वास्थ्य लाभ के लिये" कादम्बनी दिसम्बर ८२, पृष्ठ १०८

परे की स्थिति तक नही पहुच जाता और विचार के स्रोत की खोज नही कर लेता। इस प्रकार चेतन मन की शक्तियो का विस्तार होता है। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य का सम्बन्ध सृजनात्मक बौद्धिकता की ओर अग्रसर होता है और अन्तिम रूप मे यह सृजनात्मक विचार का जनक होता है।"

यह कोई चमत्कार, अलौकिक शक्ति अथवा तन्त्र-मन्त्र नही, अपितु यह तो इन सब से दूर एक श्रमहीन शारीरिक और मानसिक क्रिया है, जो एक साधारण मानव भी करने मे सक्षम है। केवल घन्टे भर के दैनिक अभ्यास से मानव प्रसन्नचित्त और सृजनशील बना रह सकता है।

स्वामी रामकृष्ण परमहस ने कहा है, "ध्यान से रिक्त कोई धर्म नही है। शरीर मे जो महत्व मेरुदण्ड का है, धर्म मे वही स्थान ध्यान का है। कोई भी योग का अभ्यास करे ध्यान अनिवार्य है। ध्यान के बिना न नाद-श्रवण किया जा सकता है, न मन्त्र साधना, न बिन्दु साधना और न आत्म-साधना हो सकती है।

*काश्मीरी शैवागम के अनुसार ध्यान क्रान्ति की अनुपम विधि है।

अनाहते पात्रकर्णेऽभग्न शब्दे सरिद द्रुते।
शब्द ब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति ।।

नदी का जल जैसे निरन्तर बहता रहता है, उसी तरह शरीर के भीतर एक स्वर जिसे अनाहत नाद (अनहद घोष) कहते है दिन

---

*नवनीत, दिसम्बर १९८०, मे प्रकाशित लेख का अ श।

रात स्वभाविक रूप से बिना रुकावट से चलना रहता है ऐसा योगियो का मत है। बाहर जगत की कोई भी ध्वनि बिना दो चीजो के टकराव के पैदा नही हो सकती। मगर शरीर के भीतर सुनाई पडने वाली यह ध्वनि (नाद-भट्टारक) किसी टकराव से पैदा नही होती। परन्तु यह तो स्वभाविक स्वयम्भू ध्वनि है।

जो साधक अपने भीतर की दरगाह मे अविराम गु जायमान इस अनहद सगीत के साथ अपने को एक तान करने का अभ्यास कर लेता है, उसे अपने मन के सरोवर मे ही जब अपनी आत्मा के पूर्ण चन्द्रोदय की अनुभूति अनायास होने लगती है तब देह, प्राण, मन, चेतन हर समय ऊपर से झरती हुई चादनी मे आर्द्र रहने लगता है। यही है अमृतानुभव।

मुण्डकोपनिपद के अनुसार जब मनुष्य की प्रकृति ज्ञान के प्रसाद से विशुद्ध हो जाती है तब ध्यान के द्वारा वह उसको देख सकता है जो अविकल है और सम्पूर्ण हैं। उस सूक्ष्म आत्मा को उस परम चिन्तन के द्वारा जाना जा सकता है। पाँचो इन्द्रियो से सन्निविष्ट मानव का समूचा चिन्तन इन्द्रियो के साथ गु था हुआ है। जब वह विशुद्ध हो जाता है तब आत्मा अपने आप ही प्रकाशित हो उठती है। अग्नि पुराण मे लिखा है, "न हि ध्यानेन सदृश शोधन पाप कर्मणाम्" ध्यान के समान पापो की शुद्धि करने वाला अन्य कोई नही है। आचार्य श्री हेमचन्द्र लिखते है कि कर्म क्षय होने से मोक्ष मिलता है और मोक्ष का साधन सम्यग् ज्ञान है और सम्यग् ज्ञान ध्यान के द्वारा लभ्य है।

जैन सिद्धान्त दीपिका मे कहा है, "एकाग्रचिन्तन योग

निरोधो वा ध्यानम्" किसी एक ही विषय का चिन्तन, एक ही विषय पर स्थिरीकरण और योग - काय, वाणी तथा मन - के समस्त व्यापारो का निरोध ध्यान है। ध्यान का अर्थ है अपने आप मे लीन हो जाना। समग्र प्रवृत्तियो का सर्वथा निरोध ध्यान का उत्कृष्टतम रूप है। मनुष्य बहिर्मुखी रहना पसन्द करता है परन्तु ध्यान अन्तर्मुखी होना सिखाता है। स्वय मे सुख ढूढना ध्यान है। ध्यान के चार अग हैं —ध्याता, ध्यान, ध्येय और समाधि। मनोनुशासनम् मे लिखा है "स्वरूपमधिजिगमिषुर्ध्याता" जिस व्यक्ति मे स्वरूप-जिज्ञासा (मैं कौन हूँ) अपना मौलिक रूप जानने की भावना होती है, वही ध्याता – ध्यान का अधिकारी होना है। ससार की असारता का व पीडा का बोध विरक्ति लाता है और विरक्त व्यक्ति ही शक्ति की खोज मे निकलता है। जहाँ विरक्ति न हो और कोई विशेष घटना की अभिप्रेरणा न हो, वहाँ समान्यतया इस महान दुसाध्य 'ध्यान" के पथ पर अग्रसर होना कठिन है। जिसकी आत्मा स्थित होती है वह ध्याता ध्यान करने वाला होता है। मन को एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है, विशुद्ध आत्मा (परमात्मा)ध्येय और उसका फल है समाधि। जैन साधको का अनुभव यह है कि प्रारम्भ मे सालम्बन ध्यान करना चाहिये। सालम्बन ध्यान मे ध्येय और ध्याता का भेद होता है। अन्तिम अवस्था मे ध्यान और ध्याता का भेद नही होता वह निरालम्बन ध्यान होता है।

सालम्बन और निरालम्बन ध्यान के अलावा ध्यान प्रशस्त भी होता है और अप्रशस्त भी। शुभ भी होता है और अशुभ भी। अशुभ - अप्रशस्त ध्यान दो प्रकार के है —आर्त्त और रौद्र।

१ आर्त्त ध्यान —इसका अर्थ है पीडा या दु ख। उसमे होने वाली एकाग्रता को आर्त्त ध्यान कहते है। अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए निरन्तर चिन्ता करना, इष्ट या मनोनुकूल वस्तु के चले जाने पर उसकी पुन प्राप्ति के निमित्त निरन्तर चिन्ता करना, शारीरिक या मानसिक पीडा या रोग होने पर उसे दूर करने की निरन्तर चिन्ता करते रहना, भोगो की तीव्र लालसा के वशीभूत होकर अप्राप्य भोग्य वस्तु को प्राप्त करने मे मन को निरन्तर उसी मे लगाये रखना यह सब आर्त्त ध्यान हैं।

२ रौद्र ध्यान —रौद्र शब्द का अर्थ है क्रूरता। जिसका चित्त क्रूर होता है, जो प्रतिशोध का भाव रखता है,हिंसा की भाव धारा सतत बहती रहती है, दूसरो को गिराने व कुचलने मे जिसे रस रहता है, असत्य, चोरी, सग्रह, दूसरो को ठगने मे जो कुशल होता है, वह रौद्र ध्यान का अधिकारी है। स्वभाव की खोज मे उत्सुक साधक को इन दोनो असद् ध्यानो से सतत सावधान रहना चाहिये।

प्रशस्त या शुभ ध्यान भी दो प्रकार के है —धर्म और शुक्ल।

१ धर्म ध्यान- अपने घर मे लौट आना या चेतना का चेतना मे लौट आना धर्म ध्यान का परम पवित्र और सर्वोत्तम पद है। चित्त को अशुभ प्रवृत्ति से हटा कर शुभ प्रवृत्ति मे एकाग्र करना धर्म ध्यान है। अपने दोष क्या है, उनका स्वरूप क्या है, उनसे छुटकारा कैसे कर सकते हैं इन विषयो पर निरन्तर चिन्तन करते रहना धर्म ध्यान है। मैने इस जीवन मे आत्म - कल्याण का कौनसा कार्य किया या कौनसा काम ऐसा बाकी है जिसको मैं

कर सकता हूँ किन्तु नही कर रहा हूँ ? क्या मेरी स्खलना कोई दूसरा देखता है या मैं स्वय देखता हूँ और इनके प्रति मैं कितना जागरूक हूँ ऐसा चिन्तन करते रहना धर्म ध्यान है।

२ शुक्ल ध्यान —"अप्पा अप्पमि रओ" आत्मा मे रमण करना यह शुक्ल ध्यान है। ध्यान की प्रारम्भिक दशा मे मन की एकाग्रता होती है और अन्तिम अवस्था मे उसका निरोध होता है। केवल ज्ञान की प्राप्ति तक चिन्तनात्मक ध्यान रहता है। केवली के सिर्फ योग-निरोधात्मक ध्यान ही होता है। मुक्त होने से अन्तर्मुहूर्त पहले मनोयोग का, उसके बाद वचनयोग का, उसके बाद काय योग का और उसके बाद श्वासोच्छ्वास का निरोध हो जाता है। आत्मा की सब प्रवृत्तियाँ रुक जाती हैं। शुक्ल ध्यान की अवस्था मे आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाती है।

किसी साधक से पूछा, ध्यान का सार क्या है ? साधक ने उत्तर दिया, "विनम्रता"। "मैं-अह का मिट जाना" जिसके मानसिक, वाचिक और कायिक विकार शान्त हो चुके हैं और पर-पदार्थों से जो वितृष्ण हो चुका है, ऐसे परम साधक के लिए मोक्ष यही है।

ध्यान के लिये आसनो का भी अपना महत्त्व है। वे चित्त की एकाग्रता का सम्पादन करने मे सहयोगी हैं। आसनो मे ध्यान योग्य आसन पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन आदि सामान्यतया प्रचलित रहे हैं। परन्तु पद्मासन पर किया ध्यान ही श्रेष्ठ है। दूसरे आसन पर ध्यान ध्यान ही होता है पर श्रेष्ठ ध्यान पद्मासन पर ही है। थकावट हो जाय तो धीरे से आसन बदल लें। शरीर चचल न हो जाय इस बात का ध्यान रखना चाहिये।

ध्यान करने की एक विधि "प्रेक्षा ध्यान" के अन्तर्गत दी जा रही है।

प्रेक्षा ध्यान (Process of ascertaining and knowing the TRUTH) -प्रेक्षा का सामान्य अर्थ है देखने का कार्य। यहाँ प्रेक्षा का अर्थ है बाह्य वस्तुएँ, अ ग, प्रत्यग और उससे भी परे आत्म—अवलोकन करना। हालाकि प्रेक्षा-ध्यान का एकमात्र और अन्तिम लक्ष्य है आत्मा का उसके परम ज्योति के साथ अवलोकन, मगर उसका एक सशक्त बाई–प्रोडक्ट (Bye-product) भी है और वह है भाव नियन्त्रण से उन रसायनो का नियत्रण जो हमारी ग्लेडस (glands) से स्रवित (secrete) होते है। इन रसायनो की मात्रा का नियत्रण हमारे पक्ष मे किया जा सकता है, अगर प्रेक्षाध्यान की क्रिया के दौरान शरीर के भीतर का विश्लेषण सम्यक् भाव उत्पन्न करके किया जा सके।

रसायन उत्पन्न करने वाली गिल्टियो (glands) मे जो हारमोन्स (harmones) बनते हैं वे एक जैसे नही होते, भाव के अनुसार होते है। जैसे हमारे आन्तरिक भाव होते है, वैसे ही रसायन उत्पन्न होते है और ये रसायन हमारे आचार, विचार और व्यवहार को प्रभावित करते है। वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार नाडी रचना (nervous system) मे जो मुख्य मुख्य गिल्टियाँ है वे आदमी के आचार, विचार और व्यवहार को नियन्त्रण करते हैं।

दशवैकालिक सूत्र मे कहा गया है–"सपिक्खए, अप्पगमप्प-एण" आत्मा के द्वारा आत्मा की सप्रेक्षा करो, मन के द्वारा

सूक्ष्म मन को व स्थूल चेतना के द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखो। आप मौन होकर, तनाव रहित होकर, स्थिर होकर, अनिमेप चक्षु मे किसी वस्तु को देखें, विचार समाप्त हो जाए गे, विकल्प शून्य हो जायेंगे। आप स्थिर होकर अपने विचारो को देखे या शरीर के प्रकम्पनो को देखें तो आप पाए गे कि विचार स्थगित और विकल्प शून्य है। भीतर की गहराइयो को देखते देखते सूक्ष्म शरीर को देखने लगेंगे। जो भीतरी सत्य को देख लेता है, उसमे बाहरी सत्य को देखने की क्षमता अपने आप आ जाती हे।

सब से पहले प्रेक्षक मौन होकर शरीर को स्थिर व तनाव रहित रख कर सहज श्वास को देखता है। इस तरह ध्यान का अभ्यास करते करते प्रेक्षक श्वास की गति को बदलता है। श्वसन का काल दीर्घ, मन्द और सूक्ष्म हो इसकी जानकारी साधक का प्रथम प्रयास होता है। इस तरह श्वास की सख्या घटती है, लम्बाई बढती है। सामान्यतया व्यक्ति एक मिनट मे १७-१८ श्वास लेता है वह घट कर एक दो प्रति मिनट तक आ सकती हे। मन शान्त होता हैं। साथ-साथ व्यक्ति के आवेश, कषाय, उत्तेजनाएँ व वासनाएँ भी शात होती जाती हैं। प्रेक्षक के शरीर और मन की दशा भी बदल जाती है, उसका स्वभाव बदल जाता है। क्रिया की प्रतिक्रिया करने की हरकत से प्रेक्षक अपने को बचाने का प्रयास करता है। वह अधिक से अधिक जागरूक रहता है। सत्य के प्रति क्रिया हो, प्रतिक्रिया न हो। जब प्रेक्षक कोई भी क्रिया करता है तो वह अपनी स्वतत्र आवश्यकता के लिये ही करता है। जैसे जैसे व्यक्ति की साधना का अभ्यास बढता जाता है वैसे वैसे व्यक्ति की आदते बदलती हैं। उसकी प्रकृति बदलती है। यदि प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास निरन्तर चलता रहे तो स्वभाव मे परिवर्तन अवश्य होगा और मानवीय

सबधो के स्तर मे भी अन्तर आएगा। शरीर के भीतर एक ज्योति प्रस्फुटित होगी ऐसा अनुभव होगा।

मानवीय जीवन सम्बन्धी सब से बडी समस्या है विषमता। अगर परिवार के सदस्यो मे विषमता होती है तो परिवार का व्यक्ति सुखी नही रह सकता। अगर समाज के लोगो मे विपमता हो तो समाज का व्यक्ति सुखी नही रह सकता। ध्यान के द्वारा साधक चैतन्य के केन्द्रो को देखता है, शरीर के कण-कण मे चैतन्य का अनुभव करता है और वह इस तरह समता की स्थिति मे प्रवेश पा जाता है। जब किसी भी व्यक्ति के जीवन मे विषमता के स्थान पर समता आ जाती है तो उसका आचरण वदल चाता है, आपसी व्यवहार के प्रकार बदल जाते है। समता व्यक्ति का श्रेष्ठ आचरण है। जिस व्यक्ति के आचरण मे समता है और व्यवहार मे मृदुता आ जाती है उसके सारे आपसी सम्बन्ध सुधर जाते है, विषमता मिट जाती है। भगवान महावीर ने कहा है "जीवन को सरस बनाने के लिए समतामय बनना आवश्यक है"। प्रेक्षा – ध्यान स्व के चिन्तन को परिष्कृत कर अपने जीवन को समतामय बना सकता है। समता केवल शब्दो के परिवर्तन से ही नही आएगी, उसके लिए जीवन मे परिवर्तन लाना होगा।

एक दिन एक राजा ने अपने मन्त्री से कहा, "हमारे राज्य मे गरीब व अमीर का भेद न रहे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। मन्त्री चिंतन करता रहा और आखिर उसे एक समाधान मिल गया। राज्य मे घोषणा करवाई गई कि अभी तक अमीर श्रीखड खाते रहे है और गरीब छाछ पीते रहे हैं। हमे गरीवो की गरीवी व अमीरो की अमीरी को समाप्त करना है। अत

आज से सभी लोग छाछ को श्रीखड और श्रीखड को छाछ कहेंगे।" यह समस्या का समाधान नही हुआ बल्कि समस्या दोहरी हो गई। समतावादी बनने के लिए व्यक्ति को समत्व की साधना करनी होगी। साधक के लिए प्रेक्षा-ध्यान की उप-सपदा के पाँच सूत्र बताये है —

मित भोजन मित भाषिता मैत्री का आधार।
प्रतिक्रिया से शून्य हो, क्रिया स्वय निर्भार॥
सदा साधना में रहे, भाव क्रिया उदार।
पाँचों ही ये सूत्र हैं, सच्चे पहरेदार॥

मिताहार, मित भाषण, मैत्री, प्रतिक्रिया शून्य और उदार भाव क्रिया ये साधना करने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

साधना के मुख्य उद्देश्य दो है, पहला कषायो से मुक्त होकर शान्ति पाना और चेतना की निर्मलता प्राप्त करना। दूसरा है चमत्कार की सिद्धि। ये दो महान सिद्धियाँ है। चमत्कार प्रदर्शित करने वाले अनुग्रह व निग्रह करमे मे समर्थ होते है। ऐसे व्यक्ति इतने सवेदनशील बन जाते है कि किसी पर थोडे से नाराज होने पर वे शाप दे देते हैं और थोडा सा प्रसन्न होने पर वरदान भी दे देते है। जिस व्यक्ति को चमत्कार से प्रशसा पानी है उसके लिए यह सिद्धि ठीक हो सकती है परन्तु साधना का लक्ष्य यही तक सीमित नही है उसे और आगे बढना है। उसका है स्वय को बदलना, कषायो को न्युन करना और आत्मा के शुद्ध स्वरुप को स्वय के लिए उपलब्ध करना। इसलिए ऐसी साधना करने वाले व्यक्ति का लक्ष्य भी इसके अनुरुप ही होगा और उसका मार्ग भी वही होगा। उचित लक्ष्य को सामने रख कर जो व्यक्ति साधना करता है उसका फल भी साधना के अनुरूप ही

सवधो के स्तर मे भी अन्तर आएगा। शरीर के भीतर एक ज्योति प्रस्फुटित होगी ऐसा अनुभव होगा।

मानवीय जीवन सम्बन्धी सब से बडी समस्या है विषमता। अगर परिवार के सदस्यो मे विषमता होती है तो परिवार का व्यक्ति सुखी नही रह सकता। अगर समाज के लोगो मे विषमता हो तो समाज का व्यक्ति सुखी नही रह सकता। ध्यान के द्वारा साधक चैतन्य के केन्द्रो को देखता है, शरीर के कण-कण मे चैतन्य का अनुभव करता है और वह इस तरह समता की स्थिति मे प्रवेश पा जाता है। जब किसी भी व्यक्ति के जीवन मे विषमता के स्थान पर समता आ जाती है तो उसका आचरण वदल चाता है, आपसी व्यवहार के प्रकार बदल जाते है। समता व्यक्ति का श्रेष्ठ आचरण है। जिस व्यक्ति के आचरण मे समता है और व्यवहार मे मृदुता आ जाती है उसके सारे आपसी सम्बन्ध सुधर जाते है, विषमता मिट जाती है। भगवान महावीर ने कहा है "जीवन को सरस बनाने के लिए समतामय वनना आवश्यक है"। प्रेक्षा – ध्यान स्व के चिन्तन को परिष्कृत कर अपने जीवन को समतामय बना सकता है। समता केवल शब्दो के परिवर्तन से ही नही आएगी, उसके लिए जीवन मे परिवर्तन लाना होगा।

एक दिन एक राजा ने अपने मन्त्री से कहा, "हमारे राज्य मे गरीब व अमीर का भेद न रहे ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। मन्त्री चितन करता रहा और आखिर उसे एक समाधान मिल गया। राज्य मे घोषणा करवाई गई कि अभी तक अमीर श्रीखड खाते रहे है और गरीब छाछ पीते रहे है। हमे गरीबो की गरीबी व अमीरो की अमीरी को समाप्त करना है। अत

आज से सभी लोग छाछ को श्रीखड और श्रीखड को छाछ कहेंगे।"
यह समस्या का समाधान नही हुआ वल्कि समस्या दोहरी हो गई। समतावादी बनने के लिए व्यक्ति को समत्व की साधना करनी होगी। साधक के लिए प्रेक्षा-ध्यान की उप-सपदा के पाँच सूत्र बनाये है —

मित भोजन मित भाषिता मैत्री का आधार।
प्रतिक्रिया से शून्य हो, क्रिया स्वय निर्भार॥
सदा साधना मे रहे, भाव क्रिया उदार।
पाँचो ही ये सूत्र हैं, सच्चे पहरेदार॥

मिताहार, मित भाषण, मैत्री, प्रतिक्रिया शून्य और उदार भाव क्रिया ये साधना करने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

साधना के मुख्य उद्देश्य दो है, पहला कषायो से मुक्त होकर शान्ति पाना और चेतना की निर्मलता प्राप्त करना। दूसरा है चमत्कार की सिद्धि। ये दो महान सिद्धियाँ है। चमत्कार प्रदर्शित करने वाले अनुग्रह व निग्रह करमे मे समर्थ होते हैं। ऐसे व्यक्ति इतने सवेदनशील बन जाते है कि किसी पर थोडे से नाराज होने पर वे शाप दे देते हैं और थोडा सा प्रसन्न होने पर वरदान भी दे देते हैं। जिस व्यक्ति को चमत्कार से प्रशसा पानी है उसके लिए यह सिद्धि ठीक हो सकती हैं परन्तु साधना का लक्ष्य यही तक सीमित नही है उसे और आगे बढना है। उसका है स्वय को बदलना, कषायो को न्यून करना और आत्मा के शुद्ध स्वरुप को स्वय के लिए उपलब्ध करना। इसलिए ऐसी साधना करने वाले व्यक्ति का लक्ष्य भी इसके अनुरुप ही होगा और उसका मार्ग भी वही होगा। उचित लक्ष्य को सामने रख कर जो व्यक्ति साधना करता है उसका फल भी साधना के अनुरूप ही

मिलता है। ऐसी साधना के फलस्वरूप जो निष्पतियाँ मिलनी चाहिये वे इस प्रकार की होनी चाहिये —

१ सक्रियता और निष्क्रियता का सतुलन व शारीरिक सतुलन।
२ लक्ष्य के प्रति मन की जागरूकता, कर्म और चिन्तन का सामजस्य।
३ सकल्प शक्ति का विकास, दृढ निश्चय की क्षमता का विकास।
४ सत्य की अनुभूति या साक्षात्कार, मन के मैलो की सफाई।
५ द्रष्टाभाव का विकास।
६ घटना के प्रति सम या तटस्थ रहने की क्षमता या प्रतिक्रिया मुक्त चेतना का विकास।
७ मानसिक सतुलन।
८ आचार मे समता और व्यवहार मे मृदुता का विकास।
९ वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अन्तर्विरोधो का समन्वय।
१० अति-मानसिक चेतना का जागरण।
११ व्यसन-मुक्ति।
१२ तनाव-जनित रोगो का निवारण।
१३ शरीर और मन से स्वस्थ व्यक्तित्व का विकास।

मन विकल्प शून्य होने से एकाग्रता सधती है। एकाग्रता का अर्थ है—चेतना का एक दिशा मे प्रवाहित होना। उससे ज्ञान ततु और मास पेशियाँ प्रशिक्षित होती है। प्रेक्षा ध्यान मानसिक प्रशिक्षण और मानसिक चेतना के जागरण की एक सहज और

सरल प्रक्रिया है। वह विचारो के सिलसिले को रोकती है। प्रेक्षा-ध्यान का सही प्रशिक्षण तो ऐसे शिविरो मे भाग लेने से ही प्राप्त होता है।

विपश्यना :—ध्यान साधना की एक और पद्धति है वह है "विपश्यना" जो बौद्ध पद्धति मे प्रचलित है। प्रेक्षा ध्यान की तरह "विपश्यना" साधना का उद्देश्य भी दुख से पूर्ण व सदा के लिये मुक्ति पाना जो राग, द्वेष, मोह आदि विकारो का सर्वथा अन्त कर वीतराग बनने पर ही सभव है। अत पूर्ण निर्विकार होना ही "विपश्यना" साधना का लक्ष्य है।

इस पद्धति मे शिविर काल मे भजन, कीर्तन, माला, मन्त्र, नाम, जप, धूप, दीप, रूप-स्मरण, प्राणायाम, पढाई – लिखाई आदि से चित्त को एकाग्र करने के साधनो का या आलम्बनो का कोई स्थान नही है। इसका कारण यह है कि इन आलम्बनो से चित्त को एकाग्र होने मे सहायता तो मिलती है परन्तु चित्त की एकाग्रता इन आलम्बनो पर निर्भर हो जाती है। और चित्त इन बाहरी आलम्बनो मे ही रमण करने लगता है। फलत चित्त को भविष्य मे इन आलम्बनो को छोड सूक्ष्म बनाने अर्थात् अन्त-र्द्रष्टा आत्म-दर्शन करने वाला बनने मे बाधा उत्पन्न होती है।

स्वय का अनुभव करना ही विपश्यना है, आत्मानुभूति की प्रक्रिया ही विपश्यना है। विपश्यना का अर्थ है—सम्यक् दर्शन। परन्तु यहाँ देखने से अभिप्राय है चर्म - चक्षुओ से नही देखना है प्रत्यक्ष यथार्थ का अनुभव करना है। अर्थात् जो वस्तु या स्थिति जैसी है उसे वैसा ही देखना, राग, द्वेष, मोह की दृष्टि से नही देखना है। पदार्थो का वास्तविक स्वरूप अति सूक्ष्म है अत

देखने के लिए दृष्टि भी अति सूक्ष्म चाहिये। हमारी दृष्टि अभी बहुत स्थूल को ही देखने मे समर्थ है। सूक्ष्म को देखने की शक्ति इसमे नही है। अभी चैतन्य व परमाणु को देखने की बात तो दूर रही, हम अपने चित्त व शरीर के भीतरी भाग, सूक्ष्म शरीर व अचेतन मन की स्थिति को ही नही देख पाते, अनुभव भी नही कर पाते है। "विपश्यना" मे स्थूल से सूक्ष्मत तक पहुँचने की प्रक्रिया है। 'विपश्यना" मे देखने या अनुभव करने की क्रिया स्थूल शरीर से प्रारम्भ होती है और सूक्ष्म शरीर, चेतन मन, अचेतन मन, मन की ग्रन्थियो, कामनाओ, वासनाओ, कर्म के उदय, फल देने की प्रक्रिया, वस्तु के परमार्थ स्वरुप व शुद्ध चेतन के देखने व अनुभव करने तक पहुँचती है। इसमे चित्त की एकाग्रता, सतत जागरुकता, प्रगाढ समभाव नैरन्तर्य बना रहता है।

ध्यान साधना मे सर्व प्रथम "आनापान सति" का अभ्यास प्रारम्भ होता है। इसका मुख्य लाभ चित्त को एकाग्र व नियन्त्रित करना है। इससे चित्त की एकाग्रता, सक्षमता, सजगता का अभ्यास हो जाने के पश्चात् 'विपश्यना' का प्रारम्भ होता है। 'विपश्यना' द्रष्टा भाव का अभ्यास है। द्रष्टा भाव से चित्त शान्त हो जाता है। चित्त की शान्ति और स्थिरता के बढने से शरीर के भीतर होने वाली सवेदनाओ का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार मन का भीतरी भाग अचेतन मन जागृत हो जाता है और आन्तरिक घटनाओ का प्रत्यक्षीकरण होने लगता है। ये सवेदनाएँ - घटनाएँ कही सुखद लगती है कही दुखद। परन्तु साधक के लिए आवश्यक है कि वह उन सवेदनाओ को न अच्छा माने, न बुरा माने। वह उनसे न राग करे, न द्वेष करे। केवल सभाव से, तटस्थ भाव से निर्लिपता

से उनका अनुभव करे। इससे शरीर और मन के भीतरी तल पर स्थित सूक्ष्म ग्रन्थियाँ खुलती है तथा समभाव के कारण नवीन ग्रन्थियो का निर्माण भी रुक जाता है। ग्रन्थियो के खुलने से शरीर और मन मे विद्यमान विकार दूर हो जाते है। इस प्रकार साधक शरीर और मन से स्वस्थ होता है। इस तरह 'विपश्यना' स्वय के जीवन मे प्रत्यक्ष अनुभव व नैसर्गिक नियमो पर आधारित है।

१२ व्युतसर्ग (Renunciati n of the body and its ego - eccentricity —बाह्य और आभ्यतर दो प्रकार के व्युतसर्ग हैं। घर, खेत, सम्पत्ति, परिवार आदि की आसक्ति का त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है और राग, द्वेष, कषाय आदि आन्तरिक दुर्गुणो का त्याग आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग का अर्थ विसर्जन हैं। यह साधना की अन्तिम निष्पत्ति है। जो कुछ भी बचा हुआ होता है वह यहाँ सब समाप्त हो जाता है। अहकार और ममत्व जो मजिल के मध्य विघ्न है साधक उनसे पार हो जाता है, तब शेष जो है वही रहता है। सारे कषाय छूट जाते हैं। यह अयोग को साधना है। सब प्रकार के सम्बन्धो को अलग कर देना है। इस प्रक्रिया मे शरीर का व्युत्सर्ग होता है और कर्मो का भी। व्युत्सर्ग मे तत्काल शरीर को निष्क्रिय व शिथिल कर लिया जाता है। पतजलि की साधना मे यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि यह साधना क्रम बताया गया है वैसा ही जैन साधना मे भी है। आसन शरीर को अप्रमत्त, प्राणायाम चित्त को स्थिर, प्रत्याखान फैली हुई वृत्तियो को एकाग्र और धारणा सकल्प को धारण करने की शक्ति देती

है। इतनी तैयारी हो जाने पर साधक चित्त को स्थिर, दृढ एकाग्र और निर्मल बनाता है जिससे समाधि प्राप्त होती है।

उपर्युक्त तप के बारह सूत्र मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रियाएँ है और यही मुक्त होने का क्षण है। प्रथम छ प्रकार के तप दृश्य शरीर के माध्यम से अदृश्य शरीर (कार्मण शरीर) को प्रकपित करते है इसलिए ये बाह्य तप कहलाते है। अन्तिम छ प्रकार के तप मन के माध्यम से कार्मण शरीर को प्रकपित करते है इसलिए इन्हे आतरिक तप कहा है। इसको अतरग योग भी कहा जाता है।

मोक्षेण योजनाद योग, समाधिर्योग इच्यते।
सतपो विद्यते द्वेधा, बाहयेनाभ्यन्तरेण च॥

जो आत्मा को मोक्ष से जोडे, वह योग कहलाता है। आत्मा और मोक्ष का सम्बन्ध समाधि से होता है इसलिये समाधि को योग कहा जाता है। योग तप है।

यह जानना आवश्यक है कि स्थूल शरीर के माध्यम से होने वाले कर्म-शरीर के प्रकम्पनो की अपेक्षा मन के माध्यम से होने वाले प्रकम्पन अधिक शक्तिशाली होते है। उनकी चोट भीतरी होती है और साथ ही गहरी भी होती है। परिणाम स्वरूप उनके द्वारा कर्म-शरीर के परमाणुओ का अधिक मात्रा मे विकीर्ण होता है।

आत्मा सब मे व्याप्त है, किन्तु उसके अस्तित्व का अनुभव सब को नही है। जिसमे अनुभव है, आत्मा का जन्म वही है। जो उसे प्रकट करने मे उद्यत होता है वही साधक होता है। फिर वह चाहे श्रमण, मुनि, भिक्षु हो या गृहस्थ। आत्मा का सम्बन्ध

बाहर के जगत से नही अन्तर्जगत मे है। उसके साक्षात्कार के लिए प्रबल अभीप्सा चाहिये। भगवान महावीर का यही घोप है कि आत्मवान बनो। अपने भीतर है उसे खोजो। जिसने आत्मा को साधा है उसने सब कुछ पा लिया है। भगवान बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से कहा, "आनन्द तू धन्य है जो साधना मे लग गया"।

सदर्भ —१ युवाचार्य महाप्रज्ञ, "समस्या और समाधान" आदर्श साहित्य सघ चुरु द्वारा प्रकाशित विज्ञप्ति न० ६३४, "मन के जीते जीत," "सम्बोधि"।

२ आचार्य श्री तुलसी, "जैन सिद्धान्त दीपिका" व "मनोनु-शासन"।

३ कन्हैयालाल लोढा, "विपश्यना" राजस्थान पत्रिका दिनाक 31-2-81

४ सम्पतमल भडारी, "Srimaj Jayacharya" Page 41

भावना (Reflection)

अनित्यो नाम ससारस्त्राणाय कोऽपि नोमम ।
भवे भ्रमति जीवोऽसौ, एकोऽहृ देहत पर ॥
अपवित्रमिद गात्र, कर्माकर्षणयोग्यता ।
निरोध कर्मणा शक्यो, विच्छेदस्तपसा भवेत ॥
धर्मोहि मुक्तिमार्गोऽस्ति, सुक्तालोकपद्धति ।
दुर्लभा वर्तते बोधिरेता द्वादश भावना ॥

१ "ससार अनित्य है" ऐसा चिन्तन करना "अनित्य", भावना है । All things are transitory in the world This is called "Anitya" Bhavna

२ 'मेरे लिए कोई शरण नही है' ऐसा चिन्तन करना 'अशरण" भावना है । None can help the Jiva in his trouble This is called "Asharan" Bhavna

३, "यह जीव ससार मे भ्रमण करता है" ऐसा चिन्तन करना "भव या ससार भावना है । Endless is the cycle of transmigration This is called "Bhav Bhavna"

४ "मैं एक हूँ" ऐसा चिन्तन करना "एकत्त्व" भावना है। Alone does the jiva come into the world and alone does be leave This is called "Ekatva Bhavna"

५ "मैं देह से भिन्न हू" ऐसा चिन्तन करना "अन्यत्व" भावना है । 'Soul is distinct from the body "This is called "Anyatva" Bhavna

६ "शरीर अपवित्र है" ऐसा चिन्तन करना "अशोच'

भावना है। "This body is full of foul matter This is called 'Ashuchi" Bhavna

७ "आत्मा मे कर्मों का आकृष्ट करने की योग्यता है" ऐसा चिन्तन करना 'आस्र व" भावना है। Asrava is the cause of the influx of Karmas" This is called ' Asrava" Bhavna

८ 'कर्मों का निरोध किया जा सकता है" ऐसा चिन्तन करना 'सवर" भावना है। "Sanvar" Bhavna checks the attachment of Karmas with the soul

९ 'तप के द्वारा कर्मों का क्षय किया जा सकता है" ऐसा चिन्तन करना "निर्जरा" भावना है। The Karmas can be detached through Tapasya This is called "Nirjara" Bhavna

१० 'धर्म मुक्ति का मार्ग है" ऐसा चिन्तन करना 'धर्म" भावना है। 'Religion is the way to salvation" This is called "Dharm" Bhavna

११ 'लोक पुरुषाकृतिवाला है" ऐसा चिन्तन करना "लोक" भावना है। The concept of universe is alike the structure of a man This is called "Lok" Bhavna

१२ "बोधि दुर्लभ है" ऐसा चिन्तन करना "बोधि दुर्लभ" भावना है। "Transcendence" is rare This is called "Bodhi Durlabh" Bhavna

सुहृद सर्व जीवा मे, प्रमोदो गुणिषु स्फुरेत् ।
करुणा कर्ष खिन्नेषु मध्यस्थ्य दोष कारिषु ॥

१३ "सब जीव मेरे मित्र हैं" ऐसा चिन्तन करना ' मैत्री" भावना है। Every soul on earth is my friend" This is called "Friendship" Bhavna

१४ "गुणी व्यक्तियो से मेरा अनुराग है" ऐसा चिन्तन करना "प्रमोद" भावना है। I have inclination towards virtuous personalities This is called ' Pramod" Bhavna

१५ ' कर्मो मे आर्त्त बने हुए जीव दुख से मुक्त बने" ऐसा चिन्तन करना 'करुणा" भावना है। Every soul on earth bound with Karmas may set free from misery & pain is called "Karuna" Bhavna

१६ कुचेष्टा करने वाले व्यक्ति के प्रति उपेक्षा रखना यह "मिध्यस्थ" भावना है। Ignorence towards men of wrong attempts is called "Madhyastha Bhavna"

इन भावनाओ से सस्कार स्थिर बनते है, चित्त प्रसन्न होता है और सम्भाव की वृद्धि होती है। मोह युक्त भावनाओ से भावित मन मूढ बनता है और मोह-रहित भावनाओ से भावित होकर वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

आत्मा (आत्मस्वरूप) की उपलब्धि के लिए भावना आलम्बन है, इसलिए मन को सदा भावनाओ से भावित करना चाहिये। भावना का एक अर्थ है—वासना या सस्कार। मनुष्य का जीवन अनन्त जन्मो की वासना का परिणाम है। व्यक्ति जैसी भावना रखता है वैसा ही बन जाता है। मनुष्य जो कुछ कर रहा है वह सब भावना का पुनरावर्तन है। साधना का अर्थ

है–एक नया सकल्प या सत्य की दिशा मे अभिनव भावना का अभ्यास जिससे आत्म-विमुख भावना के भवन को तोड कर आत्माभिमुखी भावना द्वारा नये भवन का निर्माण हो। भावना का दूसरा अर्थ है जिस ध्येय से व्यक्ति अपने को सस्कारी बना रहा है उसके द्वारा स्वय का प्रत्यक्ष अनुभव करना। साधक भावना के साथ-साथ सच्चाई के दर्शन से पराङ्मुख न हो। वह ध्यान के अभ्यास के साथ साथ भावना का अनुशीलन करता रहे। उससे एक शक्ति मिलती है, धीरे धीरे मन तदनुरूप परिणत होता है। मिथ्या धारणाओ से मुक्त होकर सत्य की दिशा मे अनुगमन होता है और एक दिन स्वय को तथानुरूप प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। भावना और ध्यान के सहयोग से मजिल सुसाध्य हो जाती है। सभी धर्मों ने भावना का अवलम्बन किया है।

युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ ने भावना के अभ्यास की एक सहज सरल विधि बताई है —"भावना का अभ्यास निम्न निर्दिष्ट प्रक्रिया से करना इष्ट सिद्धि मे अधिक सहायक हो सकता है। साधक पद्मासन आदि किसी सुविधाजनक आसन मे बैठ जाए। पहले श्वास को शिथिल करे। फिर मन को शिथिल करे। पाँच मिनट तक उन्हे शिथिल करने के लिए सूचना देता जाए। वे जब शिथिल हो जाए तब उपशम आदि पर मन को एकाग्र करे। इस प्रकार निरन्तर आधा घटा तक अभ्यास करने से पुराने सस्कार विलीन हो जाते हैं और नए सस्कारो का निर्माण होता है।"

भावनाएँ विविध हो सकती है। जिससे चित्त विशुद्धि होती है तथा अविद्या का उन्मूलन और विद्या की उपलब्धि होती

है वे सब सकल्प और विचार भावनाओ के अन्तर्गत हैं। इन भावनाओ का कुछ वर्गीकरण किया गया है। उन्हे बारह और चार-इस प्रकार दो भागो मे विभक्त किया गया है —

१. अनित्य भावना :—जो कुछ भी है, वह सब शाश्वत नही है। प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। साधक की दृष्टि अगर खुल जाय तो उसे सत्य का दर्शन ससार का प्रत्येक पदार्थ दे सकता है, वही उसका गुरु हो सकता है। अनित्य भावना मे क्षण-क्षण बदलते हुए इस जगत को और स्वय के निकट जो है उसका दर्शन करे। केवल सकल्प न दोहराये कि सब कुछ अनित्य है किन्तु उसका अनुभव करे और उसके साथ अन्त स्थित अपरिवर्तनीय आत्मा की झलक भी पाये।

२. अशरण भावना :—यह भावना हमारे उन सस्कारो पर प्रहार करती है जो बाहर का सहारा ताकते हैं। अगर मनुष्य की समझ मे यह तथ्य आ जाए कि अन्तत मेरा कोई शरण नही है, तब सहज ही बाह्य वस्तु - जगत् की पकड ढीली हो जाये। अन्यथा आदमी धन, परिवार, स्त्री, पुत्र, मित्र, मकान आदि सबको पकडता है। वह समझता है कि अन्त मे कोई न कोई मुझे आलम्बन देगा। यह भ्रम ही सग्रह का हेतु बनता है। धर्म कहता है-"कोई त्राण नही है। क्यो व्यर्थ ममत्व, मोह और पाप का सग्रह करते हो ? जीवन से भागने की जरुरत नही। सिर्फ पकड छोड दो।" गुरु नानक ने कहा है, जो उसे नही भूलता, वही वस्तुत महान है। वही सच्ची सम्पत्ति है जो हमारे साथ जा सकती है।

३. भव भावना :—आज के वैज्ञानिक भी इसे स्वीकार

करते है कि विश्व मे पदार्थ सर्वथा नष्ट नही होते, केवल परिवर्तन होता रहता है। धार्मिक मदा से ही यह कहते आये हें कि जीव और अजीव, चेतन और जड ये दो स्वतत्र द्रव्य हैं। सम्पूर्ण विश्व इन दोनो को सृष्टि है। ये दोनो अनादि हैं। भव भावना मे साधक यह देखता है, अनुभव करता है कि मैं इस ससार मे कव स भ्रमण कर रहा हूँ। क्या मै इस प्रकार भ्रमण करता रहूँगा ? राग और द्वेप भव-भ्रमण के मुख्य हेतु है। जव तक ये विद्यमान रहते हैं तव तक आत्मा का पूर्ण स्वातत्र्य प्रकट नही होता। विविध योनियो मे विविध रूपो मे भ्रमण का चिन्तन करना भव-भावना है।

४. एकत्व भावना :—ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा है, यही मै हूँ। इसके सिवाय शेष सयोगिक पदार्थ मेरे से भिन्न है। वे "मैं" नही है। दूसरो के साथ अपने को इतना सयुक्त न करे कि जिससे स्वय के होने का पता ही न चले। साधक सर्वत्र स्वय के अकेलेपन का अनुभव करे। वह सिर्फ कल्पना के स्तर पर ही नही, वस्तुत जो है–अस्तित्व के स्तर पर भी अकेला है। जिस दिन स्वय की अनुभूति हो जायेगी, शान्ति उस दिन अपने आप द्वार खटखटाने लगती है।

५. अन्यत्व भावना :—एकत्व और अन्यत्व-दोनो परस्पर सवन्धित हैं। दूसरो से स्वय को पृथक देखना एकत्व है और अपने से दूसरो को भिन्न देखना अन्यत्व है। "पर" "पर" है और "स्व" "स्व" है। "पर" को अपना न माने। सयोग है तो वियोग भी है। सयोग और वियोग मे अपने को न जोड कर जीना ही अन्यत्व भावना है।

६. अशौच भावना :—साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह शरीर का सम्यक् दर्शन करे। आसक्ति मूल शरीर है। शरीर के साथ सभी व्यक्ति बधे है। शरीर का ममत्व टूटने पर ही साधना मे प्रगति होती है। अशौच भावना उस बधन को शिथिल करती है। यद्यपि शरीर अपवित्र है, अशुचि है, किन्तु परमात्मा का मन्दिर भी है। अशुचि का दर्शन कर ममत्व से मुक्त हो और साथ मे परम-शुद्ध आत्मा का दर्शन भी करे। केवल शरीर के प्रति घृणा का भाव प्रगाढ करने से प्रयोजन सिद्ध नही होता। यही अशौच भावना का आशय है।

७-८. आस्रव संवर भावना:—आस्रव क्रिया है, प्रवृत्ति है और सवर अप्रवृत्ति तथा अक्रिया है। आस्रव कर्म - ग्राहक अवस्था है और सवर कर्म–निरोधक।*

९. तप भावना :—तप या निर्जरा एक ही है। तपस्या से कर्म-मल दूर हटता है और आत्मा उज्ज्वल होती है। छ प्रकार का बाह्य तप है और छ प्रकार का आन्तरिक तप है।**

१०. धर्म भावना :—धर्म का अर्थ है स्वभाव और वे साधन जिनसे व्यक्ति स्वय मे प्रतिष्ठित होता है। धर्म को त्राण द्वीप, प्रतिष्ठा और गति कहा है। धर्म का सम्बन्ध बाह्य पदार्थ जगत से नही, वह आत्मा का गुण है और उससे वही मिलना चाहिये, जो कि उसके द्वारा प्राप्य है। धर्म ज्ञान-दर्शन-चारित्र है। धर्म निज का उदात्त, शुद्ध, आनन्दमय स्वरूप है। अपने

---

* विस्तृत चर्चा पृष्ठ १११ व २१८ पर

** विस्तृत चर्चा पृष्ठ २२८ पर

स्वरूप का परिचय करना धर्म भावना है।*

११. लोक भावना:—सम्पूर्ण विश्व, जो पुरुषाकृति है, का चिन्तन करना लोक भावना है। मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थावर, सूर्य, चन्द्र, नारक, देव और मुक्तात्मा (सिद्धि स्थान) ये सब लोक की सीमा के अन्तर्गत हैं। साधक लोक की विविधता का दर्शन कर और उसके हेतुओ का विचार कर अपने अन्त स्थित चेतना (आत्मा) का ध्यान करे। लोक भावना का अभिप्राय है—इस विविध और विचित्र लोक का सम्यक् अवलोकन कर स्वय को तटस्थ बनाए रखना।

१२. बोधि-दुर्लभ भावना :—मनुष्य जन्म दुर्लभ है और बोधि उससे अधिक दुर्लभ है। स्वय का होना बोधि है। जीवन मे सब कुछ पाकर भी जिसने बोधि नही पाई, उसने कुछ नही पाया और बोधि पाकर जिसने कुछ नही पाया उसने सब कुछ पा लिया। मरने के बाद सब कुछ छूट जाता है, खो जाता है, वह हमारी अपनी सम्पत्ति नही है। सम्बोधि अपनी सपत्ति है, उसे खोजना है, जन्म के पूर्व और मरने के बाद भी जिसका अस्तित्व अखण्ड रहता है, उसकी खोज मे निकलना बोधि भावना का अभिप्राय है।

बारह भावनाओ के अतिरिक्त चार भावनाओ का और उल्लेख मिलता है। वे है—मैत्री, प्रमोद, करुणा और उपेक्षा। पतजलि ने कहा है—"मैत्री करुणा मुदितो पेक्षाणा सुख दु ख पुण्यापुण्य विषयणा भावनातश्चित्तप्रसादनम्"। अर्थात् सुख, दु ख, पुण्य और पाप इन भावो के प्रति क्रमश मित्रता, करुणा,

* विस्तृत चर्चा पृष्ठ २६७ पर

आनन्द, प्रसन्नता और उपेक्षा का भाव धारण करने से चित्त प्रसन्न होता है।

मैत्री भावना :—जन्म मृत्यु की लम्बी परम्परा मे कौन अपरिचित है किन्तु इसे साधारण व्यक्ति नही समझ सकता। बहुत कम व्यक्तियो को अतीत का ज्ञान होता है। लेकिन इतना स्पष्ट है कि मैं पहले भी था, अब भी हूँ और आगे भो रहूँगा। अतीत मे था तो कहाँ था, कौन मेरे सम्बन्धी थे आदि कई प्रश्न खडे हो जाते है। इस दृष्टि से साधक का मन सब के प्रति मित्र भाव धारणा कर लेता है। 'मित्ति मे सव्वभूएसु, वेर मज्झ न केणईव' मेरा सब के साथ मैत्री-भाव है। कोई मेरा शत्रु नही है। अन्त श्चेतना से जैसे जैसे यह भाव पुष्ट होता जाता है वैसे वैसे साधक के मन मे शत्रुता का भाव नष्ट होता चला जाता है। मित्र मन सर्वत्र प्रसन्न रहता है और अमित्र-मन अप्रसन्न। शत्रु मन अशात, हिसक, घृणायुक्त और क्लिष्ट रहता है। उसमे प्रतिशोध की आग निरन्तर प्रज्ज्वलित रहती है। मित्र - मन मे ये सब दोष नष्ट हो जाते है। उसे भय नही रहता। 'आयतुले पयासु' प्राणियो को अपने समान देखो—यह उसका फलितार्थ है।

प्रमोद भावना·—प्रमोद का अर्थ है—प्रसन्नता। जो स्वय मे प्रसन्न नही होता, प्रमोद भावना को समझना उसके लिये कठिन होता है। जो अपना मित्र बनता है, वही प्रमोद–प्रसन्न रह सकता है। जिसकी अपने मे प्रसन्नता है उसकी सर्वत्र प्रसन्नता है। वह अप्रसनन्ता को देखता नही। अपने से जो राजी नही है, वही दूसरो के दोष देखता है, दूसरो की प्रसन्नता-विशिष्टता से ईर्ष्या करता है। दूसरो के गुणो को देखकर व्यक्ति स्वय

का प्रमोद भावना के द्वारा कितना ही भाविन करे किन्तु ईर्ष्या की ग्रंथि खुलनी कठिन है, भले ही कुछ देर के लिये मन को तृप्त करले। जिसे ईर्ष्या से मुक्त होना है उसे सतत प्रसन्नता का जीवन जीना चाहिये। यह कोई असम्भव नही है। जो कुछ प्राप्त है, उसमे सदा प्रसन्न रहे। स्वय मे प्रसन्न रहना सीखे। फिर दूसरो से अप्रसन्नता भी नही आयेगी और दूसरो के गुणो के उत्कर्ष से अप्रसन्नता भी नही होगी।

करुणा भावना :—करुणा मैत्री का प्रयोग है। सारा जगत जिसका मित्र है उसकी करुणा भी जागतिक हो जाती है। वह भीतर का एक बहाव है जो प्रतिपल सरिता की धारा की तरह प्रवाहित रहता है। हजरत उमर ने एक व्यक्ति को किसी प्रान्त का गवर्नर नियुक्त किया। नियुक्ति पत्र लिखा और आवश्यक सूचना दी। इतने मे एक छोटा बच्चा आ गया। हजरत उसे प्रेम करने लगे। उस व्यक्ति ने कहा, "मेरे दस बच्चे है। किन्तु मैंने इतना प्रेम और इस प्रकार आलाप-सलाप कभी नही किया।" हजरत ने वह नियुक्ति पत्र वापस लेकर फाडते हुए कहा–"जब तुम अपने बच्चो से भी प्रेम नही कर सकते, तब प्रजा से प्रेम की आशा मैं कैसे करू ?" प्रेम करुणा, सहानुभूति ये अन्तस्तल के सूचना–सस्थान है। दुखी, पीडित, त्रस्त व्यक्ति को देख कर जो करुणा का भाव जाग्रत होता है, वह यह सूचना देता है कि आपका चित्त कोमल मृदु और प्रेम से शून्य नही है। उसी करुणा को आत्मा से जोडना है, दुख के कारणो को मिटाना है। जिसमे अनन्त करुणा का जन्म हो सके।

उपेक्षा भावना :—अनुकूल और प्रतिकूल दोनो ही स्थितियो मे सर्वत्र सम रहना "उपेक्षा" है। साधक को न पदार्थो

आनन्द प्रसन्नता और उपेक्षा का भाव धारण करने से चित्त प्रसन्न होता है ।

मैत्री भावना :—जन्म मृत्यु की लम्बी परम्परा मे कौन अपरिचित है किन्तु इसे साधारण व्यक्ति नही समझ सकता। बहुत कम व्यक्तियो को अतीत का ज्ञान होता है । लेकिन इतना स्पष्ट है कि मैं पहले भी था, अब भी हूँ और आगे भी रहूँगा। अतीत मे था तो कहाँ था, कौन मेरे सम्बन्धी थे आदि कई प्रश्न खडे हो जाते है । इस दृष्टि से साधक का मन सब के प्रति मित्र भाव धारण कर लेता है । 'मित्ति मे सव्वभूएसु, वेर मज्झ न केणईव' मेरा सब के साथ मैत्री-भाव है । कोई मेरा शत्रु नही है। अन्त श्चेतना से जैसे जैसे यह भाव पुष्ट होता जाता है वैसे वैसे साधक के मन मे शत्रुता का भाव नष्ट होता चला जाता है। मित्र मन सर्वत्र प्रसन्न रहता है और अमित्र-मन अप्रसन्न । शत्रु मन अशात, हिंसक, घृणायुक्त और क्लिष्ट रहता है । उसमे प्रतिशोध की आग निरन्तर प्रज्ज्वलित रहती है । मित्र - मन मे ये सब दोष नष्ट हो जाते हैं । उसे भय नही रहता । 'आयतुले पयासु' प्राणियो को अपने समान देखो–यह उसका फलितार्थ है ।

प्रमोद भावना:—प्रमोद का अर्थ है—प्रसन्नता । जो स्वय मे प्रसन्न नही होता, प्रमोद भावना को समझना उसके लिये कठिन होता है । जो अपना मित्र बनता है, वही प्रमोद–प्रसन्न रह सकता है । जिसकी अपने मे प्रसन्नता है उसकी सर्वत्र प्रसन्नता है । वह अप्रसनन्ता को देखता नही । अपने से जो राजी नही है, वही दूसरो के दोष देखता है, दूसरो की प्रसन्नता-विशिष्टता से ईर्ष्या करता है । दूसरो के गुणो को देखकर व्यक्ति स्वय

का प्रमोद भावना के द्वारा कितना ही भावित करे किन्तु ईर्ष्या की ग्रंथि खुल्नी कठिन है, भले ही कुछ देर के लिये मन को तृप्त करले। जिसे ईर्ष्या से मुक्त होना है उसे सतत प्रसन्नता का जीवन जीना चाहिये। यह कोई असम्भव नहीं है। जो कुछ प्राप्त है, उसमे सदा प्रसन्न रहे। स्वयं मे प्रसन्न रहना सीखे। फिर दूसरो से अप्रसन्नता भी नही आयेगी और दूसरो के गुणो के उत्कर्ष से अप्रसन्नता भी नही होगी।

करुणा भावना :—करुणा मैत्री का प्रयोग है। सारा जगत जिसका मित्र है उसकी करुणा भी जागतिक हो जाती है। वह भीतर का एक बहाव है जो प्रतिपल सरिता की धारा की तरह प्रवाहित रहता है। हजरत उमर ने एक व्यक्ति को किसी प्रान्त का गवर्नर नियुक्त किया। नियुक्ति पत्र लिखा और आवश्यक सूचना दी। इतने मे एक छोटा बच्चा आ गया। हजरत उसे प्रेम करने लगे। उस व्यक्ति ने कहा, "मेरे दस बच्चे है। किन्तु मैंने इतना प्रेम और इस प्रकार आलाप-सलाप कभी नही किया।" हजरत ने वह नियुक्ति पत्र वापस लेकर फाड़ते हुए कहा—"जब तुम अपने बच्चो से भी प्रेम नही कर सकते, तब प्रजा से प्रेम की आशा मैं कैसे करू?" प्रेम करुणा, सहानुभूति ये अन्तस्तल के सूचना-सस्थान है। दुखी, पीडित, त्रस्त व्यक्ति को देख कर जो करुणा का भाव जागृत होता है, वह यह सूचना देता है कि आपका चित्त कोमल मृदु और प्रेम से शून्य नहीं है। उसी करुणा को आत्मा से जोडना है, दुख के कारणो को मिटाना है। जिसमे अनन्त करुणा का जन्म हो सके।

उपेक्षा भावना :—अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही स्थितियो मे सर्वत्र सम रहना "उपेक्षा" है। मानव को न हर्षा

ने जुडना है और न बिछुडना है। पदार्थ है उसमे राग-द्वेष नही है। राग द्वेष है अपने भीतर। जब आदमी किसी से जुडता है तो राग और बिछुडता है तो द्वेष आता है। गौतम महावीर से बधे रहे। बन्धन का मार्ग सरल है। मनुष्य बन्धक-प्रिय है। वह एक बन्धन छोडता है तो दूसरा कही न कही जोड लेता है। उपेक्षा करना कठिन है। उपेक्षा भावना का साधक कही किसी भी जड चेतन के साथ बधता नही। वह आने वाले समस्त बधनो की उपेक्षा कर तटस्थ भाव से अपने ध्येय मे गति करता रहता है। साधक जब उपेक्षा भावना मे निष्णात हो जाता है तब हर्ष और विषाद, सुख और दुख, सम्मान और अपमान आदि द्वन्द्व सहजतया क्षीण होते चले जाते है।'

वैराग्य भावना

श्री अर्हन्त के दर्शन जो हम एक बार पा जाते।
निकल ससार-सागर से वही हम मोक्ष-सुख पाते॥

तमन्ना अपनी बर आती, मुरादे दिल की पा जाते।
गुरु निग्रन्थ के चरणो मे सिर को गर झुका पाते॥

The purport of Life would be fulfilled, the heart s desire realised, should we but have the luck to bend the head at the feet of the Nirgranth Guru !

फना का दौर-दौरा है कयाम उसका है आलम मे।
जवानी हुस्नो दौलत जिन्दगी सब है मिट जाते॥

Death's is the Empire, stability is a dream ! Youth, beauty, riches and life all are perishing away !

उठाई मरने-जीने की अनन्त वार तकलीफे ।
यो नित-नित रोज मरने से 'काश' एक वार मर जाते ॥

An infinity of times have the pains been endured of (repeated) birth and death ! Would that we had once died for good to be rid of this constant daily dying !

शरण कैसी, मदद किसकी, नही फिरियादरस कोई ।
वोह् देखो, जय की दाढो मे हैं सव-के-सव पिसे जाते ॥

Who is the refuge ? Whose help to seek ?, there is none to listen to the wail (of the soul) ! Look ! all are being ground in the Jaws of Death !

न साथी है, न सगी है कोई जीवो का आलम मे ।
अकेले पैदा होते है अकेले ही है मर जाते ॥

There is no companion of souls in the world, not a way faring associate ! Alone are they born, alone also do they die !

नही जब जिस्म ही अपना तो कैसा गैर से रिश्ता ।
हा, ना फहेमी से पुत्र वा मित्र अपने है कहे जाते ॥

When even the body is not one's own, how then, can another be a relation of the self ? Through delusion, verily, are termed one s own the friend and the son ?

ढका है चाम से ढाचा, भरा है मूत्र व मल से यह—
येह ही है लोग जिसकी खूबियो पे नित्य हैं इतराते ॥

With (leathern) parchment is the skeleton covered,

it is filled with urine and filth ! Is this the thing whose excellencies have turned men's heads ?

चतुर-गति-रूप आलम है नहीं सुख से यहां कोई ।
मनुष्य तिर्यञ्च नारक देव है सब दुख से चिल्लाते ।।

Characterized by the gati quartette is this world of life, happy there is none ! Devas and men, lower kingdoms and hells-all are crying with pain !

अबस् की बन्दगी बातिल बुतो को झूठे देवो की ।
जो संवर निरजरा करते तो दिल का मुद्दआ पाते ।।

In vain, have we worshipped false gods and guides that only lead one astray ! Had we but stopped and destroyed the Karmas, the wish of the heart we should have had !

मनुष्य की जून दुर्लभ है जो विरथा है इसे खोते ।
वोह आसानी से मौका फिर नहीं है दूसरा पाते ।।

Difficult of attainment is the human form, those who now dissipate it away Will never easily again obtain another such (golden) chance ?

अहिंसा-धर्म है सच्चा, अहिंसा मूल है तप का ।
अहिंसा पालने से कर्म-बन्धन सब है जड जाते ।।

True is the Dharma that teaches non-injuring of saintship non-injuring is the root ! By the observance of the vow on non-injuring are destroyed the entirety of the chains of Karma !

जो देखा गौर से तो आत्मा ही देव है सच्चा ।
सेखो सयम इसी के जोहरे असली नजर आते ।।

On proper reflection, the soul itself is found to be the truest God ! Joy and self-control would appear properly to appertain to the soul

खुदा है, देव है, त्रिलोकी का सरताज है, जन है ।
तमामी पूज्य गुण है जात मे इसकी नजर आते ।।

Khuda is He He is Deva, too, the crown of Glory of the world, and Jina (Conqueror) ! The infinity of the worshipful attributes all may be seen in Him ,

हयाते ला ममातो वा नूरे खालिम, मौत का फातेह ।
जो ऐसा अपने को जानें अवश्य वे सिद्ध-पद पाते ।।

Life that is Deathless, Effulgence Pure, the Conqueror, of Death Those who know themselves as such, obtain the status of the Perfect Ones !

सुखा दर्शन व ज्ञानो वीर्यं मे निश्चय से है पूरन ।
इसी के गुण हैं हूरो जिन मलायक रात-दिन गाते ।।

In respect of Happiness, Perception, Knowledge and Power He is truly full ! Houris, jinns, and angels chant His attributes (ceaselessly) night and day

कर्म-बन्धन से छूटे आत्मा परमात्मा होवे ।
वजुज इसके नही कुछ फर्क हम दोनो मे हैं पाते ।।

Freed from the bondage of Karma the Soul becomes a God ! There is no other difference that we can sea between the two !

सदर्भ —युवाचार्य महाप्रज्ञ, "सम्बोधि" पृष्ठ २६०–२७१
Champat Rai Jain, ' Fundamental of Jainisum" Page 118

आत्म - धर्म (Self restraint)

भगवान ने दस प्रकार के धर्म बतलाये है —

१	ग्राम धर्म	—	गाव की व्यवस्था ।
२	नगर धर्म	—	नगर की व्यवस्था ।
३	राष्ट्र धर्म	—	राष्ट्र की व्यवस्था ।
४	पाखण्ड धर्म	—	अन्य तीर्थिको का धर्म ।
५	कुल धर्म	—	कुल का आचार ।
६	गण धर्म	—	गण (कुल समूह) की मर्यादा ।
७	सघ धर्म	—	सघ (समुदाय) को मर्यादा ।
८	श्रुत धर्म	—	आत्म उत्थान (सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र) होने के कारण ये दोनो आत्म-धम है ।
९	चारित्र धर्म		
१०	आस्तिकता धर्म	—	ईश्वर सत्ता की धारणा ।

धर्मो दशविध प्रोक्तो, मया मेघ ! विजानता ।
तत्र श्रुतञ्च चारित्र, मोक्ष-धर्मोव्यवस्थित ॥

प्रस्तुत श्लोक मे आठवा और नवमा भेद आत्म-धर्म है, गेप व्यवहार धर्म है। व्यवहार धर्म मे हिसा, अहिसा का विचार मुख्य नही होता। मुख्य होता है मामाजिक आचार नीति। समाज धर्म समाज सापेक्ष होता हे। वह ध्रुव नही होता, परिवर्तनशील होता है। लौकिक धर्म की विचारणा मे मोक्ष का विमर्ग गौण होता है, मामाजिक अभ्युदय का विचार मुख्य होता है।

"चरम नयणे करि मारग जोवता भूल्यो सकल ससार।
जेणे नयणे करि मारग जोइये नयन ते दिव्य विचार॥"

आनन्दघनजी ने कहा, "चर्म चक्षुओ से देखते हुए व्यक्ति मार्ग को नही देख सकता। मार्ग को देखने के लिए दिव्य नेत्र, अन्त चक्षु चाहिये। धर्म की अनुभूति भी अन्तर्चक्षु से होती है, बाहर की आखे धर्म को देख नही सकती। दस विध धर्म मे यह अनेकता स्पष्ट परिलक्षित होती है। स्वभाव, व्यवस्था, रीति-रिवाज या परम्परा आदि धर्म के अनेक अर्थ हैं। साधक को इन सबका विवेक कर स्वधर्म (आत्म-स्वभाव) मे प्रवृत्त होना चाहिये। आत्म-धर्म सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र रूप है। जो प्रक्रिया या नियम आत्म-बोध को उजागर करे, अज्ञान का विध्वस करे, वही आत्म-धर्म है। जो धर्म आत्मा को अनावृत न करे वह वस्तुत आत्म-धम नही होता। धर्म स्वय को जानने की प्रक्रिया है। कन्फ्यूशियस ने कहा—अज्ञानी दूसरो को जानने की कोशिश करता है और ज्ञानी स्वय की खोज मे लगा रहता है। आत्म-स्वभाव के अतिरिक्त कोई धर्म नही है।

धर्म की सुरक्षा प्रमुख है। इसके प्रति सजग होना जरूरी हे। सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र जितने पुष्ट और सशक्त होगे

धर्म उतना ही तेजस्वी होगा। धर्म या यम की सुरक्षा के लिए नियम होते हैं।

नियमा यम रक्षार्थं तेषा रक्षा प्रवर्धते।
यमाभावो न चिन्त्य स्यात तथा धर्मं प्रहीयते ॥

नियम यम या धर्म की सुरक्षा के लिए होते है। जब नियमो की सुरक्षा ही मुख्य बन जाती है और यम का अभाव चिन्ता का विषय नही रहता तब धर्म क्षीण होता है। इसलिए यमो का आचरण सदा करना चाहिये और नियमो का देश, काल और स्थिति के औचित्य के अनुसार पालन करना चाहिये। जब यम गौण और नियम प्रधान बन जाते है, तब धर्म के प्रति ग्लानि उत्पन्न होती है।

यम योग का पहला अ ग है। यम वृत्तियो के सयमन के अर्थ मे है। असत् प्रवृत्ति के अनेक प्रकार है परन्तु मुख्यतया हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह ये पाँच प्रकार माने गये है। ससार के प्राय सभी विकार इनमे समाविप्ट किये जा सकते है। इनसे बचना, अपना सयमन करना, नियमन करना यम है। इन पॉच विकारो के आधार पर अहिसा, सत्य, अचौर्य, अब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पॉच यम माने गये है। ये ही जैन परम्परा मे व्रतो के नाम है। ये पाच व्रत दो कोटियो मे आते है—निरपवाद कोटि और सापवाद कोटि। निरपवाद कोटि महाव्रत की सज्ञा ले लेती हैं और सापवाद कोटि अणुव्रत की सज्ञा मे आती है। महाव्रत मे कोई अपवाद नही होता और अणुव्रत अपनी सामर्थ्य के अनुसार कतिपय अपवादो के साथ कोई भी व्यक्ति स्वीकार कर सकता है। स्थानाग सूत्र मे लिखा है, "चत्तारी धम्मदारा खती मुत्ती अज्जवेय दब्वे" धर्म के चार द्वार है क्षमा, सरलता,

सन्तोष और विनय। जिस व्यक्ति मे ये गुण मिलते है वह धार्मिक कहा जा सकता है। धार्मिक होने का अर्थ है सत्य की दिशा मे चलना। धार्मिक व्यक्ति के समस्त व्यवहारो मे सत्य का प्रतिबिम्ब झलकने लगता है। अब वह पहले को तरह चल नही सकता, बोल नही सकता, लेन देन नही कर सकता, बातचीत नही सकता। उसे कोई भी कार्य करते हुए यह सोचना होगा कि इससे धर्म की हानि होगी या वृद्धि। धीरे धीरे जीवन की असत् प्रवृत्तिया विदा होने लगती है और एक दिन उसका जीवन दीप्तिमान हो उठता है। किन्तु पहले ही क्षण मे धर्म के इस परिणाम की अपेक्षा नही रखनी चाहिये। इसके लिए बडे उत्साह, धैर्य, त्याग और सघर्षो की आवश्यकता होती है। धर्म का जीवन प्रारम्भ करते हो घर, परिवार, समाज आदि से सघर्ष का सूत्रपात भी हो जाता है। लोग नही चाहते कि आप सब से उदासीन हो जाएँ। लोकभय से ही अनेक व्यक्ति उस मार्ग पर चलना छोड देते है। धर्म की तेजस्विता मे कोई सदेह नही है, सदेह है व्यक्ति की क्षमता पर।

सुखासक्तो मनुष्यो हि कर्त्तव्याद्विमुखो भवेत्।
धर्मे न रुचिमाधत्ते, विलासाबद्धमानस ॥

भगवान ने कहा—जो मनुष्य सुख मे आसक्ति रखता है और भोग विलास मे रचा-पचा रहता है, वह कर्त्तव्य से विमुख बनता है उसकी धर्म मे रुचि नही होती। अपवित्र व्यक्ति मे धर्म नही ठहरता और जहाँ धर्म नही रहता वहाँ मोह की प्रबलता होती है।

कर्त्तव्यञ्चाप्यकर्त्तव्य भोगासक्तो न ज्ञोयति।
कार्याकार्यमजानानो, लोकाञ्चान्ते विषीदति ॥

भोग मे आसक्त रहने वाला व्यक्ति कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के बारे मे सोच नही पाता। कर्त्तव्य और अकर्तव्य को नही जानने वाला व्यक्ति अन्त मे विषाद को प्राप्त होता है। इस अविवेक से वह एक के बाद दूसरी मूढता करता जाता है और अन्त मे विषाद ग्रस्त हो समाप्त हो जाता है।

जीवन विकास के चार सूत्र बतलाये गए है —ऋजुता, मृदुता, सहिष्णुता और मुक्ति।

१ ऋजुता —सरलता का विकास। भगवान महावीर ने कहा "धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई"। धर्म शुद्ध आत्मा मे ठहरता है। शुद्ध कौन ? भगवान ने कहा, "जो ऋजु है, वह शुद्ध है।" ईसा मसीह ने कहा, "धार्मिक व्यक्ति बच्चे जैसा होता है।" ऋजु होना और बच्चे जैसा होना एक ही बात है। बच्चा कभी कुटिल नही होता। कुटिल कभी धार्मिक नही होता। आगे प्रश्न उभरता है। ऋजु कौन होता है ? ऋजु वह होता है जिसे अनेकान्त की दृष्टि उपलब्ध है। एकान्त दृष्टि वाला कभी ऋजु नही होता। वह आग्रही होता है। वह दूसरो की दुर्बलताओ को देखता है। परिस्थिति को मूल्य देता है और अपने आसपास मे होने वाली सारी कमजोरियो को दूसरो के सिर पर लाद देता है। वह आदमी कुटिल होता है और उसमे अनेकान्त की दृष्टि नही होती। हम ऋजु बने, अनेकान्त की दृष्टि स्वीकार करे।

२ मृदुता —अहकार वृत्ति विसर्जन का विकास। जयाचार्य ने इस सम्बन्ध मे कहा है —

सर्व भूत पर द्वेष तजी, सब मित्र सम जान।
ममत भाव अहकार तज, सुख दुख भाव समान॥

३ सहिष्णुता —सहिष्णु होने का अभ्यास करना चाहिये। सहिष्णुता सध जाने पर ही सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु आदि मे सन्तुलन रखने की क्षमता पैदा होती है।

४ मुक्ति —आकाक्षाओ से यदि मुक्ति पा लेते है तो बहुत सारी समस्याएं स्वतः ही समाहित हो जाती है। स्वार्थो का विसर्जन करना सीखें। मुक्ति का सूत्र है, "स्व" को विस्तार देना। मुक्ति यानि अकिञ्चन्य, अपना कुछ भी नही।

> अहिसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
> एत सामासिक धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥

हिसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्रता का पालन करना, इन्द्रियो पर काबू रखना—मनु ने चारो वर्णो के लिए थोडे मे यह धर्म कहा है। भगवान महावीर ने कहा, धम्मो मगल मुक्किठ अहिसा सयमोतवो" अर्थात् अहिसा, सयम व तप सब मिला कर धर्म है और धर्म उत्कृष्ट मगल है। धर्म का पहला लक्षण है अहिसा। हिसा न करना—अहिसा का अर्थ केवल यही नही है। अहिसा का विकास करना है। अहिसा के विकास के लिये सब से गहरी बात है हृदय परिवर्तन या मस्तिष्क की धुलाई (Brain wash)। अहिसा की दिशा मे दो आधारभूत क्रम है हृदय परिवर्तन और साधन-शुद्धि मे विश्वास। साधन-शुद्धि मे हमारी आस्था होना आवश्यक है। आस्था के बल के साथ समर्पण और वह भी एक महान शक्ति के प्रति और एक महान् लक्ष्य के प्रति होना जरूरी है। एक कथा आती है पुराने जमाने मे दास प्रथा थी। बाजार मे गुलामो की बिक्री हो रही थी। एक व्यक्ति गुलाम के पास गया और पूछा 'तुम क्या करोगे ?" उत्तर मिला, "जो मालिक कहेगा"। "क्या खाओगे ?" वही

उत्तर, "जो मालिक देगा" । फिर वैसा ही प्रश्न, "कहाँ रहोगे ?" एक ही उत्तर, "जहाँ मालिक कहेगा" । प्रत्येक प्रश्न का उत्तर, "मालिक की इच्छा" । व्यक्ति ने सोचा, "एक दास मे इतना ममर्पण भाव और मै भगवान् की प्राप्ति मे निकला हूँ, किन्तु आज तक भगवान् के प्रति इतना समर्पित नही हो सका ।"

अहिंसा के विकास के लिए एक और बात होनी चाहिये और वह है अभय । जो व्यक्ति डरता रहता है वह कभी अहिंसा को तेजस्वी नही बना सकता । सद्भावना का विकास, मैत्री या प्रेम का विकास । अपने विरोधी के प्रति भी मन मे पूरी सद्-भावना जिस व्यक्ति मे नही होती, वह मफल अहिंसक नही हो सकता । अहिंसक अपने से शत्रुता रखने वाले को भी अपना प्रिय मित्र मानता है । वह अप्रिय वचन को समभाव मे महन करता है । वह प्रिय अप्रिय मे सम रहता है । वह सम दृष्टि है, वह अहिंसक है । पाप या बुराई के प्रति घृणा का भाव हो सकना है किन्तु व्यक्ति यानि पापी के प्रति नही । सद्भावना के लिये अनिवार्य हे कष्ट सहिष्णुता का विकास । जो कष्ट आने पर धैर्य नही रखना वह कष्ट-सहिष्णु नही हो सकता और वह अहिंसा के पथ पर नही चल मकता । अहिंसक व्यक्ति स्वेच्छा मे कष्ट-सहिष्णुता का विकास करता है और समय आने पर अहिंसा के लिए आने वाले बडे से बडे कष्टो को झेलने की वह क्षमता रखता है । आचार्य भिक्षु ने अहिंसा के पथ पर चलने का सकल्प लिया । उनके लिए जयाचार्य ते लिखा है, "मरण धार सुध मग लियो" "मैं प्राण दे दूँगा पर अहिंसा के पथ के मार्ग ने विचलित नही होऊँगा ।" यह आतरिक बल का विकास, वीरता, पराक्रम, कही भी हिंसा के सामने घुटने न टेकने का प्रबल सकल्प, अदम्य आत्म विश्वास ये सब अहिंसा की शर्ते हैं ।

इसका विकास किए विना अहिंसा को तेजस्वी बनाना सभव नही। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के जीवन सम्बन्धी जो विचार दिये गये हैं वे आज भी प्रेरणा दायक हैं। "गाधीजी एक महात्मा मात्र नही थे, वे ऋषि भी थे।" "पश्यति य स ऋषि" वे दूरद्रष्टा थे। वे जानते थे कि देश का उत्थान केवल सत्य का अनुसरण करने से ही हो सकता है। उनके आश्रम मे प्रात और साय नित्य उनके आश्रमवासी ग्यारह प्रतिज्ञाए किया करते थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, श्रम, सयम निर्भयता, सर्व धर्म साम्य, स्वदेशी और अस्पृश्यता, इन सब सूत्रो को एक सूत्र मे पिरो कर कहा जायेगा नैतिकता। ये सब गुण परस्पर सहायक है। अगर किसी एक गुण को लेकर चला जाये तो और गुण स्वत अपने आप मे आ जायेंगे।" इसलिए अहिंसा सत्य आदि के विकास के लिए साधक प्रतिक्षण सजग रहे।

अपरिग्रह को विख्यात साहित्यकार श्री जैनेन्द्र कुमार के शब्दो मे समझना उपयोगी होगा। उनके अनुसार, "अपरिग्रह का नितान्त शुद्ध रूप है कैवल्य। कैवल्य की स्थिति पर तीर्थंकर के लिए समवसरण की रचना हो जाती है। समवसरण के ऐश्वर्य का क्या ठिकाना है। लेकिन क्या उससे तीर्थंकर के कैवल्य मे कोई त्रुटि पडती है ? या अपरिग्रह पर कोई विकार आता है ? व्यक्ति और वस्तु के बीच असम्बद्धता नही हो सकती। सारा जगत सामने पडा है, क्या अपरिग्रही उसको देखने से इन्कार करेगा ? देखना भी एक प्रकार का सम्बन्ध है। दृष्टि सम्यक् वह नही है, जो वस्तु-मय जगत को देख नही पाती, सम्यक् दृष्टि वह है जो वस्तु मे रुकती नही है। कोई व्यक्ति प्रत्यक्षत दीन और दरिद्र है वस्तु के नाम पर उसके आस पास अभाव ही अभाव है, क्या आप उसको अपरिग्रही कह सकेंगे ? नही,

उसको दीन और दरिद्र इसलिए कहना होता है कि बाहरी अभाव के कारण उसका मन वस्तु के प्रति और भी ग्रस्त और लुब्ध होता है, ऊपर से नितान्त नग्न होते हुए भी वह भीतर से कातर और लोलुप हो सकता है। अपरिग्रह मे वस्तु का लोभ व भय भी समाप्त हो जाता है। आत्म चेतना सर्वथा स्वय निर्भर हो जाती है। दूसरे शब्दो मे अपरिग्रह अभावात्मक नही, सद्-भावात्मक है अर्थात् अपरिग्रह मे वस्तु के प्रति रुष्ट विमुखता नही होती, बल्कि प्रसन्न मुक्तता होती है। हमारी वर्तमान प्रधान मत्री इन्दिरा गाँधी ने महावीर के शब्दो को साधारण भाषा मे दोहराया है, "महावीर ने सिखाया है जरूरत से ज्यादा सचय ही झगडे की जड है। महावीर का आदर्श अपरिग्रहवाद ही आज की त्रस्त जनता के लिये महत्वपूर्ण उपलब्धि है।"

सुख और दुख

सुख क्या है और दु ख क्या है यह सनातन प्रश्न है ? मनुष्य पदार्थो के उपभोग मे सुख की कामना करता है वह अवास्तविक है। वास्तविक यह है कि सुख पदार्थो के उपभोग मे नही, उनके त्याग मे है। मनुष्य प्रियता मे सुख और अप्रियता मे दुख की कल्पना करता है और प्रियता और अप्रियता को पदार्थो से सम्बन्धित मानता है। यह भ्रम है। प्रियता और अप्रियता

सदर्भ —१ युवाचार्य महाप्रज्ञ, " अनेकान्त तीसरा नेत्र " पृष्ठ ६१, "आदर्श साहित्य सघ चूरू द्वारा प्रकाशित विज्ञप्ति दि० ५-४-८३"

२ मुनि श्री राकेशकुमार, 'योग दर्शन" जैन भारती अगस्त ८२

3, श्री जैनेन्द्रकुमार, "अपरिग्रह' मुनि श्री हजारीमलर मृति ग्रथ, पृष्ठ ४०५

पदार्थो मे नही, मनुष्य के मन मे होती है। जिन पदार्थो के प्रति मनुष्य का लगाव है, वहाँ वह प्रियता की और जहाँ लगाव नही है, वहाँ अप्रियता की कल्पना करता है यह सारा दुख है।

बाह्य पदार्थो के प्रति आसक्ति रहते हुए बुद्धि का द्वार नही खुलता। विवेक वही जागृत होता है जहाँ पदार्थासक्ति नही होती। मोह के रहते आसक्ति नही छूटती और इसका नाश हुए बिना वास्तविक सुख की अनुभूति नही होती। पर्ल एम बर्क के विचार इस सम्बन्ध मे जानने योग्य है —

"मेरे विचार से तो कोई भी व्यक्ति तब तक सुखी नही हो सकता जब तक वह जीवन और मृत्यु के द्व द को भली भांति समझ कर मृत्यु के बजाय जीवन को सहज रूप से स्वीकार न करले। ऐसे भी बहुत से लोग है जो जीवन से भाग कर मृत्यु का वरण करना श्रेयस्कर समझते है। यह नही कहा जा सकता कि उनका ऐसा करना गलत है लेकिन सच तो यही है कि हर स्थिति मे मृत्यु की अपेक्षा जीवन को ही श्रेयस्कर मानना चाहिये।"

उपासना

उपासना भी मोक्ष मार्ग के लिये उपयोगी है। उपासना का अर्थ है समीप बैठना। अच्छाई की उपासना करने से व्यक्ति अच्छा बनता है और बुराई की उपासना करने से बुरा। हम जिनकी उपासना करते है वैसे ही बन जाते है। श्रावक के

सदर्भ — पर्ल एस बर्क-"जीवन श्रेयस्कर है" सारिका, १६ से ३१ मई १९८३, पृष्ठ ६३

उपास्य है–अरहन्त, सिद्ध और धर्म। श्रावक के निकटतम उपास्य है मुनि, श्रमण। श्रमण की उपासना व्यक्ति को केवल श्रमण ही नही बनाती वह मुक्त भी करती है। उपासना का आदि चरण है धर्म सम्बन्धी ज्ञान का श्रवण और अन्तिम चरण है निर्वाण यानि मोक्ष प्राप्त करना।

उपासना के दस फल है —

१ श्रवण – तत्वो को सुनना।
२ ज्ञान – सत् और असत् का विवेक।
३ विज्ञान – तत्त्वो का सूक्ष्म और तलस्पर्शी ज्ञान।
४ प्रत्याखान – हेय का त्याग और उपादेय को स्वीकार करना।
५ सयम – आत्मभिमुखता।
६ अनास्रव – कर्म आने के मार्गो का अवरोध।
७ तप – आत्मा को विजातीय तत्त्व से विमुक्त कर अपने आप मे युक्त करना। यह बारह प्रकार का है। इसका विवरण पृष्ठ २२६ पर दिया गया है।
८ व्यवदान – पूर्व - सचित कर्मो के क्षय होने से होने वाली विशुद्धि।
९ अक्रिया – आत्मा के समस्त कर्म जब पृथक हो जाते है तब मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति रुक जाती है, वह अक्रिया है।
१० निर्वाण – आत्मा का पूर्ण उदय, कर्मो का सर्वथा विलय।

सत्सगति का एक क्षण भी ससार–सागर से पार कर देता है। नारद ने भगवान से कहा—मुझे मुक्ति दो। भगवान ने

कहा, मैं स्वर्ग दे सकता हूँ, और कुछ दे सकता हूँ, किन्तु मुक्ति नही। मुक्ति के लिये सतो के पास जाओ। सत वह है जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है। ऐसे व्यक्ति के समीप होने का अर्थ है उपासना। उसके पास धर्म होता है। वह धर्म सुना सकता है। जिसके पास धर्म न हो, वह धर्म कैसे दे सकता है ?

समाधि

व्यक्ति व्याधि, आधि और उपाधि से मुक्त हो कर ही समाधि की दशा मे पहुँच सकता है। व्याधि का सम्बन्ध शरीर से है। शरीर मे जितने प्रकार की बीमारियाँ जन्म लेती है वे सब व्याधि कहलाती है। उनका सम्बन्ध शरीर के साथ साथ मन से भी है और कर्मो से भी। मानसिक अस्वस्थता शारीरिक अस्वस्थता की हेतु बनती है और पूर्व सचित कर्मो की प्रेरणा भी इसमे निमित्त बनती है। आधि —"आधिस्तु मानसी व्यथा" मन की पीडा का नाम आधि है। यह सयोग-वियोग, लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जीवन-मृत्यु आदि द्वन्दो से अनुबन्धित है। तनाव भी मानसिक व्यथा ही है। इससे व्यक्ति को अधिक परेशानी का अनुभव होता है। उपाधि —इसका उद्भव आवेगो से होता है। आवेश ईर्ष्या, लालसा, कामना आदि ऐसे आवेग है जो दिन रात व्यक्ति के मन मे सत्रास पैदा करते रहते है। इन तीनो से मुक्त हुए बिना व्यक्ति समाधि प्राप्त नही कर सकता। इनसे मुक्त होने के कई उपाय है जिनमे प्रमुख है "प्रेक्षा ध्यान"। अनुभव यह बताते हैं कि "प्रेक्षा ध्यान" से ग्रन्थियो (glands) का समु-

---

सदर्भ —युवाचार्य महाप्रज्ञ "सम्बोधि" पृष्ठ ३३७।

चित स्रवण होता है और इससे समाधि मिलती है। अगर ग्रन्थियो (glands) का सही प्रकार से स्रवण नही होता तो उस व्यक्ति की आधि, व्याधि और उपाधि समाप्त नही होती और समाधि नही मिलती। इसलिए "प्रेक्षा ध्यान" को समझ कर उसका नियमित व निरन्तर अभ्यास करने से ही चाहा फल मिलता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि व्याधि का सम्बन्ध शरीर के साथ साथ मन से भी है और कर्मो से भी है। इसलिए कर्म-बन्धन का प्रश्न व्यक्ति के मानस को झकझोर सकता है। परन्तु इसका भी समाधान है। कर्मो को अपना प्रभाव दिखाने के लिए साधन की अपेक्षा होती है। निमित्त समाप्त हो जाय तो कर्मो मे फल देने की शक्ति स्वय समाप्त हो जाती है। प्रश्न उठता है, "क्या मनुष्य कर्मो को निजीर्ण करने वाली परि-स्थितियो को मिटा सकता है ?" हाँ, यह सम्भव है। अगर मनुष्य सत् पुरुषार्थ करे और अपनी मानसिक ग्रन्थियो को स्वस्थ रखे तो बन्धे हुए कम भी विफल हो जाते हैं। किसी भी दिशा मे सफलता व विफलता मनुष्य के केवल कर्मों पर ही निर्भर नही करती परन्तु क्षेत्र, काल, भाव, भव नियति, पुरुषार्थ व कर्म की युति पर निर्भर करती है। इसलिए व्यक्ति 'प्रेक्षा ध्यान" के निरन्तर व नियमित अभ्यास द्वारा व्याधि, आधि व उपाधि से मुक्त होकर समाधि का अनुभव करे। अनुभव का स्तर जब उन्नत होता है तो किसो के निर्देश व उपदेश की बात अपने आप मे गौण हो जाती है। उपरोक्त कथन भी निरन्तर व नियमित 'प्रेक्षा ध्यान' के अभ्यास का अनुभव है। इसमे कोई परम्परा की बात नही है।

समाधि की दिशा मे महर्षि पतजलि ने योग सूत्र मे जो विपद् व्याख्या की है उसे आत्मिक विकास के लिए सक्षिप्त मे

जानना लाभकारी है। योग सूत्र मे बताया गया है कि मनुष्य की चित्तवृत्तियो के निरोध का नाम ही 'योग'' है। भारतवर्ष मे योगाभ्यास का एक अनवरत क्रम चलता आ रहा है और समय पर योगी-महात्माओ ने चमत्कार भी दिखाये है। महर्षि मनु ने भी कहा है कि मनुष्य की प्रवृत्ति मास भक्षण, मद्य सेवन और सम्भोग मे है परन्तु इनकी निवृत्ति ही महाफलदायक है। यही निवृत्ति योग का एक मार्ग है। योग चार प्रकार के बताये गए है :—

१. मंत्र योग (सिद्धि महाभाव):—साधक मत्र गुनगुनाता है और भाव समाधि मे पहुँचता है, जहाँ अन्त मे मन्त्र का भी लोप हो जाता है और पीछे रह जाता है रोमाच एव समर्पण जन्य अश्रु।

२. हठ योग (सिद्धि महाबोद्ध) :— इसका ध्येय है मनुष्य को सामान्यत बहिर्मुखी वृत्ति को भीतर की ओर मोडना और इस प्रकार स्थूल देह की क्रिया - विशेष द्वारा चित्त को नियत्रित करना। इसके अन्तर्गत आसन, मुद्रा, बध तथा प्राणायाम आते है। इसका ध्येय ज्योति है, प्रकाश है।

३. लय योग (सिद्धि महालय) :— इसके विषय मे स्वामी शकराचार्यजी ने कहा है कि लय योग मे 'नादानुसन्धान' ही प्रधान है। प्रथम इस नाद को कृत्रिम उपाय से प्राप्त किया जाता है। मृदग खडताल के साथ नृत्य करते करते नाद आ सकता है। लय योग का ध्येय है बिन्दु जिसकी चमक सहस्र सूर्यो के तुल्य बतलाई गई है।

४. राज योग (सिद्धि ब्रह्म निवारण) :— इसे सर्व श्रेष्ठ बतलाया गया है। राज योग का नामान्तर है समाधि। पूर्वोक्त योग त्रय के अन्त मे साधक इस राज योग के अधिकारी हो जाते हैं।

प्राचीन समय मे ऋषियो ने वर्षो तक योगिक क्रियाओ का अनुसन्धान किया था और वे क्रियाएँ जहाँ एक ओर मनुष्य के शरीर का पूर्ण स्वरूप बनाए रखने मे सहायक होती है वहाँ अन्य रूप, जैसे प्राणायाम आदि जीवात्मा से अध्यात्मिकता के उच्चतम शिखर तक पहुँचाने मे मदद करती है। योग कोई धर्म नही है बल्कि एक विज्ञान है।

यहाँ योग सिद्धियो की कुछ प्राचीन चर्चा की गई है — कहा जाता है कि जगद्गुरु शकराचार्य को कामशास्त्र का कोई व्यावहारिक ज्ञान न था क्योकि यह पूर्ण ब्रह्मचारी थे। मन्डन मिश्र की पत्नी के साथ शास्त्रार्थ मे काम शास्त्र पर चर्चा करने के लिए उन्हे अपने शरीर से आत्मा को एक राजा के शरीर मे प्रवेश कराना पडा और काम शास्त्र का ज्ञान अर्जित करने के बाद वह पुन अपने शरीर मे लौट आए। क्या यह सम्भव है ? उस सम्भावना का उत्तर वर्तमान के पास तो नही है परन्तु जैन दर्शन मे पाँच शरीर का उल्लेख है इसमे एक आहारक शरीर है। चतुर्दश पूर्वधर मुनि आवश्यक कार्य उत्पन्न होने पर जो विशिष्ट पुद्गलो का शरीर बनाते है, वह इन्ही तरह का काम करता है।

योगी मौजी गिरी अठारह वर्ष तक चौबीसो घटे खडे रहे। ८५ वर्ष की आयु मे सन् १९८१ मे उनका देहान्त हुआ। मैसूर के योगी रामानन्द अपनी अ गुलियो को कैचो की तरह इस्तेमाल कर सकते थे।

इस तरह योग से चमत्कारिक सिद्धियाँ होती है परन्तु जैन दर्शन मे योग से आत्म – साक्षात्कार का लक्ष्य सिद्ध होना है। भगवान महावीर सोलह दिन रात खडे रहे। वे ध्यान की अनुभुति मे इतने लीन हो जाते कि उन्हे भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी का भान ही नही रहता। उनका लक्ष्य था "आत्म-साक्षात्कार" और वे वीतराग बन सर्व कर्म बन्धनो से मुक्त हो गये।

गीता मे समाधि की चर्चा इस क्रम से की गई है। इसको योग साधना के नाम से पुकारा गया है। योग साधना के आठ अ ग (सीढियाँ) बनाये गये है। वे निम्नलिखित है —

१ यम –सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सम्मिलित नाम है। इनका पालन करना।

२ नियम –पवित्रता, सतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणीधान मे एकाग्रचित्त रहना है।

३ आसन –चौरासी प्रकार के है परन्तु जिस आसन मे सुखपूर्वक अधिक देर तक बैठा जा सके, वही श्रेष्ठ है।

४ प्रत्याहार –इन्द्रियो को अपने बाह्य विषयो से खीच कर मन के वश मे करना।

५ प्रणायाम –श्वास-प्रश्वास गति की विशिष्ट विधी। इस पर हठयोग एव राजयोग ग्रन्थो मे विस्तृत विवेचन है।

६ धारणा –चित्त को अभीष्ट विषय पर जमाना।

७ ध्यान –किसी विषय का सम्पूर्ण यथार्थ चित्र सामने आना या उजागर होना।

८ समाधि —यह भी ध्यान मे न रहे, कि वह वस्तु के ध्यान मे मग्न है या पूर्ण अथवा शून्य समाधि है वह वास्तविक समाधि होती है ।

भाव व द्रव्य क्रिया

भाव क्रिया —चैतन्ययुक्त व चैतन्यपूर्ण व चैतन्यमय क्रिया । चैतन्य और शरीर दोनो साथ-साथ काम करते है । इस क्रिया का प्रथम रूप है वर्तमान मे जीना । जिस समय जो काम करे उसी मे मन लगा रहना – वर्तमान मे जीने की कला । हमारा वहुत सा समय अतीत मे बीतता है इसलिए हमे अनावश्यक चितन से बचना है । कल्पना के क्षेत्र मे उतना ही विचरणा है जितना आवश्यक हो । जो भी काम करना है उसे जागरूकता से करें, उसके परिणाम को जानते हुए करे । जो ध्येय या लक्ष्य बनाया उसको बराबर अपनी दृष्टि मे रखे । यह सब भाव क्रिया को प्रक्रिया है । हमारा ध्येय है कपायो को कम करना व चित्त को निर्मल बनाना । इसे सदा स्मृति मे रखे । ध्येय के प्रति सतत समर्पित रहना आवश्यक है । महर्षि चरक ने लिखा है, "तन्मना भु जीत" भोजन करते समय "मै भोजन कर रहा हू" केवल इसी की स्मृति रहे, अन्य कोई विकल्प न आए–यह हमारी भाव क्रिया है । जो व्यक्ति निरन्तर "ध्यान" का अभ्यास करता है वह कभी प्रमाद नही करता ऐसी बात नही है । परन्तु

सदर्भ —१ युवाचार्य महाप्रज्ञ- "व्याधि, आधि और समाधि" विज्ञप्ति दिनाक 3-४-७६

२ ब्रिजलाल उनियाल, "योग के करिश्मे" साप्ताहिक हिन्दुस्तान दिनाक २६-६-८२ से २-१०-८२

उसके साथ जागरूकता का एक अगरजक होना आवश्यक है ताकि वह उसे बार-बार सचेत करता रहे।

द्रव्य क्रिया —भाव शून्य गति, चेतन्य शून्य गति—वास्तविक नही। हम भोजन करते है और यदि हमारा मन अन्यत्र लगा रहता है तो यह द्रव्य क्रिया है। हमारे शरीर मे दो प्रकार के ततु होते है—एक ज्ञान ततु और दूसरा कर्म ततु। जब कभी कोई घटना घटित होती है तो पहिले वह शरीर मे घटित होती है और उसके बाद वह मन मे सक्रान्त होती है। जब भी ज्ञान ततु और कर्म ततु मे विरोध उत्पन्न हो जाता है तो मन अस्वस्थ हो जाता है। भाव क्रिया का अर्थ है ज्ञान व कर्म ततुओ मे एकरूपता पैदा करना। जब कभी भी भाव क्रिया आदमी से पृथक हो जाती है तो उस समय उसमे विकार का जन्म होता है, फलस्वरूप लाभ-अलाभ, सुख-दुख आदि द्वन्द्व समाज मे अनेक प्रकार की विकृतियाँ पैदा करता है। आज चारो ओर जो अनैतिकता दिखाई देती है उसका मूल स्रोत इस द्वन्द्व मे खोजा जा सकता है।

विकासमय भौतिकवादी दुनिया मे वास्तविक शान्ति कैसे मिले ?

जैन दर्शन मे कषायो के अल्पीकरण, कर्म-बन्धन से मुक्ति मोक्ष की प्राप्ति, अनन्त ज्ञान दर्शन चरित्र, वीर्य की प्राप्ति के अनेक साधन बताये गये हैं परन्तु प्रश्न उठता है क्या मनुष्य इस जीवन मे, इस विकासमय भौतिकवादी जगत मे रहता हुआ कर्म-बन्धन को रोक सकता है ? यह कार्य कुछ अर्थो मे बहुत आसान है, दूसरे अर्थो मे बहुत ही कठिन। यदि व्यक्ति अपने जीवन

के हर क्षेत्र मे सहज भाव से कार्य करता रहे, जैसा है वैसी ही सरलता से रहे, अपने कर्तव्य का निस्पृह भाव से पालन करे, अपने दायित्व को हर क्षेत्र मे विवेकपूर्ण निभाये तो पाप कर्मो का बन्धन अवश्य ही कम हो सकता है। पुराने कर्म निर्जर होगे और नए कर्मो का बन्धन रुकेगा या कम होगा।

एक राजनीतिज्ञ ज्यादा हेरा फेरी न करे, अपने पद, प्रतिष्ठा और कुर्सी का दुरुपयोग न करे, अपनी कथनी और करनी मे ज्यादा फासला न रखे। इसी तरह एक विद्यार्थी को भी विद्यार्थी की भाँति रहना चाहिये। उसका काम है अपने गुरु के प्रति आदर करना और विद्या ग्रहण करना न कि तोड फोड जैसे राष्ट्र विरोधी कार्यो मे भाग लेना। एक राजकीय अधिकारी भी अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक रह कर उचित आदेशो का पालन करे न कि स्वार्थवश अनुचित कार्य कर बैठे अन्यथा स्वय की स्वतन्त्रता समाप्त हो सकती है। व्यापारी वर्ग का भी लक्ष्य केवल धनवान बनना ही न हो बल्कि अपने उचित लाभ के साथ समाज के अन्य वर्गो का जो कमजोर हो या मध्यम वर्ग के हो उनको भी उचित लाभ पहुचे ऐसा चिन्तन करता रहे। स्वय को लाभ अवश्य हो परन्तु इतना अधिक न हो कि दूसरो का शोषण हो जाय। श्रमिक वग भी पूरा श्रम करके ही अपना पूरा प्रतिफल ले न कि बिना श्रम किये ही केवल अपनी मागो को दोहराता रहे, और उसी मे अपना समय नष्ट करता रहे।

स्वय भगवान महावीर ने जीवन निर्वाह के लिए धनार्जन को अशुभ नही माना बशर्ते कि वह न्यायोचित ढग से अर्जित किया गया हो। अनुचित रूप मे अनावश्यक धन सग्रह को उन्होने विषवत् माना है।

वित्तेण ताण न लभेपमत्ते, इमम्मि लोए अदुआ परत्था ।
दीवप्पणट्ठेव अणंत मोहे, न आहय दट्ठु मद्दट्ठुमेव ॥*

यो धन सचय से मनुष्य की रक्षा नही - "वित्तेण ताण न लाभ पमत्ते" । धन के पीछे दौडना जीवन को कटकाकीर्ण बनाना है । आज इसी कारण सुख-शाति मृग-मरीचिका बने हुए हैं । जहाँ इस प्रकार धन के प्रति लोभ-वृत्ति या लाभ-लोभ की भावना है, वहाँ अनिष्ट नही तो और क्या होगा ?

"लोभो मूलमनर्थानाम" यह लाभ-लोभ की कुवृत्ति का ही परिणाम है, जो जमाखोरी, तस्करी, वस्तुओ मे मिलावट के रूप मे समाज का अनर्थ कर रहा है, मानवता का गला घोट रहा है । कही किसी माँ की गोद सूनी हो रही है, तो कही कोई क्षुधातुर प्राण त्याग रहा है । खाने-पीने की दवाइयो मे मिलावट से क्या क्या गुल नही खिले । परिग्रह का दुर्दैत्य है जो सीमा अतिक्रमण करा, दो देशो मे रक्तरजित युद्ध का बीजारोपण करता है । शुद्धरूपेण अपार धन सग्रह नही किया जा सकता । नदी मे बाढ उस जल से नही आती, जो नदी के ऊपर बरसता है, वरन् उस जल से आती है जो नालो के गन्दे पानी के रूप मे उसमे आकर मिलता है ।

शुद्धधनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पद ।
न हि स्वच्छाम्बुभि पूर्णा कदाचिदपि सिन्धव ॥

तात्पर्य यह है कि समाज के हर व्यक्ति को कर्त्तव्य निष्ठ बनना आवश्यक है चाहे वह किसी वर्ग का हो, किसी जाति का

*उत्तराध्ययन सूत्र ४

हो। चाहे विद्यार्थी हो, चाहे अध्यापक हो, चाहे राजकीय अधिकारी, चाहे श्रमिक हो, चाहे व्यापारी हो चाहे और कुछ हो। इससे व्यक्ति को जीवन मे शान्ति मिलेगी, तृष्णा कम होगी, पापो का कर्म-बन्धन कम होगा और पूर्व सचित कर्मो का शनै शनै निर्जरण होता जायगा।

आज के भौतिक विकासमय दुनिया की चकाचौध मे जो विपमता समाज मे उभरी हुई है उसके प्रति भारत का बडे से बडा नागरिक भी चिंतित है और समय समय पर इस ओर जनता का ध्यान आकर्षित करता रहा है। इस सदर्भ मे भारत के छठे राष्ट्रपति श्री नीलम सजीव रेड्डी ने तुमकुरमट गाव मे ग्रामीण जनता को सम्बोधित करते हुए बहुत ही मार्मिक शब्दो मे कहा था, "भौतिक सम्पदा कुछ हद तक अवश्य अर्जित की जा सकी है परन्तु समाज मे जो विद्वेष है उसके प्रति उपेक्षा का भाव, समाज मे बीमारी व गरीबी आज भी व्याप्न है। उन्होने आगे कहा कि हम इस समय परिवर्तन के युग मे जी रहे हैं। उन्होने इस बात को बल देकर कहा कि युगो से भारतीय दार्शनिको ने, बुद्धिजीवियो ने और सुधारको ने इस बात की पुष्टि की है कि आत्मबोध के लक्ष्य की प्राप्ति का यह अर्थ कदापि नही है कि ससारिक गतिविधियो और समाज के प्रति व्यापक दायित्व व कर्त्तव्य से भी परे हट जॉय। इसलिए सभी धर्मो ने, धार्मिक सस्थाओ ने व पमुखो ने अपने आपको इन्सान के अध्यात्मिक व लौकिक दोनो पक्षो के उत्थान मे लगाया क्योकि वैज्ञानिक, तकनीकी व आर्थिक योजनाओ के प्रयोग से लोगो की मूलभूत दिक्कतें पूर्ण रूप से दूर करने मे अभी तक मदद नही मिली है।

सन १९८२ मे राजस्थान के सिरियारी गाँव मे तेरापथ धर्म

सघ के आद्याचार्य सत भिक्षु के १८० वे चरमोत्सव के अवसर पर भारत के वतमान व सातवे राष्ट्रपति महामहिम ज्ञानी जैलसिह ने कहा कि जितने भी महापुरुप हुए है उनका जीवन त्यागमय था। जो व्यक्ति जीवन मे त्याग को धारण कर चलते है वे ही मानव जाति की सेवा कर सकते है। जितने भी महापुरुप हुए हे उनका लक्ष्य लोगो मे इन्सानियत और इन्सान की रूहानी ताकत को बढाना ही रहा है। अगर आत्म-शक्ति नही बढती तो इन्सान आगे नही बढ सकता। उन्होने आगे कहा कि हम विज्ञान की सहायता से वही कार्य करेंगे जिससे मनुष्य को शान्ति मिल सके। मानव जाति के नाश के लिए हम विज्ञान के साधनो का इस्तेमाल नही करेगे। शान्ति स्थापित कर उसे कायम रखने के लिए भी ताकत की जरूरत होती है। अपनी ताकत को चाहे वह देश की हो या व्यक्ति की, बनाए रखना बहुत आवश्यक है। उन्होने आगे कहा कि जिस कौम मे दो चीजे – एक भावात्मक एकता और दूसरी आत्म-शक्ति विद्यमान हो वह कौम हमेशा आगे बढेगी। परमाणु की ताकत आत्मा की शक्ति की बराबरी नही कर सकती। हमे चाहिये कि हम अपनी आत्म-शक्ति या रूहानी ताकत को बढाएँ क्योकि यही बुनियादी ताकत है। यदि इन्सान अपनी रूहानी ताकत बढाने की ओर जागरूक होगा तो उसे कर्त्तव्यनिष्ठ बनना पडेगा। इस प्रकार हम देखते है कि कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति ही आगे बढ सकेगा। उसे ही जीवन मे सतोष मिलेगा, उसे ही जीवन मे वास्तविक शान्ति मिल सकेगी। उसमे तृष्णा घटेगी जिसके फलस्वरुप कर्म-बन्धन अपने आप कम होगे।

श्री आनन्दमयी माँ, जिन्होने हाल ही मे ८६ वर्ष की आयु मे इस भौतिक देह से विदा ली है और जिनके पास देश के माने

हुए दार्शनिक, विद्वान, साहित्यकार, राजनयिक आदि मार्ग-दर्शन हेतु व आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु जाते थे, के विचार भी जानने और मानने योग्य है। श्री आनन्दमयी माँ का यह स्पष्ट मत था कि यदि भारत की युवा पीढी पश्चिमी सस्कृति की दास बनती गई और अध्यात्मिक मूल्यो के उपयोग से विरत हो गई तो यह बात देश के लिए बहुत घातक सिद्ध होगी। उन्होने कहा था कि धर्म व अध्यात्मिक मूल्य की बपौती को सम्भाल रखना ही तो भारत की अपनी एक विशिष्टता है। इन्ही महान् तत्त्वो को निभाने के कारण ही भारत विश्व मे 'जगत-गुरु' कहलाता रहा है। मानव के नास्तिकता के विचारो के प्रहार से इन तत्त्वो को बचाने की आज नितान्त आवश्यकता है। तथा महान तत्त्वो की रक्षा का यह कार्यभार सभी धर्माचार्यो, विद्वानो तथा सन्त महात्माओ को स्वय पर लेना होगा। डॉ राधाकृष्णन, डॉ. सम्पूर्णानन्द जैसे मनीषियो ने भी इस बात पर गहरा असतोष व्यक्त किया था कि हमारा चिन्तन भारतीय विचारधारा, भारतीय सस्कृति, दर्शन एव धर्म पर आधारित न होकर पश्चिमी देशो से आयात दर्शन पर होता है। यह दुर्भाग्य पूर्ण है कि हम शिक्षा व दर्शन के समान ही मनोवैज्ञानिक क्षेत्र मे भी पश्चिमी देशो का अन्धानुकरण कर रहे हैं। उनके अनुसार पश्चिम का मनोविज्ञान अधूरा है और वह अभी तक मानव विकास की उन गहराइयो तक नही पहुँच पाया है जहाँ हमारे शास्त्र एव पातञ्जल योग दर्शन पहुँच गये है।

इस प्रकार हम देखते है कि यदि वास्तविक शाति प्राप्त करनी है तो हमे अपने भीतर ही उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना होगा—बाह्य भौतिक साधनो की चकाचौंध द्वारा नही।

समस्त विनाशशीलो मे अविनाशीतत्त्व- "वितश्यत्सु अवि- नश्यन्त" का स्वर्णसूत्र हाथ लग जाने पर मानव विश्व कल्याण की कामना से ओतप्रोत होकर इसका उद्घोष करता है—

सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामय,
सर्वे भद्राणि पश्यतु मा कश्चिद्दु खताग् भवेत् ।
दुर्जन सज्जनो भूयात् सज्जन शान्तिमाप्नुयात्,
शान्त मुच्येत् बधेभ्यो, मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत् ।

ससार मे सभी जीव जन्तु, कीट पतग, स्थावर जगम सुखी हो, सभी निरामय हो, सभी कल्याणकारी मगल दृष्टि सम्पन्न हो, किसी को भी किसी प्रकार का दुख न हो। दुर्जनता मे सज्जनता आ जाय, सज्जनो को शान्ति प्राप्त हो, जो शान्त हैं वे बधनो से मुक्त हो जाएँ और जो मुक्त हैं वे मायाबद्ध जीवो को मुक्त करे।

सदर्भ,—१ भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री सजीव रेड्डी, भाषण, राजस्थान पत्रिका, दिनाक २४-५-८२

२ राष्ट्रपति श्री ज्ञानी जैलसिंह द्वारा सिरियारी गाय में दिनाक १-६-८२ को दिया गया भाषण

३ श्री आनन्दमयी माँ का जीवन, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १६ से २५-६-८२

४ डा भुवनेश्वर मिश्र, "धर्म का वास्तविक स्वरुप," मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रथ, पृष्ठ ४२६

शुद्ध परिणाम की प्राप्ति शुभ कर्म के माध्यम से ही सम्भव है। अत हमारा दैनिक उपयोग मनसा वाचा व कर्मणा शुभमय हो और इस दृष्टि से शुभ चिन्तन, शुभ प्रार्थना तथा शुभ मनन अपेक्षित है।—

आत्म-चिन्तन

अध्यात्मिक.—प्रभात मे आत्म-चिन्तन, सामायिक साधना, सन्तदर्शन व अध्यात्मिक भावना की या नही ? सामायिक साधना आदि मे मन को स्थिर रखा या नही ? तात्विक अध्ययन और पठन के लिए कुछ समय दिया या नही ? श्रावक की दृष्टि से दैनिक चौदह नियमो का चिन्तन किया या नही ?

भौतिकः—भौतिक सुखो से आसक्त होकर आत्मोन्नति के प्रमुख लक्ष्य को भूले तो नही ? अपने मुँह से अपनी बडाई तो नही की ? किसी का झूठा पक्ष लेकर विवाद तो नही फैलाया और किसी को अपमानित करने की कोशिश तो नही की ? किसी की निन्दा तो नही की ? भोजन के समय सुदान की भावना की या नही ? दान ज्ञान बूझकर अशुद्ध तो नही दिया ? किसी की उन्नति व ऐश्वर्य को देखकर ईर्ष्या तो नही की ? दूसरो की बरोबरी करने के लिए नैतिक जीवन से गिराने वाले कर्म तो नही किये ? अविनय, भूल या-अपराध हो जाने पर क्षमा याचना की या नही ? झूठ बोल कर अपना दोष छिपाने की कोशिश तो नही की ? किसी की वस्तु तो नही चुराई ? पर स्त्री को या पर पुरुष को पाप-दृष्टि से तो नही देखा ? धन पाने के लिए कोई विश्वासघात आदि अमानवोचित कार्य तो नही किया ? मद्यपान, भाँग गाजा, तम्बाखु आदि नशीली वस्तुओ का प्रयोग तो नही किया ? अपने विचारो से सहमत नही होने वालो से द्वेष तो नही किया ?

किसी भी अनैतिक व अप्रिय कामो मे भाग तो नही लिया ? किसी के साथ व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से कोई षडयन्त्र या पाखण्ड तो नही रचा जो देश, समाज या वर्ग की अशान्ति के साथ स्वय के लिए आत्म-ग्लानि का कार्य हो ? किसी भी राष्ट्रीय सम्पत्ति को जानबूझकर क्षति तो नही पहुचाई ?

लौकिक:—विधवा स्त्री आदि को अपशुकत मानकर उसका दिल तो नही दुखाया ? विवाह, भोज आदि मे परिग्रह की अति भावना तो नही की ? बडे बूढो की अवहेलना या उनके साथ अविनय तो नही किया ? अपने माता पिता आदि पूज्यजनो के सम्मान मे कोई अविनय तो नही किया ?

नारी समाज:—आभूषण आदि बनवाने के लिए पति को बाध्य तो नही किया ? सास, ननद, जेठाणी, देवराणी आदि पारिवारिक स्वजनो के साथ ईर्ष्या व कलह तो नहा किया ? बालक बालिकाओ को कहना न मानने पर निदयता से पीटा तो नही ?
बनाव – शृगार व विषय वासनाओ मे आसक्ति व समय का अपव्यय तो नही किया ? शोर, गुल, झगडा एव सावद्य बातें करके धर्म स्थान एव सार्वजनिक स्थानो की शान्ति, नियम एव मर्यादा को भङ्ग तो नही किया ? दिन भर मे कौन से अनुचित, अप्रिय एव अवगुण पैदा करने वाले कार्य किये और कौन सी सुशिक्षा ग्रहण की ?

सदर्भ "आचार्य तुलसी"– आत्म चिन्तन के बोल

परमेष्ठी वन्दना

लय ले नये निर्माण का व्रत

वन्दना आनन्द-पुलकित, विनय-नत हो मैं करू ।
एक लय हो, एक रस हो, भाव-तन्मयता वरू ।।
सहज निज आलोक से भासित स्वय सम्बुद्ध है,
धर्म-तीर्थंकर शुभकर वीतराग विशुद्ध है ।
गति प्रतिष्ठा त्राणदाता आवरण से मुक्त है,
देव अर्हन् दिव्य-योगज-अतिशयो से युक्त है ।।१।।
बन्धनो की शृ खला से मुक्त शक्ति-स्रोत है,
सहज निर्मल आत्म-लय मे सतत ओत प्रोत है ।
दग्ध कर भव-बीज-अ कुर अरुज अज अविकार है
सिद्ध परमात्मा परम ईश्वर अपुनरवतार है ।।२।।
अमलतम आचारधारा मे स्वय निष्णात है,
दीप सम शत दीप दीपन के लिए प्रख्यात है ।
धर्म-शासन के धुरधर धीर धर्माचार्य है,
प्रथम पद के प्रवर प्रतिनिधि प्रगति मे अनिवार्य है ।।३।।
द्वादशाङ्गी के प्रवक्ता ज्ञान-गरिमा-पु ज है,
साधना के शांत उपवन मे सुरम्य निकुंज है ।
सूत्र के स्वाध्याय मे सलग्न रहते हैं सदा,
उपाध्याय महान् श्रुतधर धर्म-शासन-सम्पदा ।।४।।
लाभ और अलाभ मे सुख-दु ख मे मध्यस्थ है,
शान्तिमय वैराग्यमय आनन्दमय आत्मस्थ है ।
वासना से विरत आकृति सहज परम प्रसन्न है,
साधना-धन साधु अन्तर्भाव मे आसन्न है ।।५।।

वन्दना

लय सघ अपना अब बने

भावभीनी वदना भगवान-चरणो मे चढाए ।
शुद्ध ज्योतिर्मय निरामय रूप अपने आप पाए ॥
ज्ञान से निज को निहारे, दृष्टि से निज को निखारें ।
आचरण की उर्वरा मे, लक्ष्य - तरुवर लहलहाए ॥१॥
सत्य मे आस्था अचल हो, चित्त सशय से न चल हो ।
सिद्ध कर आत्मानुशासन, विजय का सगान गाए ॥२॥
बिन्दु भी हम सिन्धु भी है, भक्त भी भगवान भी है ।
छिन्न कर सब ग्रन्थियो को, सुप्त मानस को जगाए ॥३॥
धर्म है समता हमारा, कर्म समतामय हमारा ।
साम्य-योगी बन हृदय मे, स्रोत समता का बहाए ॥४॥

महावीर प्रार्थना

लय दया दान का डका भारत मे

महावीर तुम्हारे चरणो मे, श्रद्धा के कुसुम चढाए हम ।
ऊँचे आदर्शो को अपना, जीवन की ज्योति जगाए हम ॥
तप सयममय शुभ-साधन से, आराध्य-चरण आराधन से ।
बन मुक्त विकारो से सहसा, अब आत्म-विजय कर पाए हम ॥१॥
दृढ निष्ठा नियम निभाने मे, हो प्राण-बलि प्रण पाने मे ।
मजबूत मनोबल हो ऐसा, कायरता कभी न लाए हम ॥२॥
यश-लोलुपता पद लोलुपता, न सताए कभी विकार-व्यथा ।
निष्काम स्व-पर कल्याण काम, जीवन अर्पण कर पाए हम ॥३॥
गुरुदेव-शरण मे लीन रहे, निर्भीक धर्म की बात कहे ।
अविचल दिल सत्य, अहिसा का, दुनिया को सुपथ दिखाए हम ॥४॥
प्राणी-प्राणी सह मैत्री हो, ईर्ष्या, मत्सर, अभिमान न हो,
कहनी-करनी इकसार बना 'तुलसी' तेरा पथ पाए हम ॥५॥

शिक्षा गीत

चेतो चेतो प्राणिया, मति राचो रे रमणी रे संग के सेवो रे जिनवाणी।
सुर तरु नो परे दोहिलो रे लाधो नर अवतार।
अहिल जनम किम हारिये, काई कीज्यो रे मन माहि विचार के।चेतो।
पहली तो समकित सेविये रे, जे छै धर्म नो मूल।
संजम समकित बाहिरो, जिन भाख्यो रे तुम खडवा तुल्य के।चेतो।
अरिहन्त देव आराध ज्यो रे, गुरु गिरवा शुद्ध साध।
धर्म जिनेश्वर भाषियो, ए समकित सुर तरु सम साध के।चेतो।
तहत करीने शरध ज्यो रे, जे भाख्यो जगनाथ।
पाचो ही आस्रव परिहरो, जिम मिलिये रे शिवपुर नो साथ के।चेतो।
जीव वछै सर्व जीवणो रे, मरण न बछे कोय।
आप समू कर लेखवो, त्रस थावर रे हणज्यो मत कोय के।चेतो।
अपजश अकीर्ति इण भवै रे परभव दु ख अनेक।
कूड कहितां पामिये कांई प्राणी रे मन माहि विवेक के।चेतो।
चोरी लेवै कोई पर तिणो रे, तिण थी लागे छै पाप।
तो धन कचन किम चोरिये, तेथी बाधै रे भव भव मे सताप के।चेतो।
महिला सगे दूहव्या रे, नव लख सन्नी उपजन्त।
क्षणेक सुख रै कारणे किम कीजे रे हिंसा मतिवत के।चेतो।
पुत्र कलत्र घर हाट नो रे, ममता मत कीजो फोक।
जेह परिग्रह माहि छे, ते तो छाडी रे गया बहुला लोक के।चेतो।
अल्प दिवस नो पाहुणो रे, सहुको इण ससार।
इक दिन ऊठी जावणो, कुण जाणै रे किण ही अवतार के।चेतो।
व्याधि ज्या लग नही रे, तहाँ लग धर्म सभाल।
धारा सजल घन बरसता कुण समरथ बाधेवा पालके।चेतो।
अ जली नां जलनी परै रे, क्षण क्षण छीजे छे आव।
जावै ते नही बाहुडै, जरा घालै रे जीवन मे घाव के।चेतो।

मात पिता बन्धव बहूरे, पुत्र कलत्र परिवार ।
स्वारथ लग सहुको सगा, कोई परभव नहिं राखण हार के ।चेनो।
क्रोध मान माया तजो रे, लोभ न करजो लिगार ।
समता रस पूरो रहा, बले दोहिलो रे मानव अवतार के ।चेनो।
आरम्भ छोडो आतमा रे, पीवो सजम रस पूर ।
शिव रमणी वेग वरो, इम भाखै रे विजय देव सूर के ।चेतो।

— * —

(साध्वीं साधना श्री द्वारा) लय जाने वो कैसे लोक

प्रभुवर मुझको पथ दिखलाओ आत्मा बने महान ।
इधर उधर कही भटक न जाऊँ पाऊँ पथ आसान ।।
मन इच्छित जब कार्य न होता, क्रोध उबल आता ।
नयनो मे लाली छाती, झट खून उफन आता ।
किस विध बढूँ साधना पथ पर, सहज बनूँ भगवान ।।इधर उधर।।
उन्नति सुनता जब मेरा मन फूला रहता ।
न जाने क्या रोग लगा है अवनति नही सहता ।
सम रहना सिखलाओ जीवन मे दो यह वरदान ।।इधर उधर।।
नयनो मे क्या दोष भरा है अवगुण पर जाता ध्यान ।
आता प्रश्न गुणो का जब होता नही सम्मान ।
विमल भाव भर दो नयनो मे साधक बनू महान ।।इधर उधर।।
अहो वासना का दानव मन को करता झकझोर ।
ज्यो रोकू त्यो आगे बढती यह चचल मन की डोर ।
योग्य समझकर करू नियन्त्रण, यह जीवन की शान ।।इधर उधर।।
जब होकर ध्यानस्थ कही पर बैठू आसन धार ।
लक्ष्य भूल कर कही भटक मैं ज्याऊ उठते व्यर्थ विचार ।
निरालम्ब बन जाए मानस इसका क्या विधान ।।इधर उधर।।
इधर उधर कही भटक न जाऊ पाऊ पथ आसान ।
प्रभुवर मुझको पथ दिखलाओ आत्मा बने महान ।।

शुभ मनन

जीव के जन्म–मरण एव विभिन्न गतियो मे परिभ्रमण का कारण कर्मो का बन्धन ही है। आत्मा और कर्म का अनन्य सम्बन्ध अनादि काल से चला आरहा है। मानव के जीवन का मुख्य लक्ष्य है आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त कर स्वय की आत्मानुभूति करना। इसके लिए आत्मा की स्थिति, उसकी प्रकृति, कर्मो की स्थिति और उनकी प्रकृतिया आदि तथ्यो का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इस तरह का उचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को स्वय के पूर्व सचित कुसस्कारो से मुक्ति पाना आवश्यक है। जैसे जैसे ये कुसस्कार नष्ट होते जायेगे वैसे वैसे व्यक्ति बाह्यमुखी न रहकर अन्तर्मुखी होने लगेगा। यही से आरम्भ होती है आत्म–ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया।

भारतीय दार्शनिको ने कई महत्वपूर्ण अनुसधान किये हैं। उनमे सबसे महत्वपूर्ण अनुसधान था आत्मा और कर्म का अनुसधान। आत्मा की खोज ने चैतन्य जगत मे क्रान्ति पैदा कर दी। उचित शब्दो मे यह अध्यात्म के आधार की खोज थी। चैतन्य की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव जिस दिन हुआ, वह दिन बहुत बडी उपलब्धि का दिन था। उस दिन तत्व का अनुभव किया गया, जो अज्ञात था, अमूर्त्त था जिसको केवल दिव्य चक्षु से ही देखा जा सकता था। उस दिन आत्म-तत्त्व की स्थापना हुई, चैतन्य की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हुई। दूसरी महत्वपूर्व खोज है कर्म और उसका आत्मा के साथ सम्बन्ध। इस दिशा की खोज ने बहुत बडे सत्य को उजागर किया। इन दोनो तत्त्वो का अनुसधान अध्यात्म के आधार भूत तत्त्वो का अनुसधात था।

अध्यात्मिकता के मूलभूत आधार दो हैं – आत्मा और कर्म।

यदि हम आत्मा और कर्म को अध्यात्म जगत से हटा दे तो अध्यात्म आधार शून्य हो जाता है। अध्यात्म की समूची योजना, समूची परिकल्पना और समूची व्यवस्था का उद्देश्य है आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त करना। यदि आत्मा नही है तो कर्मो से किसको मुक्त किया जाय ? यदि कर्म नही है तो आत्मा को किससे मुक्त किया जाय ? कोई व्यवस्था ही नही वनती। "आत्मा को कर्म बन्धन से मुक्त करना है" इस वाक्य मे समूची अध्यात्मिकता समा जाती है।

जैन दर्शन मे कर्मवाद अपना अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जब तक जीव मे इन कर्मो की विद्यमानता रहती है तव तक मोक्ष नही मिलता। एक वार कर्म क्षय होने पर जीव का ससार मे फिर जन्म लेना शेष नही रह जाता। कर्म बीज के दग्ध होने पर भव वीज अकुरित नही हो सकता। इस स्थिति का चित्रण आचार्य जीतमलजी ने राजस्थानी भाषा मे इस तरह किया है –

दग्ध बीज जिम तरु तणा, अकुर प्रकट न होय हो।
तिम स्वामी, तिम स्वामी, कम बीज दाझवे, भव अकुर प्रकट हुवै नही।
तिण स्यू अरहत कहिये सोय हो ।।

कर्मवाद का सिद्धान्त इस वात की पुष्टि करता है कि जैसा कर्म हम करेगे वैसा फल हमे प्राप्त होगा। कर्मवादी ही आत्मवादी और लोकवादी होता है। भगवान महावीर आत्मवादी थे, कर्मवादी थे, लोकवादी थे। कर्मभाव के द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास कर, आत्मा का सस्कार कर ब्रह्मरूप हो जाता है। महावीर ने ईश्वर को भले ही नकारा हो, ईश्वरत्व को नही नकारा। मनुष्य को अपनी करणी का फल स्वय के कर्मो द्वारा मिलता है, ईश्वरेच्छा द्वारा नही। इस तरह कर्मवाद की प्रतिष्ठा

कर महावीर ने मानवता का महान उपकार किया ।

एक समय था जब महावीर पूर्णतया आत्म-साधना मे लगे थे। परन्तु जब उनकी साधना पूर्ण हुई तो उन्होने लोक व्यवहार मे अथवा जन कल्याण मे अपना जीवन लगाया । वे जितने गहरे अध्यात्मवादी थे उतने ही गहरे वे समाजवादी भी थे। शूद्रो से घृणा, श्रमिको का शोषण, दास को प्रताडना, स्त्री जाति का अपमान भोग सामग्रियो का असीम सग्रह आदि ये सब तत्कालीन समाज व्यवस्था के भयकर दोष थे जिन्हे दूर करने के लिए ज्ञात-पुत्र महावीर ने अथक श्रम किया अहिसा और अपरिग्रह का आयाम विस्तृत किया । समाज व्यवस्था की भाति राज्य व्यवस्था भी अत्यन्त दोषपूर्ण थी। उस ओर भी महावीर ने ध्यान दिया बल्कि विरोध भी किया और शान्तिपूर्ण और सहज ढग से सुलझाने का प्रयत्न किया। दहेज प्रथा, उसके कारण बहुओ पर हो रहे अत्याचार, खाद्य पदार्थो मे मिलावट, काला बाजारी आदि आज भी समाज मे व्याप्त हैं। इन दोषो को दूर करने के लिए राज्य व केन्द्र सरकार प्रयत्नशील है। पत्रकार समाचार पत्रो द्वारा उसका विरोध करते है और धर्माचार्य अपने उपदेशो द्वारा इन व्यक्तिगत दोषो को दूर करने के लिए अत्यन्त प्रयत्नशील हैं फिर भी समाज के हर व्यक्ति का इस ओर जाग्रत होना आवश्यक है तब ही ये दोष दूर हो सकेंगे ।

शरीर की नश्वरता, आत्मा की अमरता कर्मफल की सुनिश्चितता तथा परलोक और पुनर्जन्म की सम्भावना ये चार ऐसे सिद्धान्त हैं जो धार्मिक और अध्यात्मिक क्षेत्र की सभी शाखाओ मे किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहते है। करीब करीब सभी धर्मो की यही मान्यता है कि प्राणी के जीव का अस्तित्व

उसकी मृत्यु के पश्चात् भी किसी न किसी रूप मे बना ही रहता है। कम सम्बन्धी तथ्यो को भले ही नैतिक दृष्टिकोण से न समझा गया हो, भले ही उसके प्रभाव को सम्प्रदायिक विश्वासो की परिधि मे सकुचित रखा गया हो तो भी व्यक्ति को अपने कर्मो का फल तो उनके विपाक मे आने पर अवश्य मिलता है। यद्यपि सिद्धान्त सम्बन्धी छोटे मोटे भेद सभी सम्प्रदायो मे पाये जाते है फिर भी ऊपर वर्णित चार मूल सिद्धान्तो मे आज भी सामान्यतया सहमति पाई जाती है। प्रत्येक धर्माधिकारी अपने अनुयायियो को जीवन मे किसी न किसी रूप मे सत्कर्म करने की सक्रिय प्रेरणा देता है ताकि वे अपनी आत्मा का विकास करने का प्रयास करते रहे।

सदर्भ – युवाचार्य महाप्रज्ञ, "मन के जीते जीत"
डा निजामउद्दीन, "भगवान महावीर के मूल सिद्धान्त"

परिशिष्ट

नमस्कार मन्त्र पर विवेचन —

अर्हंतो को नमस्कार	Obeisance to the Arhats
सिद्धो को नमस्कार	Obeisance to the Siddhas
आचार्यो को नमस्कार	Obeisance to the Acharyas
उपाध्यायो, साधुओ को नमस्कार	Obeisance to all Sadhus(Saints)

यह पच-परमेष्ठि-नमस्कार सम्पूर्ण पाप-कर्मो का नाश करता करने वाला और सर्व मगलो मे प्रथम (सर्वश्रेष्ठ) मगल है।

This five fold obeisance destroys all sins and is the foremost of all that is auspicious

णमोकार मत्र से कैसे पाप नष्ट हो जायेगे ? यह एक प्रश्न है। णमोकार मत्र से सीधा पाप नष्ट नही होता, लेकिन इस मत्र के जप से हमारे आसपास की विद्युत-शक्ति (Electro- dynamic field) रुपान्तरित होती है और पाप करना असम्भव हो जाता है क्यो कि पाप करने के लिए हमारे पास एक खास तरह का आभामडल चाहिये। एक चोर या हत्यारा यह मत्र पढ लेगा तो क्या पाप नष्ट हो जाए गे ? पाप करने के पहले एक विशेष तरह का आभामडल चाहिये। उसके बिना व्यक्ति पाप नही कर सकता। यह आभा मडल अगर रूपान्तरित हो जाए तो पाप करना असभव हो जाएगा। इसलिए नमस्कार मत्र का जाप करने से आभामण्डल रुपान्तरित हो जाता है और पाप करने का विचार ही नही आता।

उपयुक्त महामत्र को इस पुस्तक के प्रारम्भ मे दिया गया है जैसा कि सामान्यतया धार्मिक ग्रथो के आदि मे महामत्र देने की

पद्धति है। इस मन्त्र के द्वारा मोक्ष पथ की साधना करने वालो की स्तुति व स्मृति होती है। यह पुस्तक कर्म-सिद्धान्त पर प्रकाश डालती है और यह मत्र कर्म क्षय करने का अचूक साधन है इसलिये उपयोगी है।

नमस्कार मत्र कामना या इच्छा पूर्ति का मत्र ही नही है। यह महामत्र इसलिए है कि इससे इच्छा की पूर्ति ही नही होती किन्तु इच्छा का स्रोत ही सूख जाता है। जहा सभी इच्छाऐ समाप्त, सारी कामनाऐ समाप्त, जहा व्यक्ति निरीह और निष्काम बन जाता है और कामना के धरातल से ऊपर उठ जाता है, वहा उसका अर्हंत स्वरूप जग जाता है। यही नमस्कार मत्र जपने का प्रयोजन होना चाहिये और इसीलिए यह केवल मत्र ही नही, महामत्र है। जिस व्यक्ति को आत्म-जागरण उपलब्ध हो जाता है उसे सब कुछ मिल गया, कुछ भी मिलने को शेष नही रहा।

नमस्कार मत्र के आधार पर जप और ध्यान की अनेक पद्धतिया प्रचलित हैं। तथा इस महामत्र की साधता करने से सकल्प शक्ति और मन की शक्ति विकसित होती है। इसकी साधना से सुप्त प्राण शक्ति भी जाग्रत होती है। इस महामत्र का जाप उर्जस्विता भी बढाता है।

इस महामत्र के प्रयोग की दो दिशाऐ हो जाती है– एक सिद्धि प्राप्त करने की और दूसरी व्यक्ति के आतरिक मनोदशा के परिवर्तन को। शरीर के तैजस शक्ति का विकास होने पर वचन सिद्धि, रोग निवारण सिद्धि और इस प्रकार की अनेक सिद्धिया प्राप्त होती हैं जो बाह्य लौकिक कष्टो का निवारण करती हैं और भौतिक उपलब्धिया भी प्राप्त होती हैं। यदि इस महामत्र का उपयोग व्यक्ति को अन्तर्मुखी होने हेतु और कषायो को अल्प करने हेतु किया जाय तो व्यक्ति का आतरिक व्यक्तित्व सम्यक्त्व दिशा की ओर बढने लगता है और पूरा होता है।

मगल सूत्र पर विवेचन —

यह मगल सूत्र जैन परम्परा मे सबसे अधिक प्रचलित मगल सूत्र है। प्रत्येक शुभ प्रवृत्ति के आरम्भ मे इस मगल सूत्र का उच्चारण और ध्यान किया जाता है। चार मगल है– अर्हत्, सिद्ध, आचाय व साधु और धर्म। अर्हत्, सिद्ध और साधु नमस्कार मत्र मे है और धर्म इसमे और जुड गया। वास्तव मे धर्म ही मगल होता है। अर्हत् इसलिए मगल है कि वे स्वय धर्म बन जाते है। सिद्ध इसलिए मगल है कि वे धर्म को साधना करते करते धर्म को स्वभाव मे बदल देते है। साधु इसलिए मगल है कि वे धर्म को साधना करते है। वास्तव मे एक ही मगल है–धर्म। धर्म ही शरण है, दीप है, आधार है गति है, सब कुछ धर्म है। कुछ पदार्थो को मगल माना जाता है और वे कुछ मगलमय वातावरण का निर्माण भी करते है। कि तु जब हम सूक्ष्म जगत मे प्रवेश कर स्थिति का विश्लेषण करते है तो पता चलता है कि धर्म के सिवाय कोई तत्त्व मगल नही है। प्रश्न उठता है कौनसा धर्म ? क्या जैन धर्म को मगल माने या और किसी ओर को ? उत्तर है निग्रन्थ धर्म यानि निग्रन्थो का धर्म अर्थात उन लोगो का धर्म, जिसके कोई ग्रन्थ नही है, कोई परिग्रह नही है, कोई गाठ नही है, कोई उलझन नही है। इसका अर्थ होता है आत्मा का धर्म, आत्मा का स्वभाव, सामायिक धर्म, श्रमण धर्म, अर्हत् धर्म, समता धर्म– ये सब एक ही है। सामायिक वह है जिसके जीवन मे आन्तरिक एव बाह्य साम्य हो।

सदर्भ – मुनि दिनकर, मगल वाणी
युवाचार्य महाप्रज्ञ, 'ऐसो पच णमोक्कारो''
श्री देवेन्द्रराज मेहता, 'कल्प सूत्र''
आचाय श्री रजनीश, ''महावीर मेरी दृष्टि में'

२२	३	९	१५	१६
१४	२०	२१	२	८
१	७	१३	१९	२५
१८	२४	५	६	१२
१०	११	१७	२३	४

चतुर्विंशति स्तव लोगस्स के पाठ पर पैंसठिया यन्त्र और छंद

श्री नेमीश्वर, सम्भव, स्वाम, सुविधि, धर्म, शान्ति अभिराम ।
अनन्त, सुव्रत, नमिनाथ सुजान, श्री जिनवर मुझ करो कल्याण ।१।
अजितनाथ चन्दाप्रभु धीर, आदिश्वर, सुपार्श्व गम्भीर ।
विमलनाथ, विमल यश मान, श्री जिनवर मुझ करो कल्याण ।२।
मल्लिनाथ जिन मगल रूप, धनुष पचीसी सुन्दर स्वरूप ।
श्री अरनाथ प्रणमू वर्द्धमान, श्री जिनवर मुझ करो कल्याण ।३।
सुमति, पद्मप्रभू अवतन्स, वासुपूज्य शीतल श्रेयास ।
कुथु पार्श्व अभिनन्दन जान, श्री जिनवर मुझ करो कल्याण ।४।
इण परे श्री जिनवर सम्भारिये, दुख दारिद्र विघ्न निवारिये ।
पच्चीसे पैंसठ परिमाण, श्री जिनवर मुझ करो कल्याण ।५।
इण भणता दुख न आवे कदा, जो निज पासे राखे सदा ।
धरिये पच तणो मन ध्यान, श्री जिनवर मुझ करो कल्याण ।६।
श्री जिनवर नामे वछित मिले, मन वछित सहु आशा फले ।
धर्मसिह मुनिवर भाव प्रधान, श्री जिनवर मुझ करो कल्याण ।७।